नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त

(संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण)

ग्रन्थमाला संख्या–13

नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त

(संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण)

लेखक

डॉ. श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना

अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

दर्शन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशकीय

सम्पूर्ण सृष्टि में मनुष्य इन अर्थों में अन्य जीवों से भिन्न है क्योंकि वह चिन्तन और विचार की क्षमता रखता है, निरन्तर इनका उपयोग करता रहा है और आज तक की सम्पूर्ण प्रगति के मूल में उसकी इस विशिष्टता की प्रमुख भूमिका रही है। उसने जबसे होश सँभाला, न केवल स्थूल जीवन–यापन के विभिन्न आयामों बल्कि अपने अस्तित्व के आदि और अंत, उसकी नियामक शक्तियों से संदर्भित विचारों के अंतहीन सिलसिले से भी जुड़ा रहा है। उसकी यह बहुआयामी चिंतन–प्रक्रिया आज भी जारी है। इसे व्यवस्थित स्वरूप देने और अलग–अलग क्षेत्रों में रख कर सम्बंधित चिंतन को अनन्य ऊँचाइयाँ देने व वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालने का कार्य मूलतः दर्शन के क्षेत्र में हुआ है। इसी की एक धारा नीति विज्ञान है, जिस पर यह पुस्तक केन्द्रित है।

नीति विज्ञान का सम्बन्ध जीवन के नैतिक–अनैतिक पक्षों से है और यह एक सच्चाई है कि हमारा जीवन व समाज अधिकांश संदर्भों में इनसे ही निर्देशित है। इसे अपने क्षेत्र की समुचित व्याख्या के लिए प्रायः दर्शन से सहयोग लेना होता है। यह धारा मूल्यात्मक चेतना को व्यक्त करने वाले स्वरूपों से सम्बद्ध है। अपने क्षेत्र के अनुसंधान के लिए नीति विज्ञान जिस विशिष्ट पद्धति को स्वीकार करता है, उसे अतीन्द्रिय–विमर्श के रूप में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस परम्परा के अन्तर्गत चिंतन की भरी–पूरी परम्परा है और इनके अध्ययन की नींव पर ही नीति विज्ञान का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ है। वह स्वरूप, जिसके अन्तर्गत इसका कार्य मानवीय आचार–व्यवहार के नैतिक/अनैतिक पक्ष से सम्बंधित विश्वासों एवं विचारों का अध्ययन और उन्हें श्रृंखलाबद्ध करना है।

स्पष्ट है कि नीति विज्ञान का, दर्शन एवं विचार के क्षेत्र में अपना महत्त्व है और इसके विभिन्न आयामों को समेटती यह पुस्तक अपनी उपादेयता स्वयं सिद्ध करती है। इसकी प्रस्तावना में एक ओर जहाँ नीति विज्ञान का सविस्तार तथ्यपरक परिचय दिया गया है, वहीं दूसरी ओर अस्तित्ववादी चिंतन में नैतिक कसौटियों पर भी गम्भीर जानकारी दी गयी है। पुस्तक में एक परिशिष्ट जोड़कर नीतिशास्त्र सम्बन्धी नवीनतम चिन्तन–क्षेत्रों और कामू तथा सात्र जैसे चर्चित विचारकों का परिचय भी दिया गया है, जिसका आज के प्रतियोगी दौर में अपना

महत्त्व है। दर्शन, नीतिशास्त्र और व्यापक अर्थों में बौद्धिक जगत में जिस तरह इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का स्वागत हुआ, उससे भी यह आधारभूत सच्चाई सामने आती है। यह पुस्तक एक साथ उच्च शिक्षा व शोध से जुड़े छात्रों और बौद्धिक क्षेत्र के सम्बंधित मनीषियों आदि सभी के लिए उपादेय है। आशा है, सम्बंधित क्षेत्र में पुस्तक के इस पुनः प्रकाशन का भी यथोचित स्वागत होगा।

प्रभात कुमार मिश्र
निदेशक

निवेदन

मनुष्य की अब तक की प्रगति का मूलाधार है—असाधारण चिंतन–क्षमता। इसका सदुपयोग उसने अत्यंत व्यापक स्तर पर किया है और आज जो कुछ भी हमारी उपलब्धियाँ हैं, चिंतन प्रक्रिया के अभाव में उनकी कल्पना भी असंभव थी। मानवीय चेतना प्रायः दो विशिष्ट रूपों—मूल्यात्मक और अनुसंधानात्मक में अभिव्यक्त होती रही है। प्रथम चरण में उसने तथ्यों का संकलन किया और फिर उनके आधार पर नियमों का निरूपण किया। यों कहें कि उसने ज्ञान को विभिन्न क्षेत्रों में बाँटा। व्यापक चिंतन परम्परा हो या अनुसंधान आदि, सभी इस तरह व्यवस्थित रूप से निरंतर आगे बढ़ते रहे हैं। जीवन–यापन सम्बंधी आविष्कार हों या अस्तित्व से जुड़े दार्शनिक सवाल—दोनों छोरों के बीच मनुष्य ने ज्ञान की अनन्त ऊँचाइयाँ छुईं और यह क्रम आज भी निरंतर जारी है।

दार्शनिक सवालों का जवाब मानवीय मेधा ने अत्यन्त प्रखरता से दिया है। इनका सदुपयोग उसने न केवल अपने अस्तित्व से जुड़े सवालों की तह तक पहुँचने के लिए किया बल्कि जीवन को व्यवस्थित रूप देने के लिए भी किया। दर्शन के इन्हीं नैतिक/अनैतिक पक्षों को नीति विज्ञान का नाम दिया गया है, जिस पर यह रचना केन्द्रित है। इसमें इन पक्षों से जुड़े विचारों और सम्बंधित विचारकों के चिंतन सम्बंधी तथ्य गहरे प्रभावित करते हैं। इस तरह नीति विज्ञान उन आधारभूत सिद्धान्तों से सम्बंधित विज्ञान है जो मानवीय नैतिक चेतना के स्वरूप सम्बन्धी आलोचनात्मक चिंतन द्वारा प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, इन मूल सिद्धान्तों एवं तथ्यों को वह मानवीय व्यवहार के सद्/असद् या शुभ–अशुभ पक्ष से सम्बंधित विचारों एवं विश्वासों के अध्ययन द्वारा प्राप्त करता है। रॉस ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि नैतिक विचार का प्रारम्भ इस तथ्य के अस्तित्व को स्वीकार करने से होता है, जिसे हम सामान्यतः नैतिक चेतना कहते हैं। फिर भी यह सोचना भ्रान्तिपूर्ण है कि यह सब विश्वास सत्य है, अथवा यह परस्पर समन्वित हैं। स्पष्ट है कि नीति शास्त्र का आधार वह अनवरत चिंतन है, जिसे भारतीय परम्परा में 'सत्य की तलाश' कहा गया है।

बदलते मानवीय और नैतिक सम्बंधों के वर्तमान समय में विशेष रूप से यह पुस्तक जिस तरह से व्यापक स्तर पर सम्बंधित जानकारियाँ देती है, हमें

असाधारण सवालों को अत्यंत सरल ढंग से समझाती है, उनसे विद्वान लेखिका लक्ष्मी सक्सेना की असाधारण प्रतिभा और बौद्धिक श्रम का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। सम्बन्धित छात्रों, शोधार्थियों और गम्भीर पाठकों के बीच यह पुस्तक अत्यंत उपादेय सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

सोम ठाकुर
कार्यकारी उपाध्यक्ष

द्वितीय संस्करण

दो शब्द

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी के प्रति बढ़ते हुए आग्रह एवं हिन्दी में अच्छी पुस्तकों के अभाव को देखते हुए मैंने विद्यार्थियों के समक्ष अपना यह प्रयास रक्खा था। संभवतः उसकी माँग रखते हुए विद्यार्थियों एवं शिक्षकों में अपना आकलन भी प्रस्तुत कर दिया है। इसलिए इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण को उनके हाथों प्रस्तुत करने में मुझे विशेष प्रसन्नता हो रही है।

'नीति विज्ञान' पर लिखी हुई यह पुस्तक दर्शन विषय के अध्ययन एवं अध्यापन के दस वर्षों के अनवरत प्रयास का परिणाम है। इसलिए यह स्नातक, स्नातकोत्तर एवं शोध सभी स्तरों के विद्यार्थियों के लिए निश्चित ही लाभकारी होगी। साथ ही विविध प्रतियोगी परीक्षाओं की दृष्टि से भी इसका भरपूर इस्तेमाल किया जा सकता है। इसी दृष्टि से मैंने इसमें एक खंड और जोड़ दिया है। यह खण्ड चार अध्यायों वाला है। जिसमें 'सोरेन किर्केगार्ड', 'कार्ल यास्पर्स', 'ज्याँ पॉल सार्त्र', 'अल्बेयर कामू' के विचारों का अध्ययन किया गया है। जिसे महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा–महाराष्ट्र (केन्द्रीय विश्वविद्यालय) की एम. फिल. की छात्रा कु. श्वेता त्रिपाठी ने बड़े ही मनोवेग से लिखा है। जिसकी हिन्दी भाषा की पकड़ और दर्शनशास्त्रीय जिज्ञासाओं की समझ अत्यन्त सराहनीय है। मैं आशान्वित हूँ कि इस खण्ड के चार लेखों से दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के साथ–साथ सामान्य पाठक भी लाभान्वित होंगे।

और यह भी कि कु. श्वेता आगे भी दर्शन के प्रश्नों पर विचार करती रहेंगी तथा अपने चिंतन से दर्शन शास्त्र एवं हिन्दी भाषा में उल्लेखनीय कार्य करती रहेंगी। उनकी चिंतन–श्रृंखला सुलझी हुयी और विकासोन्मुखी है, जो दर्शन शास्त्र को वैचारिकता से सामान्य जीवन–बोध तक ले जाती है।

इस पुस्तक की संशोधित प्रति श्रीमती डा. पूर्णिमा सहाय ने तैयार की है। वे गोरखपुर विश्वविद्यालय की छात्रा रही हैं और यहीं से दर्शनशास्त्र में पी. एच. डी. उपाधि प्राप्त की हैं। उन्होंने अपनी अपार व्यस्तता के बावजूद बड़ी ही निष्ठा के साथ यह कार्य सम्पन्न किया है। मैं उनसे भविष्य में बहुत सी अपेक्षाओं के साथ आश्वस्त हूँ।

कु. श्वेता और डॉ. पूर्णिमा सहाय दर्शनशास्त्र की नई सृजनशील प्रतिभाएँ हैं; इनके चिंतन से दर्शनशास्त्र में नई राहें खुलती हैं, और आगे भी खुलती रहेंगी।

इस आशा के साथ यह पुस्तक पाठकों के सामने प्रस्तुत है।

लक्ष्मी सक्सेना

प्रथम संस्करण

दो शब्द

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत हिंदी भाषा में अध्ययन–अध्यापन होना स्वाभाविक था, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी में विश्वविद्यालयी–स्तर की पुस्तकों की माँग होना आवश्यक ही था। किन्तु इतने वर्षों के उपरान्त आज भी विद्यार्थियों के हाथ में रखने योग्य स्नातक स्तरीय पुस्तकों का अभाव है। वर्तमान पुस्तक नीति–विज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में, इस अभाव को पूरा करने का एक छोटा–सा प्रयास है।

नीति–विज्ञान या नीतिशास्त्र दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। अपने दस वर्षों के अध्ययन एवं अध्यापन काल में, मैं इस विषय पर जो कुछ भी सोच सकी हूँ तथा जिस रूप में सोच सकी हूँ, वही इस पुस्तक के लिखने की एकमात्र प्रेरणा है।

नीति–दर्शन के मूल सिद्धांत स्नातक एवं स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, सामान्य व्यक्ति के लिए भी, जो चिंतन में रुचि रखते हैं, ये पुस्तक कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जीवन का नैतिक पक्ष किसी भी व्यक्ति के लिए उपेक्षा का विषय नहीं हो सकता। उस पक्ष से संबद्ध समस्याओं से अपने जीवन में वह नित्य प्रति उलझता रहता है। और समाज में मान्यता प्राप्त प्रतिमानों के आधार पर उनका समाधान भी वह स्वयं अपने ढंग से ढूँढ़ निकालता है। किन्तु उन प्रतिमानों के विषय में सुव्यवस्थित चिंतन उसके लिए न तो संभव ही है और न ही उसमें उसकी रुचि ही हो सकती है। अतएव वे व्यक्ति, जो जीवन के इस पक्ष के साथ न्याय करना चाहते हैं, इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे, ऐसी मैं आशा रखती हूँ।

इससे पूर्व कि, पुस्तक में प्रस्तुत सामग्री के विषय में, कुछ कहा जाय, नीति–विज्ञान शब्द के प्रयोग के विषय में कुछ कहना, मैं आवश्यक समझती हूँ। सामान्यतः इस विषय में लिखी हुई पुस्तकों में 'नीति–शास्त्र' शब्द का ही प्रयोग हो रहा है। किन्तु 'शास्त्र' शब्द के प्रयोग के साथ जो ध्वनि संबद्ध है, उसके साथ वर्तमान विषय को एवं अध्ययन प्रणाली को संयुक्त करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। इस विशेष रूप से बौद्धिक युग में, जब हमारी आस्था एवं पूर्व–संचित मान्यताएँ ध्वस्त हो रही हैं और हम प्रत्येक वस्तु की स्थापना कोरे बौद्धिक मानदण्ड के आधार पर करना चाहते हैं, इस शब्द का प्रयोग कुछ उचित नहीं प्रतीत होता।

पुस्तक के विषय को प्रस्तुत करने में जिस शैली को अपनाया गया है,

उसका मेरी दृष्टि में अपना महत्त्व रहा है। नीति–दर्शन के क्षेत्र में, जिन सिद्धान्तों का समय–समय पर प्रतिपादन किया गया है, उन्हें ऐतिहासिक क्रम में प्रस्तुत न कर के, तार्किक क्रम में ही प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, प्रत्येक सिद्धान्त की विशेषताओं एवं आलोचनात्मक परीक्षण को उनका प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों के विचारों के संदर्भ में ही प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त, उन सिद्धांतों की प्रमुख विशेषताओं को यथासंभव निष्पक्ष एवं तटस्थ हो कर व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है। इसके लिए प्रमुख दार्शनिकों के विचारों को–उनकी महत्त्वपूर्ण युक्तियों एवं निष्कर्षों को, यथासंभव उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया गया है।

एक शब्द नव्य–व्यक्तिनिष्ठवाद पर भी कहना आवश्यक है। समकालीन नैतिक चिंतन में नव्य–व्यक्तिनिष्ठवाद विशेष महत्त्व रखता है। किन्तु, नैतिक चिंतन की प्रमुख धारा से सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण, मूल सिद्धान्तों के विवेचन के अंतर्गत इसे स्थान नहीं मिल सका है। फिर भी, यह निश्चित है कि समकालीन नैतिक चिंतन के क्षेत्र में इस सिद्धान्त का समर्थन एवं विकास एक क्रांति के रूप में हुआ है। अतएव पाठकों की इस विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से, परिशिष्ट में कुछ पृष्ठ इस 'वाद' को भी दिये गये हैं।

तार्किक क्रम की दृष्टि से नैतिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण, विधिवादी एवं प्रयोजनवादी दो शीर्षकों के अंतर्गत किया जाता है। विधिवादी सिद्धांत, मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक दोनों ही दृष्टियों से प्रयोजनवादी सिद्धांत के पूर्व आता है। उसे इसी रूप में प्रस्तुत भी किया है। नैतिक चिंतन के विकास के क्रम में 'नियम' रूप में मानदंड की कल्पना सहज एवं स्वाभाविक है। किन्तु, चिंतन की प्रगति के साथ 'नियम' के अनाक्राम्य रूप में आस्था बनाये रखना संभव नहीं। 'नियम' कितना भी उच्च क्यों न हो, उसका स्रोत कितना ही पवित्र एवं उन्नत क्यों न हो, वह मानव जीवन में साधन रूप में ही महत्त्व रख सक़ता है। 'साध्य' रूप में उसे स्वीकार करना वैयक्तिक अथवा सामाजिक दोनों दृष्टि से अधिक समय तक संभव नहीं। इसीलिये मानव जीवन के किसी लक्ष्य विशेष से उसे संबद्ध कर देना नितांत आवश्यक है। इस अनुभूति के साथ ही प्रयोजनवादी सिद्धांतों के अध्ययन की ओर अग्रसर होना हमारे लिए स्वाभाविक है। पुस्तक ने इसी सहज क्रम को बनाये रखने की चेष्टा की है। कांट के दर्शन के विषय में भी एक महत्त्वपूर्ण बात कहनी है। सामान्यतः कांट का दर्शन विधिवादी सिद्धान्त के अंतर्गत ही प्रस्तुत किया जाता है। मेरे अपने विचारों में, उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करने से उनके सिद्धांत के कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों के साथ न्याय करना, संभव प्रतीत नहीं होता।

विपरीततः उनके विचार प्रयोजनवादी सिद्धान्त की परंपरा के साथ अधिक सामंजस्य स्थापित करते हुए दिखायी देते हैं। अतएव उन्हें इसी परंपरा के अंतर्गत इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है।

अंत में, मैं उन सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहूँगी, जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में मुझे प्रेरणा दी है एवं प्रोत्साहित किया है। वर्तमान पुस्तक के निर्माण में सबसे बड़ा हाथ मेरी समझ में उन विद्यार्थियों का रहा है, जिनके सामने इन अनेक वर्षों में, इस विषय को प्रस्तुत करने का मुझे अवसर मिला है। यह निश्चित है कि इस अवसर के अभाव में, विचारों को अपने वर्तमान रूप में विकसित होने का अवसर ही न मिलता है। यह पुस्तक उन्हीं के लिए लिखी गयी है और मैं आशा करती हूँ कि यह उन्हें पुनः स्वीकार्य होगी।

अपने वर्तमान रूप में, यदि यह पुस्तक, उनमें और जिज्ञासु पाठकों में, विषय के प्रति समुचित आस्था एवं दृष्टिकोण विकसित कर सकी तो मैं समझूँगी कि मेरा यह प्रयास सार्थक है।

अपने सहयोगियों में, मैं डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, श्री सभाजीत मिश्र तथा डॉ० रेवतीरमण पाण्डेय की विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तक को आद्योपांत पढ़ने का कष्ट उठाया है और समय–समय पर अपने अमूल्य सुझाव भी दिये हैं। पुस्तक के लिखने में, जब अनेक बार प्रयास की निरर्थकता का मुझे आभास हुआ है और कार्य करने की गति में शिथिलता आयी है, तब इन सभी से, मुझे, इस विषय में आश्वासन और पुस्तक को पूरा करने का नैतिक बल मिला है।

इस अवसर पर मैं कुलपति आदरणीय राव साहब के प्रति भी ह्रदय से आभार व्यक्ता करना चाहूँगी जिन्होंने समय–समय पर मुझे अपने कर्त्तव्य का स्मरण करा कर, कार्य को इतने कम समय में पूरा करा लिया है।

कार्य करने की निष्ठा और सतपथ पर चलने की प्रेरणा और बल मुझे जिन स्त्रोतों से मिला है उनके विषय में क्या कहूँ, ये तो मेरे जीवन की स्थायी और एकमात्र पूँजी हैं–मेरे माता स्व० श्रीमती श्याम कुमारी वर्मा एवं पिता स्व० श्री कृपा शंकर वर्मा और श्रद्धेय स्वामी रामानंद जी जिन्होंने इस व्यक्तित्व को ढालने में जो कुछ भी किया है, वह अविस्मरणीय है और उनके प्रति आभार व्यक्त करके मैं उनके महत्त्व को कम न करना चाहूँगी।

—लक्ष्मी सक्सेना

दर्शन विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

विषय–सूची

अध्याय एक

प्रस्तावना

मानवीय चेतना : उसकी सक्रिया के दो विभिन्न रूप

मानवीय चेतना प्रायः अनुसंधानात्मक एवं मूल्यात्मक दो विशिष्ट रूपों में कार्य करती है। प्रथम रूप में, उसका कार्य प्रमुखतः तथ्यों का संकलन तथा उनसे संबंधित सामान्य नियमों के निरूपण का है। यह कार्य स्वतः अपने में महत्वपूर्ण है और वर्तमान शताब्दी की लगभग सभी प्रमुख उपलब्धियों का श्रेय उसकी इस विशिष्ट सृजनात्मकता को है। वर्तमान युग की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि, मानवीय चेतना, इस क्षेत्र में विशिष्ट रूप से सक्रिय है और उसकी इस क्षेत्र में गतिशीलता का भी पर्याप्त महत्व है। किंतु अपने द्वितीय रूप में, वह मूल रूप से निर्णायक का कार्य करती हुयी दिखायी देती है; वह अपनी उपलब्धियों पर स्वनिर्मित एवं स्वस्वीकृत प्रतिमानों के आधार पर तटस्थ भाव से निष्पक्ष निर्णय देने के कार्य में संलग्न दिखायी देती है। और, यदि यह कहा जाय कि अपने इस रूप में, न केवल वह मूल्यांकन के कार्य में व्यस्त है, वरन् वह अपनी बिखरी हुयी सृजनात्मक शक्तियों को एकत्र करने का प्रयास कर रही है ताकि निकट भविष्य में वह पुनः नूतन प्रेरणा से कार्य कर सके, तो इसमें किंचित् मात्र भी अतिशयोक्ति न होगी।

निःसंदेह मूल्य-निर्धारण का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किंतु प्रायः देखा गया है कि सफलता के उन्माद में तटस्थ वृत्ति बनाये रखना, यदि पूर्णरूपेण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह कार्य अनुसंधानात्मक कार्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रायः ऐसा देखने में आया है कि अबाधित एवं अविराम गति से कार्य करने के कारण तथा कार्य में समुचित विवेक को महत्व न देने के कारण, न केवल शक्ति का अपव्यय होता है, प्रत्युत् कभी-कभी तो भयंकर परिणामों का भी सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मानवीय चेतना के समुचित निर्देशन के लिए, उसमें प्रेरणा एवं समुचित भावों को विकसित करने के लिए, आदर्शों एवं प्रतिमानों का चिंतन निःसंदेह लाभदायक ही सिद्ध होता है। निश्चित है कि उक्त चिंतन के उपरांत, मानवीय चेतना, आदर्शों एवं मूल्यों से अनुप्राणित होकर, पुनः नूतन स्फूर्ति से कार्य करती हैं अतः उसकी क्रियाशीलता का यह पक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है।

2 : नीति-विज्ञान के मूल सिद्धांत

नीति-विज्ञान एवं दर्शन

'दर्शन' मानवीय मूल्यात्मक चेतना[1] की वह अभिव्यक्ति है, जिसके द्वारा जीवन के तीन प्राथमिक मूल्यों-सत्यं, शिवं एवं सुंदरम्-के आधार पर, तथ्यों के नियामक पक्ष का निरूपण होता है। इन तीन मूल्यों को, एक ऐसी सार्वभौम आध्यात्मिक चेतना की, त्रिपादीय अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जो मानवीय चेतना एवं विश्व में समान रूप से विद्यमान हैं तथा जिन्हें वह अनुप्राणित कर रही है। अतएव, यदि हम दर्शन को मूल्यात्मक चेतना तथा उसमें व्याप्त 'निरपेक्ष नियोग'[2] को व्यक्त करने वाले विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करें तो अनुचित न होगा। कुछ वादों के अतिरिक्त, प्रायः सभी इस बात से एकमत हैं कि विश्व में इन्द्रियों की मध्यस्थता से जो कुछ ज्ञेय है, स्पष्टतः उससे कहीं अधिक सूक्ष्म सत्य, उसके अंतराल में निहित है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि विश्व के नानात्व की पृष्ठभूमि में एक अनंत सत्ता[3] विद्यमान है, जो उसके वैविध्य को भलीभाँति संबद्ध करने की सामर्थ्य रखती है। इस सत्ता का स्वरूप, उसकी अनंतता एवं विशिष्टता, जो विश्व के नानात्व के माध्यम से व्यक्त हो रही है, दर्शन अपनी पद्धति से, चिंतन की विशिष्ट प्रणाली से, व्यक्त करने की चेष्टा करता है।

नीति-विज्ञान, जो दर्शन की एक विशिष्ट शाखा है उसी मूल्यात्मक चेतना को व्यक्त करने वाले स्वरूपों में एक विशिष्ट स्वरूप से संबद्ध है। नीति-विज्ञान का संबंध जीवन के नीति एवं अनीति से संबंधित पक्ष से है; यही कारण है कि अपने क्षेत्र की समुचित व्याख्या के लिए उसे दर्शन से प्राप्त अंतर्दृष्टि का अवलंब लेना पड़ता है। अपने क्षेत्र के अनुसंधान के लिए, जिस विशिष्ट पद्धति को वह स्वीकार करता है, वह दार्शनिक पद्धति है, जिसे समीक्षात्मक विमर्श एवं[4] अतींद्रिय[5] विमर्श भी कहते हैं।

नीति-विज्ञान उन आधारभूत, अनुभव-निरपेक्ष, प्रागनुभविक[6] सिद्धांतों से संबंधित विज्ञान है, जो मानवीय नैतिक चेतना के स्वरूप पर अलोचनात्मक अनुचिंतन द्वारा प्राप्त होते हैं। अन्य शब्दों में, इन मूल सिद्धांतों एवं तथ्यों को वह मानवीय व्यवहार के सद्-असद्, शुभ्-अशुभ पक्ष से संबंधित विचारों एवं विश्वासों के अध्ययन द्वारा प्राप्त करता है। नैतिक विचार एवं चिंतन के स्वरूप पर प्रकाश

---

1. Valuational consciousness, इस संदर्भ में 'इष्टपरक' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। देखिये, पाश्चात्य दर्शन की रूपरेखा, जयदेव सिंह।
2. Categorical Imperative. 'निरपेक्ष आदेश' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
3. Infinite reality अथवा Infinite Principle.
4. Critical reflection.
5. Transcendental reflection.
6. Foundational, Transcendental and Apriori principles.

डालते हुये रॉस ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है : नैतिक विचार का प्रारंभ, "उस तथ्य के अस्तित्व को स्वीकार करने से होता है, जिसे सामान्यतः नैतिक चेतना कहते हैं।" और इससे अभिप्राय "उन विस्तृत विश्वासों के समूह से है जो किन्हीं विशिष्ट मूल्यों का उस सीमा तक अवतरण योग्य मानते हैं, जिस सीमा तक हम उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते है।"[1] नैतिक चेतना के अस्तित्व एवं उससे संबंधित विश्वासों की प्रारंभिक स्वीकृति के साथ ही नीति-विज्ञान उन समस्त विश्वासों को आंतरिक विरोध से मुक्त करने तथा उन्हें सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयास करता है। और सुव्यवस्थित रूप देने की इस प्रक्रिया में यह अनिवार्य है कि नीति-अनीति से संबंधित हमारे अनेक विश्वास नष्ट हो जायें तथा उन्य विश्वासों के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो जाय। उन विश्वासों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति रखना अनुचित होगा। इस संबंध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए रॉस कहते है : "ऐसा सोचना भ्रांतिपूर्ण है कि ये सब विश्वास सत्य हैं अथवा ये परस्पर समन्वित है; ये स्पष्ट हैं, यह सोचना तो और भी अनुचित है।"[2]

नीति-विज्ञान के जिस रूप से हम अभी तक परिचित हुए हैं, उसके अनुसार स्पष्ट है कि नीति-विज्ञान अन्य विज्ञानों से अपनी अध्ययन प्रणाली एवं उदेश्य में भिन्न नहीं है। उसका विशेष कार्य मानवीय आचार के नीति-अनीति पक्ष से संबंधित विश्वासों एवं विचारों का अध्ययन करना तथा उन्हें शृंखलाबद्ध करना है। प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर क्यों नीति-विज्ञान विधायक विज्ञान से पृथक एवं नियामक विज्ञान माना जाता है ?

नीति-विज्ञान का नियामक स्वरूप

प्रायः नीति-विज्ञान की प्रत्येक पुस्तक में इसे विधायक विज्ञान से पृथक् नियामक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस तथ्य को सब स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि विधायक विज्ञान मूलरूप से वर्णनात्मक विज्ञान है। इसका कार्य जीवन के विविध पक्ष के तथ्यात्मक स्वरूप का निरूपण करना है, चाहे वे तथ्य प्राकृतिक तथा मनोवैज्ञानिक हों अथवा नीति एवं अनीति से ही संबंधित क्यों न हों। नियामक विज्ञान का कार्य इससे भिन्न है। नीति-विज्ञान मूलरूप से नियामक विज्ञान है। वह मानवीय संकल्प एवं आचार के नियामक पक्ष से संबंधित

---

1. The starting point for ethics is "the existence of what is commonly called the moral cosciousness", and by this is meant, "the existence of a large body of beliefs and convictions to the effect that there are certain kinds of things that ought to be brought into existence, so far as we can bring them into existence". Foundations of Ethics, p. 2.
2. "It would be a mistake to assume that all of these convictions are true, or even that they are all consistent; still more, to assume that are all clear". Ibid, p. 2.

है : व्यक्ति के लिए मूलरूप से क्या करणीय है तथा क्या अकरणीय है, इस प्रश्न के समाधान से उसका विशेष संबंध है।

क्या नीति-विज्ञान के नियामक रूप को प्रस्तुत करने का यह प्रयास उचित है? क्या नीति-विज्ञान विशिष्ट परिस्थितियों में मानवीय संकल्प को करणीय एवं अकरणीय के विषय में स्पष्ट निर्देश देता है? क्या वह व्यावहारिक स्तर पर जीवन की अनेकानेक समस्याओं के मध्य उसका मार्ग निर्देशन करता है? यदि नहीं,[1] तो किन विशिष्ट अर्थों में हम उसे नियामक विज्ञान कह सकते हैं? नीति-विज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये, हार्टमन कहते है : "नीति-विज्ञान नैतिक चेतना में निहित सत्यों को व्यक्त करने वाला विज्ञान है।"[2] नीति-विज्ञान हार्टमन के अनुसार, रेखागणित के समान है और इस समानता को प्रस्तुत करने में वे किसी मौलिक विचार को व्यक्त नहीं कर रहे हैं। वे प्लेटो द्वारा व्यक्त विचारों की मात्र पुनरावृत्ति ही कर रहे हैं। जिस प्रकार रेखागणित आलोचनात्मक अनुचिंतन द्वारा उन सत्यों को अनावृति करने की चेष्टा करता है, जो 'रेखागणित के अनुसार सत्य है', उसी प्रकार नीति-विज्ञान उन सत्यों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है, जो मानवीय चेतना में विद्यमान हैं। उसके पास मानवीय संकल्प को नियंत्रित करने की, नीति-पथ पर उसे प्रेरित करने की, कोई विशेष क्षमता नहीं है। वह केवल इतना ही कर सकता है कि मानवीय नैतिक चेतना, जिन आदर्शों से अनुप्राणित है और जिन्हें वह अचेतन रूप से व्यक्त करने के लिए सतत् प्रयत्नशील है, उन्हें चिंतन द्वारा सचेतन स्तर पर स्पष्ट कर दे, ताकि उसका अपना लक्ष्य निश्चित हो जाये और भविष्य का पथ प्रशस्त हो सके। किंतु कितना भी हम नीति-विज्ञान का अध्ययन क्यों न करें, कितनी भी योग्यता से हम उन अनावृत सत्यों को आत्मसात क्यों न करें, यह अनिवार्य नहीं कि हमारे संकल्प पूर्णतया विशुद्ध हो जायें और आदर्शों एवं नीति-पथ का अनुसरण करने लगें। हार्टमन ने नीति-विज्ञान के संबंध में यथार्थ ही कहा है : "वह पद्धति एवं शिक्षा की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत अपने अंतर्विषय की दृष्टि से ही नियामक है। दृष्टि की निरपेक्षता एवं उसको प्राप्त करने का कौशल दोनों स्थानों पर समान ही है।"[3] किस विशिष्ट अर्थ में वह नियामक है, इसे स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं : "वह जीवन को प्रभावित करने के सातिशय प्रतिरूपों से सर्वथा भिन्न है।" पुनः, "नीति-विज्ञान वस्तुतः अपने में नियामक नहीं है, वह केवल अपने अध्ययन विषय की दृष्टि से ही, उस नियम

---

1. परिस्थिति-विशेष में व्यक्ति-विशेष के लिए क्या करणीय है अथवा अकरणीय, इससे नीति-विज्ञान का सीधा संबंध नहीं है। इस प्रश्न का संबंध व्यावहारिक नीति-विज्ञान से है।
2. 'Ethics is the "midwifery of the moral consciousness of man."
3. "It, therefore, is normative according to its contents, but not according to its method or its kind of teaching. For the apriority of insight and the art of leading another to it are the same here as there."

Ethics, Vol. I, p..62.

एवं नियम-समूह की दृष्टि से ही-जिन्हें वह अनावृत करना चाहता है, नियामक है। उन नियमों का नियामक रूप ही अप्रत्यक्ष रूप से नीति-विज्ञान के नियामक रूप में स्थानांतरित हो उठता है। नीति-विज्ञान नियामक केवल इसी विशिष्ट अर्थ में है कि वह उन नियमों को सचेतन स्तर पर व्यक्त करना चाहता है, जिनका प्रभाव मानवीय संकल्प, वृत्तियों एवं नैतिक मूल्यात्मक निर्णयों पर परोक्ष न हो कर, अपरोक्ष ही होता है.। इन्हीं सीमाओं के अंदर उसका सृजनात्मक कौशल उसकी प्रभविष्णुता के लिए अनिवार्य है और इन्हीं सीमाओं के भीतर वह यथार्थ जीवन में उन नैतिक नियमों को प्रभावोत्पादक बनाने में सफल होता है।"[1] नीति-विज्ञान का यह अपरोक्ष-नियामक रूप इतनी स्पष्टता के साथ इससे पूर्व किसी के भी द्वारा व्यक्त नहीं किया गया। इसके पश्चात् अब हम नीति-विज्ञान के अध्ययन-विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे, जिसके कारण ही वह नियामक-विज्ञान कहलाता है।

नीति-विज्ञान का अध्ययन-विषय : नैतिक चेतना में व्याप्त निरपेक्ष तत्व की व्याख्या [2]

नीति-विज्ञान को हमने एक ऐसे विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है जो मानवीय नैतिक चेतना की समुचित व्याख्या हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। उस चेतना से संबंधित विश्वासों का यदि हम अध्ययन करें तो हमें स्पष्ट प्रतीत होगा कि वह एक ऐसी चेतना है जिसमें एक निरपेक्ष 'मूल्य' विद्यमान है जो संकल्पजन्य आचार की मध्यस्थता से निरंतर व्यक्त होने के लिए प्रयत्नशील है। इस निरपेक्ष मूल्य के स्वरूप की व्याख्या नीति-विज्ञान प्रस्तुत करता है। कांट ने इसकी प्रकृति को स्पष्ट करते हुए इससे संबद्ध आदेश को 'निरपेक्ष आदेश' शब्द से व्यक्त किया है और अन्य आदेशों से इसे पृथक् माना है। अन्य आदेश मानवीय संकल्प के लिए सापेक्ष महत्व रखते हैं, किंतु यह एक ऐसा आदेश है जो निरपेक्ष रूप से महत्वपूर्ण है। 'निरपेक्ष' शब्द, मानवीय-संकल्प हेतु, उसकी अनिवार्य बाध्यता एवं मूल्य को व्यक्त करने के लिए ही, प्रयुक्त किया गया है तथा प्रतीकात्मक रूप से उसे अंग्रेजी

---

1. "....It is in contrast to all the exaggerated representations of its power to mould life."... "Ethics in it self is not at all normative, but only its subject-matter, the principle, or rather the realm of principle which it is to uncover. This normative character of the principles is transferred indirectly to ethics itself. Ethics is normative only in so far as it brings to consciousness principles, the influence of which upon human determination, disposition and valuation of the real is first mediated through elevating them into rational consciousness. Only within these boundaries is its art of midwifery a condition of such influence, and only in these boundaries does it really assist moral principles to be efficient in real life".
Ethics, Vol. I., p. 63.
2. Absolute; Absolute principle. इसके लिए 'परम' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

शब्द 'आट' (चाहिये)[1] द्वारा व्यक्त किया गया है।

प्रमुख सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण

मानवीय व्यावहारिक चेतना में निहित, निरपेक्ष आदेश की व्याख्या नीति-विज्ञान की पुस्तक का प्रमुख विषय है तथा इस प्रश्न को लेकर दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है, जिसका विशद विवेचन आगामी अध्यायों में किया जायेगा। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय ही प्रस्तुत किया गया है।

इस संबंध में प्रमुख सिद्धांत को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

(क) विधिवादी सिद्धांत, और

(ख) प्रयोजनवादी सिद्धांत।

(क) विधिवादी सिद्धांत

इस मत के अनुसार 'चाहिए' शब्द मानवीय संकल्प के बाह्य नियंत्रण का सूचक है। यह नियंत्रण प्रतिबंधों के द्वारा ही संभव हो सकता है। अन्य शब्दों में, 'चाहिए' एवं मानवीय संकल्प का संबंध आकस्मिक तथा बाह्य है। उक्त विचार पूर्णतः संतोषप्रद नहीं है, क्योंकि इस मत के अंतर्गत नैतिक प्रतिमान-जिसकी 'बाध्यता' की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'चाहिए' शब्द द्वारा की जाती है, केवल एक बाह्य नियम के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह प्रतिमान अलग-अलग प्राकृतिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक नियम के रूप में तथा कभी इन सब के संयुक्त रूप में भी स्वीकार किया गया है। अति प्राचीन काल में यह वर्ग-विशेष के नियम के रूप में भी प्राप्त होता है। अति प्राचीन काल में यह वर्ग-विशेष के नियम के रूप में भी प्राप्त होता है।

स्पष्ट है कि नैतिक अनिवार्यता का यह रूप उसका यथार्थ रूप नहीं है। बाह्य प्रतिबंधों के रूप में प्रस्तुत प्रतिमान, जिस अनिवार्यता को व्यक्त करता है, वह बाह्य अनिवार्यता है और अंग्रेजी शब्द 'मस्ट'[2] द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है। किंतु नैतिक बाध्यता एक प्रकार की आंतरिक अनिवार्यता होती है और 'आट'[3] शब्द द्वारा ही स्पष्ट रूप से व्यक्त हो सकती है। यह निश्चित है कि प्रथम प्रकार की अनिवार्यता को मानवीय संकल्प स्थायी रूप से स्वीकार नहीं कर सकता। जो संकल्प पर बाह्य रूप से आरोपित है, उसके सतत विरोध ही में व्यक्ति को संतोष मिलता है और वह मानवीय सहज-वृत्तियों से सामंजस्य स्थापन में सर्वदा असमर्थ

---

1. 'Ought' शब्द की व्याख्या दो रूपों में हुई है। इसकी चर्चा आगामी खण्ड में की जायेगी।
2. Must.
3. Ought.

रहता है। ठीक इसके विपरीत, उसके अनुकूल कार्य करना व्यक्ति के लिए कष्टप्रद ही होता है। मानवीय संकल्प, उसके समक्ष अपने को हीन, कुंठित एवं संकुचित अनुभव करता है, और स्वतंत्र एवं सहज रूप से कार्य करने की उसकी क्षमता अवरुद्ध रहती है। इसलिए मानवीय नैतिक चेतना से संबंधित तथ्यों की ओर यदि हम आकस्मिक दृष्टिपात भी करें तो स्पष्टतः यह प्रतीत होगा कि नैतिक बाध्यता का स्वरूप वस्तुतः इससे भिन्न है।

नैतिक अनिवार्यता के विपरीत, संकल्प एवं आचार, नैतिक हीनता एवं ग्लानि की भावना को जन्म देता है और अनुकूल कार्य उसी अनुपात में आत्मतोष तथा आत्म-गौरव की भावना को उत्पन्न करता है। मानवीय-संकल्प का 'चाहिए' से संबंध वस्तुतः आंतरिक एवं अभिन्न है। उसके माध्यम से उसका अपना निजी आदर्श साकार हो उठता है, जो बाह्य रूप से नहीं प्रत्युत आंतरिक रूप से उसे अनुप्राणित करने की उत्तरोत्तर व्यक्त होती हुई पूर्णता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा एवं सामर्थ्य प्रदान करता रहता है।

इस विचार के परिणामस्वरूप नैतिक चिंतन ने 'चाहिए' को नैतिक अनिवार्यता से एक आंतरिक प्रेरणा एवं आदेश के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसे 'अंतर्विवेक सिद्धांत'[1] में अंतर्विवेक के नाम से व्यक्त किया गया है। इस संबंध में दो व्यक्तियों के नाम महत्वपर्णू हैं-बटलर तथा कांट। दोनों ही दार्शनिकों ने नैतिक बाध्यता को बौद्धिक आदेश के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। बटलर के दर्शन में, बौद्धिक माँगों को दृढ़ता के साथ प्रस्तुत नहीं किया गया है, क्योंकि उसने बुद्धि के अतिरिक्त दो अन्य तत्वों को भी स्वीकार किया है, यथा-आत्म-प्रेम एवं परहितेच्छा के सिद्धांत।[2] इन दोनों सिद्धांतों की स्वीकृति द्वारा बटलर ने जीवन के संवेदनात्मक पक्ष को पर्याप्त महत्व देने की चेष्टा की है, किंतु कांट ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति में जिस असाधारण निर्भीकता के साथ बौद्धिक पक्ष की माँगों को प्रस्तुत किया है, वह अविस्मरणीय है।

विधिवादी सिद्धांत, जो नैतिक आदेश को बाह्य अथवा आंतरिक नियम के रूप में प्रस्तुत करता है, उसके परम अनुभव निरपेक्ष रूप को एवं मानवीय-संकल्प हेतु उसकी निरपेक्ष बाध्यता को स्पष्ट स्वीकार करता है। निःसंदेह, इस मत ने नैतिक आदेश के एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष को प्रस्तुत किया है। किंतु इस सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए समीक्षकों का मत है कि कोई भी नियम कितना

---

1. Conscience theory; अंतर्विवेकवाद के अंतर्गत इस दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा। अन्तःकरण शब्द का प्रयोग भी किया गया है।
2. Principles of self love and benevolence द्वितीय सिद्धांत के लिए 'परहितेच्छा', 'दयालुता', 'परोपकारिता' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जा सकता है। प्रथम के लिए 'स्वप्रेम' अथवा 'आत्मरति' शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है।

भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, मानवीय चेतना एवं संकल्प के समक्ष परम, निरपेक्ष सार्वभौम नियम के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। प्रत्येक नियम से संबंधित कतिपय अपवाद होते हैं, जो उसके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। जीवन अत्यधिक विषम होता है और कोई भी नियम तथा नियम-समूह कितना भी विस्तृत एवं सुव्यवस्थित क्यों न हो, उसके समस्त पक्षों के साथ न्याय नहीं कर सकता।

निःसंदेह, उक्त युक्ति में पर्याप्त सत्य है। किंतु कांट के विचारों के संदर्भ में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। कांट ने नैतिक आदेश[1] को मानवीय संकल्प के लिए निरपेक्ष रूप से मान्य ठहराया है। नैतिक आदेश सामान्य नैतिक नियमों से संबंधित आदेशों से भिन्न हैं और इन दोनों को समस्तरीय नियमों के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। विशिष्ट नैतिक-नियम एवं उनसे संबंधित आदेश, जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों तथा माँगों के संदर्भ में उस अपूर्व नैतिक आदेश को प्रस्तुत करने के विभिन्न प्रयास हैं और वे देश-काल की सीमाओं में ही मान्यता रखते हैं। वे सार्वभौम, अपवाद-रहित नियम का रूप ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हैं-यद्यपि कितनी ही योग्यता से हम उनके स्वरूप की व्याख्या क्यों न करें। जीवन में अनेक बार ऐसी स्थितियाँ आती हैं, जब उनके अनुरूप कार्य करना हमारे लिए कठिन ही नहीं, असंभव हो जाता है और हमें अनिवार्य रूप से उनमें यथोचित परिवर्तन लाना पड़ता है। किंतु, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक-दोनों दृष्टियों से, नैतिक आदेश के अनुरूप कार्य करने की बाध्यता प्रत्येक स्थिति में अनिवार्य है।

नैतिक आदेश मूल रूप से आध्यात्मिक आदेश है, वह जीवन की उच्चतम आकांक्षाओं से संबंधित आदेश है। मानवीय व्यक्तित्व एवं विश्व में जो अनंत निरपेक्ष आध्यात्मिक चेतना व्याप्त है और जो समस्त स्तरों पर अभिव्यक्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील है, यह उसी का पावन, मंगलमय आदेश है। नैतिक अनिवार्यता उसी दिव्य चेतना से निःसृत बाध्यता है और समाज में मान्यता स्थापित किये हुये नैतिक नियम, देश-काल की विशिष्ट पृष्ठभूमि में उसे पारिभाषित करने के हमारे अपूर्ण प्रयास हैं। उन्हें हमने जीवन में स्वीकार किया है, उनके अनुरूप जीवन व्यतीत करने की हम सतत् चेष्टा करते रहते हैं। किंतु जहाँ वे हमें नूतन परिस्थिति के संदर्भ में अपर्याप्त दिखायी देते हैं, हम उन्हें आवश्यकतानुसार संशोधित भी कर लेते हैं। इसी कारण कांट को विधिवादी सिद्धांत के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता है और इसीलिये वर्तमान पुस्तक में उसके दर्शन को सुखवाद के अनंतर और पूर्णतावाद के पूर्व ही स्थान मिल सका है। पूर्णतावाद के प्रमुख तत्वों को कांट ने बड़ी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है और पूर्णतावाद के समर्थकों ने उन तत्वों को स्वीकार करते हुये उनके प्रस्तुतीकरण में त्रुटियाँ रह गयी थीं, उन्हें दूर करने

1. Moral Imperative; Categorical Imperative.

का समुचित प्रयास किया है।

उपर्युक्त विचार प्रस्तुत संदर्भ में कुछ अप्रासंगिक हैं, किंतु कतिपय कारणों से वे महत्वपूर्ण भी हैं।

(ख) प्रयोजनवादी सिद्धांत

इस सिद्धांत के अन्तर्गत नैतिक अनिवार्यता को बाह्य एवं आंतरिक नियम के रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। कारण यह है कि इसके अनुसार प्रत्येक नियम साधन रूप में ही महत्वपूर्ण है, साध्य पद पर आसीन होने के लिए वह सर्वथा अयोग्य है। अस्तु, नैतिक निर्णयों का मानक[1] मानव जीवन से संबंधित कोई 'लक्ष्य' विशेष ही हो सकता है जो स्वतः अपने में अंतरस्थमूल्य[2] रखता हो। यह 'लक्ष्य' मानवीय चेतना में व्याप्त है और आंतरिक प्रेरणा के रूप में नित्य नई एवं सूक्ष्म अभिव्यक्तियों की ओर सहज रूप से हमें प्रेरित करता रहता है।

नैतिक जगत के क्षेत्र में प्रविष्ट होते ही नैतिक लक्ष्य एवं उससे संबद्ध अनिवार्यता से संबंधित तीन प्रत्यय हमारे समक्ष आते हैं। सबसे सहज रूप में वह सुख प्राप्ति के लक्ष्य के रूप में हमारे समक्ष आता है। सुख प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य है और वह ही जीवन के विशिष्ट लक्ष्यों को श्रृंखलाबद्ध करता है तथा उन्हें यथोचित सापेक्ष मूल्य[3] प्रदान करता है। चरम लक्ष्य संबंधी इस प्रत्यय का 'सुखवाद' के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है। इसके अंतर्गत अनेक प्रकार के विचार देखने में आते हैं, जिनमें दो दृष्टिकोण प्रमुख हैं : प्रथम वैयक्तिक दृष्टिकोण, जिसे हाब्स ने प्रस्तुत किया है, और द्वितीय सामान्य दृष्टिकोण, जिसका समर्थन बैंथम तथा मिल ने किया है। एक अन्य विचार भी इसी मूल प्रत्यय के अंतर्गत प्राप्त होता है, जिसे विकासवादी सुखवाद के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है और जिसका प्रतिपादन स्पैंसर, स्टीफन तथा अलैक्जैंडर ने किया है। इस मत के अंतर्गत जीवन से संबंधित दो विशिष्ट लक्ष्यों का समन्वय मिलता है, यथा, जैविक लक्ष्य एवं सुख-प्राप्ति का लक्ष्य। मनुष्य इन दोनों ही लक्ष्यों को जीवन में महत्त्वपूर्ण मानता है और इन दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के लिए वह निरंतर प्रयत्नशील है।

सुखवाद के औचित्य पर यदि हम विचार करें तो स्पष्ट है कि यह सिद्धांत मानवीय नैतिक चेतना तथा उसमें निहित चरम लक्ष्य की उचित व्याख्या प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है। जीवन में प्रायः ऐसे भी अवसर आते हैं, जब हम मात्र सुख-प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं, किंतु जीवन का बहुत बड़ा भाग सुख प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति में ही व्यस्त रहता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

सुख का जीवन में एक अन्य स्थान भी है, हमारी सफलता के साथ वह

---

1. Standard.
2. Intrinsic Value. आंतरिक मूल्य का भी प्रयोग हुआ है।
3. Relative Value.

अनिवार्य रूप से पारितोषिक के रूप में भी संलग्न रहता है। किंतु इसीलिए जिन उद्देश्यों की सफलता के साथ वह स्थायी रूप से संयुक्त रहता है, उन उद्देश्यों से उसकी एकरूपता स्थापित नहीं हो सकती। वह जीवन के स्थायी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'सुख' जीवन के विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सुखद प्रेरणा का भी कार्य करता है। अन्य शब्दों में, संकल्प के संदर्भ में वह निमित्त कारण[1] का स्थान ग्रहण करता है और इस दृष्टि से वह महत्वपूर्ण भी है। किंतु यदि वह हमारे संकल्प के लिए निमित्त कारण के रूप में विद्यमान है तो फिर कैसे हम उसी संदर्भ में उसे संकल्प के प्रयोजन कारण[2] के रूप में स्वीकार कर सकते हैं?

हमने प्रायः जीवन में व्यक्तियों को सोत्साह सुखपूर्वक कर्तव्य पालन करते देखा है। जहाँ मित्रों के लिए, परिचितों एवं निकट संबंधियों के लिए कार्य करने का प्रश्न उठता है, वहाँ सहज वृत्तियों एवं विवेक-बुद्धि में सहज स्वाभाविक सामंजस्य पाया जाता है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। ऐसे अवसर पर कर्त्तव्य पालन के लिए परिस्थितियाँ सर्वथा अनुकूल रहती हैं। किंतु, जीवन में ऐसे भी अवसर देखने में आते हैं जब अरुचिकर कर्त्तव्य का पालन, व्यक्ति विवश हो कर करता है। इन उदाहरणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुख, जीवन के स्थायी लक्ष्य के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता; उसे चरम लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किंतु, इस सिद्धांत के प्रवर्तकों ने उसे एक ऐसे स्थायी-लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया है, जो मानवीय संकल्प को महत्त्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित करने की क्षमता रखता है।

उक्त सिद्धांत की समीक्षा यहाँ पर हमें नहीं देनी है, न ही सिद्धांत की विशिष्टताओं को विशद रूप से प्रस्तुत करना है। ब्रेडले की पुस्तक से कुछ महत्वपूर्ण पंक्तियों को प्रस्तुत करने के साथ यह प्रसंग यहीं समाप्त कर दिया जायगा। ब्रेडले कहते हैं :-

"साधारण नैतिकता इस विषय पर स्पष्ट मत रखती है कि जब वह अपने लिए तथा किसी अन्य के लिए सत्कर्म हेतु प्रयत्नशील होती है, उसकी दृष्टि पारिश्रमिक एवं पारितोषिक पर कदापि नहीं होती, उसकी सचेतन इच्छा का बिंदु, उसके कार्य की प्रेरणा, संभावित सुख की भावना नहीं होती। उसके समक्ष उस अवसर पर लक्ष्य रूप में कोई वस्तु, कार्य तथा घटना-विशेष ही होती है; उसके समक्ष प्राप्य रूप में उसके अपने तथा अन्य के संवेदनात्मक व्यक्तित्व[3] की आन्तरिक स्थिति विशेष कभी नहीं होती। अस्तु, यह कहना कि सद् की कामना करने का अर्थ सद् द्वारा प्राप्त होने वाले सुख की कामना करना है, तथ्यों के विपरीत विचार

1. Efficient cause.
2. Final cause. इसके लिए 'उद्देश्य कारण' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
3. Feeling self.

व्यक्त करना है। नैतिक चेतना के लिए उक्त भावना केवल अनुगामिनी के रूप में अथवा परिणाम के रूप में ही महत्व रखती है और उसे उसी रूप में स्वीकार करना उचित है। इसके अतिरिक्त कुछ सोचना-उसे ऐसे लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करना, जिसके लिए कार्य अथवा वस्तुगत घटना केवल साधन मात्र है, साधक के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, नैतिक दृष्टिकोण को विपरीत रूप में प्रस्तुत करने के समान होगा''।[1] अस्तु, सुखवाद विद्वान् समीक्षक के मत में, मानवीय संकल्प में विद्यमान निरपेक्ष-आदेश की व्याख्या में सर्वथा असमर्थ है। सुखवाद की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करना हमारा तात्कालिक ध्येय नहीं है, उसे आगामी अध्यायों में प्रस्तुत किया जायेगा। निरपेक्ष आदेश की द्वितीय परिभाषा हमें बुद्धिवाद के क्षेत्र में ले आती है जिसके प्रमुख समर्थक कांट थे।

बुद्धिवाद

इस मत के अनुसार नैतिक आदेश का संबंध संवेदन शक्ति[2] से पृथक् मानव व्यक्तित्व के बौद्धिक तत्व से है। कांट के अनुसार मानवीय संवेदनग्राहिता नैतिक जीवन विषयक समग्र प्रत्यय में एक निषेधात्मक तत्व मात्र है। उसकी निषेधात्मकता का विशिष्ट अर्थ है-वह एक ऐसा तत्व है, जो सदैव अस्वीकृत एवं बहिष्कृत रहता है; जो सदैव प्रतिपक्षी के रूप मानवीय-सद्वृत्ति एवं शुभसंकल्प[3] के समक्ष चुनौती के रूप में विद्यमान रहता है। वह सदैव संघर्ष को, विरोध को, आमंत्रित करने वाला तत्व है और कांट के अनुसार उसका समूल रूप से बहिष्करण ही श्रेयस्कर है। शुभ संकल्प के वास्तविक मूल्य का अनुमान हम प्रतिपक्षी की शक्ति एवं उदंडता के आधार पर लगा सकते हैं-प्रतिपक्षी के रूप में वर्तमान संदर्भ में हमारी सहज-वृत्तियाँ, इच्छाएँ एवं भावनाएँ हैं।

निषेधात्मक शब्द का एक अन्य अर्थ भी होता है-वह जो अभावात्मक होते

---

1. "Ordinary morality is clear that, when it aims at virtue for itself and others, it has not got its eye on wages or perquisites; its motive, in the sense of the object of its conscious desire, is not the anticipated feeling of pleasure. What it has before its mind is an object, an act, or an event, which is not (fot itself at least) a state of the feeling self, in itself or others, To say that, in desiring the right, it proposes to itself a pleasure to be got by the right, is to assert in the face of fact. To the moral mind that feeling is an accompaniment or a consequent, and it may be thought of as such. But, to think of it as more, to propose it as the end to which the act or objective event is the means, – nothing bue the means, is simply to turn the moral point of view upside down".

   Ethical Studies, P. 93.

2. Sensibility संवेदनशक्ति शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है। अन्य संदर्भ में संवेदनात्मक व्यक्तित्व शब्द का भी प्रयोग किया गया है।
3. Goodwill.

हुये भी समग्रता के लिए, पूर्णता के लिए, अनिवार्य हो। अन्य शब्दों में उसे हम अभावात्मक-अनिवार्य तत्व के रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं, जिसे यथोचित संशोधन के उपरांत, हम अन्य तत्वों के साथ समन्वित कर सकते है। दोनों का समग्र समन्वित रूप, उन तत्वों की एकांगिता की अपेक्षा कहीं अधिक वांछनीय सिद्ध हो सकता है। इस अर्थ में ही पूर्णतावाद ने, संवेदन-शक्ति को मानवीय आध्यात्मिक जीवन के अनिवार्य- अभावात्मक[1] तत्व के रूप में स्वीकार किया है। किंतु कांट इस प्रश्न पर भिन्न मत रखते हैं और इसलिए समीक्षक उनके विचारों से सर्वथा असंतुष्ट हैं।

कांट के विरुद्ध जो सर्वविदित आपत्ति प्रस्तुत की जाती है, वह मूलरूप से उनके विचारों की अव्यावहारिकता एवं कठोरता के कारण ही है। अन्य शब्दों में, वे मानवीय संकल्प से ऐसी अव्यावहारिक अपेक्षा रखते हैं, जो उसके लिए असंभव है। उक्त आपत्ति कुछ तथ्य रखती है अथवा नितांत निरर्थक है, इस विषय पर अभी कुछ नहीं कहना है। इस समय इतना ही कहना यथेष्ट है कि कांट का दर्शन अपना विशेष महत्व रखता है। उनके विचारों में, हमें सर्वप्रथम नैतिक चेतना की कतिपय विशिष्टताओं का स्पष्ट एवं यथार्थ परिचय मिलता है। उनके विचारों में ही हमें मानवीय चेतना के विभाजित रूप का स्पष्ट संकेत मिलता है। मानवीय नैतिक चेतना एक सरल इकाई नहीं है। उसके अंदर दो निश्चित तत्व विद्यमान हैं, जो सतत् संघर्ष की स्थिति में रहते है और एक-दूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने की इच्छा रखते हैं। इसके अतिरिक्त मानवीय चेतना के विषय में, उन्होंने एक अन्य तथ्य भी हमारे समक्ष रखा है, जो कि उल्लेखनीय है, करणीय एवं अकरणीय का प्रश्न, नैतिक बाध्यता एवं अनिवार्यता का प्रश्न, केवल एक ऐसी ही चेतना के लिए सार्थक है जो अभी अपूर्ण है, अपने लक्ष्य से दूर है और अविराम गति से उस ओर अग्रसर होने के लिए प्रयत्नशील है। अन्य शब्दों में, मानवीय चेतना, एक ऐसी चेतना है जो अंतर्विरोध एवं उद्विग्नता से निरंतर पीड़ित है। वह निरंतर यह अनुभव करती है कि अपने यथार्थ रूप से भिन्न स्थिति में वह अवस्थित है। वर्तमान संदर्भ में यदि हम ब्रेडले की शब्दावली का प्रयोग करें तो हम प्रतीकात्मक रूप से कह सकते हैं कि वह 'तद्-किम्'[2] शब्द प्रतीक में अभिव्यक्त होने वाली चेतना है। 'तद्' शब्द उसके वर्तमान अपूर्ण, असंतोषप्रद, आंतरिक विरोध की स्थिति को व्यक्त करता है और 'किम्' शब्द उस पूर्णता की ओर संकेत करता है, जिसको पाने के लिए वह व्यथित है, प्रयत्नशील है। एक ऐसे पावन, शुभ, दिव्य संकल्प[3] के लिए, जो अपनी यथार्थ स्थिति में पूर्णरूपेण अवस्थित है, जिसकी प्रशांत, सौम्य स्थिति को कोई भी इच्छा तथा कामना भंग नहीं कर सकती है 'चाहिये' शब्द निरर्थक है, व्यर्थ है। उक्त विचार के समर्थन हेतु ब्रेडले अपनी

---

1. Negative moment.
2. "That-what."
3. Divine will or Holy will.

पुस्तक में विशिष्ट कारण देते हैं :-

"यदि हमारा व्यक्तित्व आंतरिक स्थितियों का क्रममात्र होता, यदि इन सह-अस्तित्वशील एवं क्रमागत तथ्यों के अतिरिक्त वह कुछ और न होता, तब 'चाहिये' शब्द सर्वथा निरर्थक होता। पुनः यदि हमारा व्यक्तित्व विशुद्ध, अमिश्रित संकल्पमात्र होता, जिसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐंद्रिक तत्व का आश्रय न लेना पड़ता तब भी 'चाहिये' शब्द निरर्थक ही होता।"

पुनः वे कहते हैं :-

"एक ही व्यक्तित्व में दो समुपस्थिति तत्वों का विरोध ही 'चाहिये' शब्द का सार है। 'चाहिये' आदेश है-वह एक ऐसे तथ्य को व्यक्त करता है, जो न तो मात्र 'है' और न ही 'नहीं हैं', बल्कि जो है भी नहीं भी है-अन्य शब्दों में जो 'होने को है'।"[1]

अस्तु, नैतिक चेतना का विभाजित स्वरूप तथा उसमें निहित प्रेरणा का परम, निरपेक्ष रूप, दोनों, ही महत्वपूर्ण तथ्य हैं, जिन्हें अपूर्व क्षमता एंव अंतर्दृष्टि के साथ कांट ने प्रस्तुत किया है। निःसंदेह कांट के विचारों में अतिरिक्त कठोरता आ गयी है, किंतु उसने आगे चिंतन का मार्ग प्रशस्त भी किया है।

पूर्णतावाद[2]

पूर्णतावाद को अंग्रेजी में 'यूडिमोनिज्म' भी कहते हैं और 'यूडिमोनिया' का शाब्दिक अर्थ होता है 'आनन्द'। इसके लिए आत्मोत्कर्ष शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसलिए पूर्णतावाद को आत्मोत्कर्षवाद भी कहते हैं। इस मत के अनुसार मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य समग्र व्यक्तित्व का प्रकाशन है। मनुष्य में, बुद्धि एवं भावना, दोनों ही तत्व वर्तमान रहते हैं और दोनों के समुचित समन्वय से उसके व्यक्तित्व के समग्र रूप का प्रकाशन होता है। दोनों का संबंध सावयविक है और दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करना मानवीय व्यक्तित्व की अंतरंग एकता को नष्ट करना होगा। बुद्धि, मानवीय व्यक्तित्व आकारात्मक तत्व[3] है, जो जीवन को सुव्यवस्थित और शृंखलाबद्ध करने की क्षमता रखती है। किंतु ऐंद्रिक तत्व[4] वह विशिष्ट तत्व है, जिसके माध्यम से ही उक्त आकार मूर्तमान इकाई का स्वरूप ग्रहण कर सकता है।

---

1. "If our self were nothing beyond the series of its states, if it were nothing above and beyond these co-existent and successive phenomena, then the word 'ought' could have no meaning. And again, if our self were a pure unalloyed will, realizing itself apart form a sensuos element, the word 'ought' would still be meaningless."....
   "It is the antagonism of the two elements in one subject which is the essence of the ought. The ought is command; it expresses something which neither simply is nor is not, but which both is and is not: something, in short, which is to be"Ethical Studies, P. 146
2. Perfectionism; Eudaemonism.
3. Formal element. आकारिक शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
4. Sensibility.

हमारे नैतिक जीवन के ये दोनों ही अनिवार्य तत्व हैं-आकार एवं उपादान। उपादान के विनष्ट होने से हमारा नैतिक जीवन शून्य हो जायेगा। बुद्धि के प्रत्यय, उसके आदर्श, साकार हो सकें इसके लिए आवश्यक है कि वह अनिवार्य रूप से संवेदन तत्व से संयुक्त हो। दोनों ही अपेक्षित तत्व हैं। कांट के दर्शन की एकांगिता ही आलोचना का प्रमुख विषय थी और उसका इस दृष्टिकोण में संपूर्ण अभाव है।

कांट के विचारों की अपेक्षा 'आत्मोत्कर्षवाद' की एक अन्य विशेषता है। वह 'नैतिक आदेश'[1] के सामान्य रूप को जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में रखते हुये परिभाषित करना चाहता है। नैतिक परिस्थिति के अंतर्गत व्यक्ति-विशेष को यह कैसे ज्ञात हो कि उसके लिए क्या करणीय है अथवा क्या अकरणीय। आत्मोत्कर्षवाद के समर्थकों का उत्तर इस विषय में स्पष्ट है : प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह उस बृहत् समग्र इकाई को पहचाने जिसकी वह सदस्यता ग्रहण किये हुए है, उसमें अपने विशिष्ट स्थान को समझने का यत्न करे और उससे प्राप्त कर्तव्य को पूर्ण निष्ठा और आस्था के साथ यथाशक्ति पूरा करे। उक्त कर्तव्य उस इकाई में समुपस्थित अन्य व्यक्तियों के साथ उसके आंतरिक संबंधों से उत्पन्न होते हैं और इसलिए उसके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए आवश्यक भी होते हैं। मानवीय कर्तव्य से संबंधित इस सत्य को ब्रेडले ने 'मेरा स्थान और तद्जन्य कर्तव्य'[2] सिद्धांत द्वारा व्यक्त किया है। भगवद्गीता ने उसे स्वधर्म के रूप में प्रस्तुत किया है। अपने स्थान से संबंधित कर्तव्य का पालन, प्रत्येक व्यक्ति के लिए वांछनीय है-न केवल उसके अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण की दृष्टि से प्रत्युत् समाज के व्यापक दृष्टिकोण से भी।

वह वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अनिवार्य है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि व्यक्ति अध्यापक है तो अध्यापन ही उसका प्रमुख कार्य है। यदि इस कार्य की वह अवज्ञा करता है तो व्यक्ति न केवल अपने प्रति वरन् संपूर्ण समाज के प्रति दायित्व निर्वाह में असफल रहता है। व्यक्तिगत विकास के दृष्टिकोण से, अपनी हानि तो वह करता ही है, साथ ही विद्यार्थियों एवं उनके परिवारों के हित को भी वह क्षति पहुँचाता है, यह निश्चित है। अपने कर्तव्य के प्रति उसकी उदासीनता का प्रभाव समाज के अन्य सदस्यों पर भी पड़ेगा। इस प्रकार एक अविवेकपूर्ण कार्य से अनेक अनुचित परिणामों की एक ऐसी श्रृंखला का सूत्रपात होता है जो वैयक्तिक एवं दोनों ही दृष्टियों से अपेक्षित नहीं है।

उक्त परिणामों से बचने का एक ही उपाय है, प्रत्येक व्यक्ति को निष्ठा के साथ जो भी कार्य मिले, उसे करना चाहिये और एक ही प्रयास से ही श्रेष्ठ

---

1. Moral imperative.
2. My station and its duties.

लक्ष्यों की समकालिक उपलब्धि से जीवन को सम्पन्न बनाना चाहिये। इसी तथ्य को आत्मोत्कर्षवाद ने 'मेरा स्थान तथा तद्‌जन्य कर्तव्य' सिद्धांत द्वारा व्यक्त किया है। इसके अनुसार मनुष्य का मनुष्य से संबंध अंतरंग है, प्रत्येक का हित परस्पर अभिन्न रूप से संबद्ध है और किसी व्यक्ति के लिए उसकी अवज्ञा करते हुये मात्र अपने हित के लिए कार्य करना अनपेक्षित ही नहीं वरन् असंभव भी है। दोनों हितों में अपूर्व तादात्म्य है-व्यक्ति का निजी सुख एवं संतोष उस समग्रता के सुख एवं संतोष से, जिसमें वह एक निश्चित स्थान ग्रहण किये हुये है, भिन्न नहीं है। इसी तथ्य को व्यक्त करते हुये ब्रेडले कहते हैं:-

"प्रमुख रूप से यदि हम कहें कि सर्वोत्तम समाज वह है जिनके सदस्य "आदर्श व्यक्ति हैं और इसी प्रकार आदर्श व्यक्ति वह है, जो आदर्श समाज की सदस्यता ग्रहण किये हुये है,"[1] तो कुछ अनुचित न होगा। पुनः वे कहते हैं-"आदर्श व्यक्ति एवं आदर्श राज्य की दो समस्याएँ वस्तुतः एक ही समस्या के दो पृथक् किये हुये पक्ष हैं---राज्य का हित और उसके सदस्यों का हित ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हें पृथक् करना भ्रांतिपूर्ण एवं घातक है। वैयक्तिक नैतिकता तथा राजनैतिक एवं सामाजिक संस्थाएँ दोनों का पृथक् अस्तित्व संभव नहीं। और सामान्यतः जितनी समुन्नत, एक होगी उतनी ही अन्य भी होगी। सामाजिक इकाई इसलिए नीतियुक्त है, क्योंकि उसकी मध्यस्थता से व्यक्ति की निजी नैतिकता अभिव्यक्त होती है। इसी प्रकार वैयक्तिक नैतिकता नैतिक है, क्योंकि उसके माध्यम से समग्र नैतिक इकाई अभिव्यंजित होती हैं।"[2]

इसी सत्य को कांट ने बड़े ही अर्थपूर्ण टंग से 'साध्यों के साम्राज्य' प्रत्यय में व्यक्त करने की चेष्टा की है। वह एक ऐसे समाज की कल्पना है जिसमें प्रत्येक बौद्धिक इकाई को समाज के सम्मिलित जीवन में अनिवार्यतः सचेतन सहयोग देना पड़ेगा ।

संकल्प-स्वातंत्र्य

नैतिक चेतना में विद्यमान, निरपेक्ष आदेश के स्वरूप से संबद्ध सिद्धांतों

---

1. "Considered in the main, the best communities are those which have the best men for their members, and the best men are the members of the best communities."...
2. "The two problems of the best man – best state are two sides, two distinguishable aspects of the one problem... the welfare of the state and the wilfare of its individuals are questions which it is mistaken and ruinous to separate. Personal morality and political and social institutions connot exist apart, and (in general) the better the one the better the other, The community is moral, because it realizes personal morality, personal morality is moral, because and in so far as it realizes the moral whole."

Ethical Studies, p. 188.

के संक्षिप्त परिचय के उपरांत, उससे संबद्ध एक अन्य प्रत्यय का, यथा-मानवीय संकल्प स्वातंत्र्य के प्रत्यय का विश्लेषण अनिवार्य है। नैतिक अनिवार्यता का प्रत्यय मानवीय जीवन में तभी सार्थक हो सकता है, जब हम साथ ही यह भी स्वीकार करें कि मानवीय संकल्प नैतिक मूल्यों एवं आदर्श के अनुरूप जीवन व्यतीत करने की क्षमता रखता है। यदि इस संभावना को हम अस्वीकार करते हैं तो अनिवार्यतः हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि नैतिक अनिवार्यता की भावना निर्मूल है, भ्रांतिपूर्ण है और इस विषय के संबंध में हमारी अबोधता का सूचक है।

इस प्रश्न के संबंध में तीन प्रमुख विचार मिलते हैं : (1) नियंत्रणवाद, (2) अनियंत्रणवाद, तथा (3) आत्म-नियंत्रणवाद।

नियंत्रणवाद

नियंत्रणवाद के समर्थक संकल्प-स्वातंत्र्य के प्रत्यय को भ्रांतिपूर्ण मानते हैं। उसके अनुसार वस्तु जगत् में इस प्रत्यय के अनुरूप कोई भी तथ्य नहीं है। प्रकृति एक सुव्यवस्थित इकाई है और वह 'कारणता नियम' द्वारा संपूर्ण रूप से नियंत्रित है। इस नियम के विरुद्ध तथ्यों को स्वीकार करना एवं नियम के अपवाद रूप में सत्य को प्रस्तुत करना इस विषय में अपनी अबोधता को ही व्यक्त करना है।

वर्तमान संदर्भ में मानवीय संकल्प की अनिवार्यता से संबद्ध प्रश्न सहज एवं स्वाभाविक है। हम प्रश्न कर सकते हैं : वह कौन-सी बाध्यता है, जिसके अधीन मानवीय संकल्प कार्य कर रहा है? नियंत्रणवाद के समर्थक प्रत्युत्तर में कहते हैं : वह व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक रचना की अनिवार्यता है। अपने विचार की पुष्टि में हालबैक इस संबंध में एक ऐसे तैराक की उपमा प्रस्तुत करते हैं जिसे अनिवार्यतः धारा के प्राकृतिक प्रवाह के साथ ही चलना है, यद्यपि उस प्रकार चलना, उसकी अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुकूल हो अथवा नहीं। इस प्रश्न पर अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :-

"महत्वाकांक्षी व्यक्ति, कंजूस एवं कामुक व्यक्ति.....सब समान रूप से अपने आंतरिक भावावेशों से प्रेरित हो कर ही विवशतापूर्वक कार्य करते हैं। यह प्रत्येक की मनोवैज्ञानिक रचना का नियम है जिसके विरुद्ध कार्य करना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव नहीं। व्यक्ति सदैव अनिवार्य नियमों के अनुरूप कार्य करता है और उनसे अपने को मुक्त करने का उसके पास कोई भी उपाय नहीं है।[1]"

मानवीय प्रकृति से संबद्ध यह विचार, शीघ्र ही हालबैक के चिंतन में नियतिवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। उनके अनुसार विश्व की घटनाओं के क्रम

---

1. "The ambitious man, the miser, the voluptuary,... all uniformly behave propelled by their respective passions helplessly. These are laws of ones own psychology against which one can not move an inch—he always acts according to necessary laws frow which he has no means of emancipation himself. "System of Nature," from the edited volume, 'An Introduction to Modern Philosophy'. Edward and Pap, p. 318.

में किसी प्रकार के परिवर्तन की कल्पना करना असंभव है। वे कहते हैं :-

"नियति, प्रकृति में व्याप्त शाश्वत, अपरिवर्तनीय अनिवार्यता ही है। परिणाम स्वरूप यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक जगत् को जो अनिवार्यता नियंत्रित करती है, ठीक उसी प्रकार की अनिवार्यता नैतिक जगत् का भी नियंत्रण करती है, जिसमें प्रत्येक वस्तु नियति के अधीन हो जाती है।"[1]

तब क्यों व्यक्ति अपने संकल्प के विषय में, जो वस्तुतः संपूर्णतया नियंत्रित है, सोचता है कि वह संभावनाओं के मध्य चुनाव की क्षमता रखता है? प्रत्युत्तर में अपूर्व उत्साह के साथ हालबैक कहते हैं कि मानवीय संकल्प किसी भी परिस्थिति में स्वतंत्र नहीं। वह स्वंतत्र इसलिए प्रतीत होता है कि हम उन कारणों से अनभिज्ञ हैं, जिनसे वह किसी समय विशेष में नियंत्रित होता है। "अपनी अनभिज्ञता के आधार पर ही मनुष्य अपने स्वतंत्र कार्य के विषय में अनेक प्रकार की भ्रांतियों की स्थापना करता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति कुछ समय के लिए अपने विशिष्ट कार्यों के स्वरूप के निरीक्षण के लिए तैयार हो जाय और उनको नियंत्रित करने वाली प्रेरणाओं की श्रृंखला का पता लगा सके, तो उसे निश्चित रूप से विश्वास हो जायेगा कि उसकी अपनी, व्यक्तिगत सहज अभिकर्तृत्व की भावना कितनी भ्रांतिपूर्ण है, जिसे उक्त अनुभव के आधार पर, शीघ्रता के साथ नष्ट कर देना चाहिये।"[2]

नियंत्रणवाद के समर्थक अनियंत्रणवाद की आलोचना एक ही कारण से करते हैं। उनके अनुसार स्वतंत्र संकल्प का एक ही अर्थ होता है-वह जो संपूर्ण रूप से, अनियंत्रित एवं स्वच्छंद हो। और अपने इस विश्वास में कि मानवीय संकल्प स्वच्छंद एवं अनियंत्रित नहीं है, नियंत्रणवादी, अनियंत्रणवादी की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। मानवीय संकल्प संपूर्णतया अनियंत्रित संकल्प नहीं है। मानवीय संकल्प ही नहीं प्रत्युत प्रकृति के समस्त व्यापार में कोई भी घटना पूर्णतया अनियंत्रित एवं अकारण नहीं होती है। निःसंदेह, कारणता का नियम प्रकृति का सार्वभौम नियम है। उसमें किसी प्रकार के अपवाद की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसी तथ्य को रास ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है :-

---

1. "Fatality is the eternal, the immutable, the necessary order, established in nature : From where it may be seen that the same necessity which regulates the physical also regulates the moral world, in which everything is in consequence submitted to fatality. "Ibid, p. 326.
2. "It is only upon his own ignorance that he founds the profound yet deceitful notion he has of his own free agency... If, for a short time, each man was willing to examine hes own peculiar actions, search out their true motives to discover their concatenation, he would remain convinced that the 'Sentiment' he has of his natural agency, is a chimera that must speedily be destroyed by experience". Ibid,p. 325.

"प्रकृति में इस प्रकार की कोई वस्तु अथवा संभावना नहीं है। यदि विशिष्ट स्थितियाँ विद्यमान हैं तो अनिवार्यतः उनसे संबद्ध स्थितियाँ भी आयेंगी और उनसे भिन्न कोई भी अन्य संभावना घट नहीं सकती।"[1]

नियंत्रणवाद के समर्थक जब यह कहते हैं कि प्रकृति में संपूर्ण रूप से किसी भी अनियंत्रित एवं अकारण घटना का आविर्भाव नहीं होता और मानवीय संकल्प भी इसी प्रकार निश्चित कारणों से सर्वदा नियंत्रित रहता है, तब उनका कथन सत्य ही सिद्ध होता है। किंतु इसके पश्चात् जब वे यह कहते हैं कि मानवीय संकल्पित् कर्मों की श्रृंखला का, एक विशिष्ट अनिवार्यता के साथ आविर्भाव होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि श्रृंखला विशेष की जिन कड़ियों का समय-विशेष में सूत्रपात होता है, उनके अतिरिक्त किसी अन्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, तब वे मानवीय संकल्प के क्षेत्र में और व्यापक रूप से प्रकृति के क्षेत्र में, जिस अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हैं, उसको नियतिवाद कहते हैं और उसका समर्थन किन्हीं भी कारणों से नहीं किया जा सकता। नियंत्रणवाद के प्रमुख तर्क के प्रस्तुतीकरण के उपरांत अब मानवीय संकल्प के स्वरूप से संबंधित द्वितीय प्रत्यय पर विचार व्यक्त किया जायेगा।

अनियंत्रणवाद

अनियंत्रणवाद के समर्थक, मानवीय संकल्प को संपूर्ण रूप से स्वतंत्र मानते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि विरोधी संभावनाओं के मध्य चुनाव करने की पर्याप्त क्षमता मानवीय संकल्प को है और चुनाव के पूर्व वह किसी भी रूप में नियंत्रित नहीं रहता है। अन्य शब्दों में-व्यक्ति के अतीत एवं वर्तमान में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है जो उसे अनिवार्य रूप से किसी विशेष दिशा में कार्य करने के लिए बाध्य करे। चुनाव के पूर्व की स्थिति संपूर्णतया तरल स्थिति होती है। चुनाव के पश्चात् ही हम जान सकते हैं कि व्यक्ति, किस विशिष्ट दिशा में, किन कारणों से अग्रसर होना चाह रहा है अथवा हो रहा है।

इस मत के प्रमुख समर्थक विलियम जेम्स हैं। अपने एक लेख में वे इस विषय पर कुछ महत्वपूर्ण विचार व्यक्त करते हैं। वैज्ञानिक पद्धति एवं उससे प्राप्त निष्कर्ष को जो लोग सहज रूप में स्वीकार करने के अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें जेम्स का यह कथन कि वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्य, समस्तरीय सत्य है, विचित्र अवश्य लगेगा। इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि उनमें से कोई भी सत्य सम्पूर्णतया स्वीकार्य नहीं है। वैज्ञानिक सत्य भी मूलरूप से मात्र

---

1. "There is no such thing or possibility in rerum nature. If certain conditions are present, certain things will happen, and no alternative to them will happen."

Foundations of Ethics, p. 235.

अभ्युपगम[1] ही है। हमारे प्राप्त ज्ञान को शृंखलाबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप देने के लिए वह एक अनिवार्य स्वीकृति है। किंतु वह निश्चित प्रामाणिक सत्यों का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। अपनी अपूर्व शैली में विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि दोनों प्रकार के सत्य 'अज्ञेय देवताओं के लिए वेदी समक्ष हैं'।[2] पुनः वे कहते हैं : "यदि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाय तभी, हम समान रूप से इस विषय पर वाद-विवाद कर सकते हैं। किंतु यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि स्वतंत्रता और वैविध्यता केवल हमारी आंतरिक इच्छाएँ हैं और अनिवार्यता एवं सामान्यता उससे नितांत भिन्न है, तब मेरी समझ में यह नहीं आता कि इस विषय पर किस प्रकार विचार-विमर्श किया जा सकता है।"[3] प्रारंभिक भ्रांतियों को स्पष्ट करते हुए जेम्स दो प्रकार के नियंत्रणवादी दृष्टिकोणों को स्वीकार करते हैं-कठोर एवं अकठोर नियंत्रणवाद, जिनकी पृष्ठिभूमि में वे अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। कठोर नियंत्रणवाद तथा नियतिवाद के अंतर्गत वे स्पिनोजा तथा हालबैक के विचारों को प्रस्तुत करते हैं और अकठोर नियंत्रणवाद के अंतर्गत वे हेगल तथा उनके अनुयायियों को स्वीकार करते हैं। अकठोर नियंत्रणवाद के अनुसार उच्चतम स्वकीय सत्ता द्वारा नियंत्रित होना ही यथार्थरूप में स्वतंत्र होना है। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ, नितांत उच्छृंखलता से कार्य करने में नहीं है वरन् समुचित प्रकार से, उच्चतम प्रेरणाओं द्वारा नियंत्रित हो कर कार्य करने में है। स्वतंत्रता का अर्थ, अन्य शब्दों में, आत्म-नियंत्रित होना है और आत्म-नियंत्रित होने का अर्थ है अपने में विद्यमान उच्च बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्रकृति द्वारा नियंत्रित होना। अप्रत्याशित आकस्मिक घटना का उक्त दोनों ही दृष्टिकोणों में कोई स्थान नहीं। यही कारण है कि अनियंत्रणवाद के अनुसार ये दोनों ही विचार, मानवीय संकल्प की समुचित व्याख्या की दृष्टि से, असंतोषप्रद हैं।

उक्त विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि समस्या का समाधान एक ही प्रश्न के उत्तर पर आधारित है : क्या विश्व में अनभिव्यक्त संभावनाओं [4] का कोई स्थान नहीं ? अन्य शब्दों में, क्या अव्यक्त संभावना एवं संभावनाओं का प्रत्यय, अ-बौद्धिक प्रत्यय है और विश्व के ज्ञेय स्वरूप-इंद्रिय एवं बुद्धि की मध्यस्थता से जाने हुए रूप के साथ, सामंजस्य की स्थापना में सर्वथा असमर्थ है? उनके विचार से 'अव्यक्त संभावना' का प्रश्न इंद्रिय एवं बुद्धि की विषय-

---

1. "Postulate. इसके लिए 'पूर्वधारणा' तथा 'पूर्वमान्यता' का भी प्रयोग किया गया है
2. "Both are altars to unknown gods".
3. "If this be admitted we can debate on even terms. But if anyone pretends that while freedom and variety are, in the first instance, subjective demands, necessity – unifomity are something altogether different, I do not see how we can debate at all. "The dilemma of determinism" in "An Introduction to Modern philosophy, Edward – Pap, p. 328.
4. Unrealized possibilities.

निष्ठ प्रामाणिकता के आधार पर हल नहीं किया जा सकता। अयथार्थ अनभिव्यक्त संभावना के विषय में विषयनिष्ठ प्रामाणिकता कुछ कह सकने में असमर्थ है, कारण उसका संबंध यथार्थ, अस्तित्ववान जगत से है। इसके लिए हमें आत्मनिष्ठ प्रमाणों का आश्रय लेना होगा। इस हेतु जब हम अपनी अनुभूतियों का अध्ययन करते हैं तब हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि संकल्प के पूर्व-चयन एवं निर्णय के पूर्व, समय-विशेष में एक साथ अनेक संभावनाएँ विद्यमान रहती हैं। उनमें से प्रत्येक यथार्थ जगत् में अवतीर्ण होने की क्षमता ही नहीं रखती प्रत्युत् उसके लिए प्रयत्नशील भी रहती है। उन अनेक संभावनाओं में से जो समय-विशेष में समुपस्थित रहती है, केवल एक ही चुनाव संभव होता है। यह मानवीय संकल्प संबंधी एक अनिवार्य मनोवैज्ञानिक सत्य है। अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :-

"संकल्प स्वातंत्र्य यह नहीं कहता कि भौतिक दृष्टि से जो विकल्प संभव हैं, नैतिक दृष्टि से भी वे संभव हैं। वह केवल इतना ही कहता है कि हमारे संकल्प को यथार्थ में प्रेरित करने वाले विकल्पों की संभावना एक से अधिक हो सकती है। वस्तुतः यथार्थ में प्रेरित करने वाली संभावनाएँ, संभावित भौतिक प्रेरणाओं की अपेक्षा मात्रा में बहुत कम हैं। बहुत लोग, जिनमें कार्य की समुचित प्रेरणा विद्यमान रहती है, प्रायः अपने अभिन्न मित्रों की हत्या कर डालते हैं और माताएँ नवजात शिशु का गला घोंट देती हैं।"[1]

उक्त तथ्यों को संभवतः ही कोई अस्वीकार करेगा। मानवीय संकल्पजन्य व्यवहार अत्यंत ही विषम है, इसे तो सभी स्वीकार करेंगे। प्रश्न स्वाभाविक है फिर क्यों जेम्स, अकठोर नियंत्रणवाद, जो उपर्युक्त तथ्यों को स्वीकार करता है, से भिन्न मत रखते हैं? अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए, वे स्वयं कहते हैं कि विवाद, मूलतः एक विशिष्ट शब्द के कारण है; जिसके प्रयोग के साथ अनिवार्यतः कुछ ऐसे प्रत्यय संयुक्त हैं, जो अकठोर नियंत्रणवाद के समर्थकों को रुचिकर नहीं हैं। नियंत्रणवाद एवं अनियंत्रणवाद के मध्य वाद विवाद की विशिष्टता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि विवाद का प्रमुख विषय 'यदृच्छा'[2] शब्द है। मानवीय संकल्प के समक्ष किसी समय विशेष में जो अनेक संभावनाएँ विद्यमान रहती हैं, उन्हें 'आकस्मिक संभावनाएँ' ही कहा जा सकता है। आकस्मिक शब्द उन संभावनाओं के विषय में, निषेधात्मक तथ्य मात्र प्रस्तुत करता है, यथा-कि वे संभावनाएँ

1. "Free will does not say that everything that is physically conceivable, is also morally possible, It merely says that of alternatives that really tempt our will more than one is really possible. Of course, the alternatives that do thus tempt our will are really vastly, fewer than the physical possibilities we can cold fancy. Persons really tempted often do murder their best friends, mothers do strangle their first born". "The dilemma of determinism", in "An Introduction to Modern Philosophy, Edward – Pap, p.334.
2. Chance. आकस्मिक का भी प्रयोग हुआ है।

यथार्थता से संपूर्णतया अनियंत्रित हैं। अन्य शब्दों में, 'आकस्मिक संभावना अस्तित्ववान होने के पूर्व, अन्य वस्तुओं या घटनाओं के द्वारा शासित, प्राप्त अथवा नियंत्रित नहीं होती।"[1] इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं : "उसे आकस्मिक कहने का केवल एक ही अर्थ होता है कि वह किसी भी प्रकार से अनिवार्य नहीं है। वह यथार्थ न हो ऐसा भी संभव है। यथार्थ वस्तुओं की व्यवस्था का उस आकस्मिक वस्तु पर कोई भावात्मक अधिकार नहीं होता। उसका आविर्भाव एक विशिष्ट अर्थ में निषेधात्मक ही होता है : (जब आने को नहीं होती) वह हाथों से फिसलती हुई कहती है 'पकड़ो मत' और जब आती है तब पूर्ण स्वतंत्रता के साथ या फिर आती ही नहीं।"[2]

'आकस्मिक' शब्द का प्रयोग, अनेक ऐसी भ्रांतियों से युक्त है, जिनसे बचना अनिवार्य है किंतु साहचर्य नियम के अनुसार उनसे बचना सरल नहीं। जेम्स के विचारों में भी वे भ्रांतियाँ सहज रूप से आ गयी हैं, जिनके कारण उनके विचारों को उसी रूप में स्वीकार करना कठिन हो जाता है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि समय विशेष में मानवीय संकल्प के समक्ष एक से अधिक संभावनाएँ प्रस्तुत करती हैं। यह भी सत्य है कि उन संभावनाओं का व्यक्ति के पूर्व निर्मित चरित्र, जीवन, तथा उन परिस्थितियों से जिनमें रहते हुए वह कार्य करता है, किसी प्रकार का कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता, जिसके आधार पर, आगामी घटनाओं के क्रम के विषय में हम यह कह सकें कि घटनाओं का क्रम अनिवार्यतः ठीक इसी प्रकार होगा, अन्य प्रकार से नहीं। किंतु, एक अन्य अर्थ के अनुसार वे अनिवार्य भी हैं: वे संभावनाएँ, मानवीय-व्यक्तित्व, उसकी चारित्रिक विशेषताओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप ही होती है, उन विशेषताओं से वे आंतरिक रूप से संबद्ध होती हैं क्योंकि यदि ये विशेषताएँ भिन्न हों तो संभावनाओं में भी तदनुरूप परिवर्तन हो जाना अनिवार्य है। जिस प्रकार का सावयविक संबंध बीज एवं मिट्टी का वृक्ष से होता है, ठीक उसी प्रकार का संबंध उन संभावनाओं का मानवीय व्यक्तित्व तथा उन वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों से होता है जिनसे वे निःसृत होती हैं और जिनसे पुष्ट हो कर वे फलीभूत

---

1. "Is not controlled, secured or necessitated by other things in advance of its own actual presence".
"The dilemma of determinism", p. 332.
2. "All you mean by calling it 'Chance' is that this is not guaranteed, that it may also fall out otherwise. For the system of other things has no positive hold on the chance thing. Its origin is in a certain fashion negative : it escapes and says 'Hands Off; Coming : when it comes: as a free gift or not at all". Ibid, p. 332.

होती हैं। इसी विशिष्ट अर्थ में अतीत तथा वर्तमान हमारे भवितव्य की ओर अनिवार्यतः संकेत करते हैं। हमारा भवितव्य कभी भी अतीत एवं वर्तमान पृष्ठभूमि से पूर्णरूपेण असंबद्ध नहीं होता ; वह संपूर्णतः नवीन तो हो ही नहीं सकता। निःसंदेह मानवीय-संकल्प की यह विशिष्टता 'आकस्मिक' शब्द द्वारा उचित प्रकार से व्यक्त नहीं की जा सकती। इस शब्द के प्रयोग द्वारा इसके विकृत होने की संभावना ही अधिक है।

आत्म-नियंत्रणवाद के समर्थक इस तथ्य को विशेष रूप से स्वीकार करते हैं। साथ ही, वे इस तथ्य को भी हमारे समक्ष बड़ी दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करते हैं कि कोई भी पूर्ववर्ती स्थिति, चारित्रिक एवं परिस्थितगत विशेषता कितनी भी सबल क्यों न हो मानवीय संकल्प को संपूर्ण एवं अनिवार्य रूप से नियंत्रित करने में सर्वथा असमर्थ है। अंतिम रूप से निर्णायक एवं नियंता व्यक्ति स्वयं है जो संकल्प को नियंत्रित करने की, उसे समुचित प्रेरणा देने की, अपूर्व क्षमता रखता है, किंतु, स्वयं किसी भी स्थिति से-आत्मगत अथवा वस्तुगत, यंत्रवत संचालित नहीं होता। कांट उसे अनुभव-सापेक्ष तत्वों से पृथक् करते हुए शुद्ध अहम् [1] तथा अनुभवातीत इकाई[2] की संज्ञा देते हैं। जिस सिद्धांत में इस विशुद्धात्मा को मानवीय संकल्पजन्य व्यवहार के विश्लेषण में इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, उसे आत्म-नियंत्रणवाद के नाम से प्रस्तुत किया जाता है। आत्म-नियंत्रणवाद में आत्मा शब्द से जिस सत्ता का बोध होता है, उसे तात्विक एवं दार्शनिक व्यक्तित्व[3] भी कहते हैं।

बाह्य दृष्टि से अनियंत्रणवाद की नियंत्रणवाद के विरुद्ध आलोचना कितनी ही कठोर क्यों न हो, उक्त सत्य को जेम्स ने स्वयं स्वीकार किया है। 'आकस्मिक संभावना' का स्पष्टीकरण करते हुए वे स्वयं कहते हैं :-

"क्या वे सभी समान रूप से हमारे उदाहरण में दिये हुए डिविनटी तथा आक्सफोर्ड पथ नहीं हैं; क्या वे सभी उस प्रकार की वस्तुएँ नहीं हैं जो यहाँ हैं और मूलरूप से यथार्थ जगत् की रचना एवं प्रकृति से संबंधित है? क्या किसी व्यक्ति में ऐसी वस्तु सृजन की इच्छा उठती है, जो संपूर्णतया आकस्मिक हो और जो विश्व की अन्य वस्तुओं के लिए अनावश्यक हो? क्या मानवीय संकल्प को उद्विग्न करने वाली समस्त प्रेरणाएँ-मानवीय संकल्प के समक्ष भवितव्य के रूप में प्रस्तुत होने वाली सभी संभावनाएँ, समानरूप से हमारे अतीत से संबद्ध नहीं हैं? और क्या उनमें से एक भी ऐसी है, जो चाहे अकस्मात अथवा अनिवार्य रूप से

---

1. Pure ego. विशुद्धात्मा का भी प्रयोग किया गया है।
2. Transcendental Unity of Apperception.
3. Metaphysical I.

उत्पन्न हुई हो, अभिव्यक्ति के ही क्षण में व्यक्ति के अतीत के साथ अपूर्व रूप से समन्वित नहीं हो जाती है और अन्य समुपस्थित तत्वों के साथ तारतम्यता एवं संपूर्णता के अंगुलिमध्यस्त नहीं हो जाती।"[1]

उक्त उद्धरण में 'अकस्मात्' शब्द से विशेष आसक्ति होने के उपरांत भी जेम्स इस बात पर स्पष्ट हैं कि जीवन की कोई भी संभावना, जो संकल्प के समक्ष समय-विशेष में प्रस्तुत होती है, जीवन से नितांत रूप से असंबद्ध नहीं होती। डिविनटी तथा आक्सफोर्ड पद का उदाहरण उक्त तथ्य का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त वे कुछ नहीं कहते। किंतु मानवीय संकल्प की यथार्थ प्रकृति को यदि हमें समझना है तो हमें अनुभवातीत सत्ता[2] के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा जिसके महत्व की ओर संकेत किया जा चुका है।

आत्म-नियंत्रणवाद

आत्म-नियंत्रणवाद उपर्युक्त एकांगी मतों के मध्य (विशिष्ट अर्थों में) समन्वय स्थापित करने वाला सिद्धांत है। समन्वय स्थापित करने वाला यह सिद्धांत उक्त दोनों विचारों का योग मात्र ही नहीं है, प्रत्युत् वह समस्या पर एक नूतन दृष्टि-कोण से विचार का परिणाम है और इसलिए महत्वपूर्ण भी है। आत्म-नियंत्रणवाद, संकल्प की स्वतंत्रता में विश्वास रखता है। वह व्यावहारिक सहज-बुद्धि के साथ विश्वास करता है कि नैतिक दायित्व की भावना और उसके अनुरूप कार्य करने की क्षमता व्यक्ति में विद्यमान है। कांट ने उसी तथ्य को अपने ढंग से नीति के प्रथम अभ्युपगम[3] के रूप में स्वीकार किया हैः आप कर सकते हैं, इसलिए जीवन में करणीय एवं अकरणीय का प्रश्न उठता है।[4] किंतु इस कथन में जिस स्वतंत्रता को स्वीकार किया गया है वह अनियंत्रणवाद में स्वीकृत स्वतंत्रता से भिन्न है। आत्म-नियंत्रणवाद के समर्थक जिस स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं, वह कारणता नियम[5]

---

1. Are they not one and all alike the divinity avenue "dOxford street of our example, all of them kinds of things already here and based in the existing frame – nature? Is any one ever tempted to produce an absolute accident, something utterly irrelevant to the rest of the world ? Do not all the motives that assail us, all the futures that offer themselves to our choice, spring equally from the soil of the past, – would not either on of them, whether realized through chance or through necessity, the moment it was realized, seemed to us to fit that past and in the completest and most continuous manner to interdigitate with the phenomena already there."
   "The dilemma of determinism", 333-34.
2. Trans-empirical; Transcendental reality, उक्त संदर्भ में अतिवर्ती तथा प्रागानुभविक शब्द भी प्रयुक्त होता है।
3. Postulates of morality. 'पूर्वधारणा' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।
4. Thou oughtst, therefore, thou caust.
5. Causality.

के विपरीत, उसका अतिक्रमण करने वाली स्वतंत्रता है[1] और उसको स्वीकार करने में उन्हें किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं होता। उक्त विचार के संदर्भ में कैम्पबेल के विचार महत्वपूर्ण हैं। अपने एक लेख में वे नियंत्रणवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि नियंत्रणवाद सरल निरूपाधिक कथन 'के अन्य ढंग से कार्य कर सकता था,' को, सोपाधिक कथन 'यदि परिस्थितियाँ भिन्न होतीं, चरित्र भिन्न होता अथवा निर्णय भिन्न होता....., में परिवर्तित कर देता है। वह इसलिए ऐसा करता है, क्योंकि कार्य-कारण नियम में उसकी अखंड आस्था है और जीवन में वह किसी ऐसे क्षेत्र की उपस्थिति को स्वीकार नहीं करता जो उसके समक्ष अपवाद रूप में प्रस्तुत किया जा सके। कैम्पबेल स्वयं संकल्प स्वातंत्र्य की संभावना को भ्रांतिपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार इस प्रश्न का हल वस्तुनिष्ठ प्रमाणों के आधार पर नहीं वरन् आत्मनिष्ठ प्रमाणों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। संकल्पजन्य कर्म का रूप सृजनात्मक होता है। इसलिए उसके स्वरूप के अध्ययन के लिए, अनुभव की, अंतः निरीक्षण की आवश्यकता होती है। भाषा की विशेषताओं का कितना भी अध्ययन हम क्यों न करें, समस्या के हल के निकट पहुँचना असंभव है। अतः निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि संकल्पजन्य व्यवहार स्वतंत्र अनवरुद्ध सहज क्रिया रूप में होता है। उसके विषय में कैम्पबेल कहते हैं :-

"जिन स्थितियों में कर्त्तव्य एवं इच्छा परस्पर विरोध में आते हैं, नीति-संबंधी चुनाव करने वाले कर्ता के लिए अपनी स्वकीय इकाई सर्जनात्मक रूप से सक्रिय दिखाई देती है वह एक ऐसी इकाई के रूप में परिलक्षित होती है, जो (किन्ही स्थितियों में भी) अपने पूर्व निर्मित चरित्र से तादात्म्य स्थापित करने के लिए प्रस्तुत नहीं। ऐसा इसलिए नहीं कि व्यक्ति उन क्षेत्रों में भी जिनमें सहज रूप से संकल्प स्वातंत्र्य की कल्पना की जा सकती है, समझता है कि उसके चरित्र का निजी संकल्प पर कोई अधिकार नहीं। विपरीततः संकल्प स्वातंत्र्य विषयक यह सत्य उन अनुभवों द्वारा सत्यापति तथ्यों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है, जिनमें कर्तव्य एवं पूर्वनिर्मित चारित्रिक प्रवृत्ति के विरोध के अनुपात में कर्तव्य-पालन हेतु समुचित प्रेरणा एकत्र करने का कार्य उत्तरोत्तर कठिन होता जाता है।"[2]

1. Centra-causal freedom, वस्तुतः यह स्वतंत्रता कारणता के नियम के विपरीत एक विशेष अर्थ में ही है। कारणता का अतिक्रमण करने वाली यह स्वतंत्रता उससे नियंत्रित नहीं होती।
2. "To the agent making a moral choice in the situation where duty clashes with desire, his 'self' is known to him as a creatively active self, a self which declines to be identified with his 'character' as so formed. Not, of course that the self's character let it be added to obviate misunderstanding either is or is supposed by the agent to be, devoid of bearing upon his choices, even in the 'Sector' in which free will is held to operate. On the contrary, such a bearing is manifest in the empirically verifiable fact that we find it "harder" (as we say) to make the effort of will required to "rise to duty" in proportion to the extent that the dutiful course conflicts with the course to

उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा कैम्पबेल केवल इतना कहना चाहते हैं कि किसी भी ऐसे कार्य का दायित्व व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जो उसकी चारित्रिक पृष्ठभूमि के साथ समन्वय स्थापित नहीं कर पाता और ऐसे ही कार्य के करने में वह अपने को वास्तविक अर्थ में स्वतंत्र समझता है। ऐसे कार्यों को स्वीकार करने में तथा उन्हें करने में, वह अपनी अतीत एवं वर्तमान परिस्थितियों द्वारा मूक रूप से संचालित करने के लिए स्पष्टता इन्कार कर देता है।

अनियंत्रणवाद प्रस्तुतीकरण में उपर्युक्त बात को पर्याप्त स्पष्टता के साथ प्रस्तुत नहीं किया गया है। स्वतंत्रता का यथार्थ अर्थ व्यक्तिगत व्यक्तित्व के अतिक्रमण की सहज क्षमता में निहित होता है और व्यक्तित्व का अर्थ वर्तमान संदर्भ में व्यक्ति का स्वतः निर्मित चरित्र होता है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत चरित्र के अतिक्रमण की अपूर्व क्षमता ही नहीं रखता प्रत्युत् उसमें अतीत एवं वर्तमान के समस्त नियामक तत्वों से मुक्त हो कर कार्य करने की क्षमता भी विद्यमान है। अतीत में इसी प्रकार के स्वतंत्र कार्यों द्वारा उसने अपने चरित्र का निर्माण किया है और भविष्य में इसी प्रकार के स्वतंत्र कार्यों द्वारा वह अपने स्वतः निर्मित चरित्र में आमूल परिवर्तन भी ला सकता है। निःसंदेह, उसके व्यक्तित्व में निहित स्वतंत्र कर्तव्य की क्षमता दोनों प्रकार के कार्यों द्वारा व्यंजित होती है। इसलिए, कैम्पबेल के विचारों से सहमत होते हुये इतना अवश्य कहना है कि दोनों प्रकार के कार्यों में जहाँ इच्छा एवं विवेक में सहज सामंजस्य रहता है तथा जहाँ दोनों में स्थायी विरोध होता है, कार्य-कारण श्रृंखला का अतिक्रमण करने वाली आत्मा[1] अनिवार्य रूप से स्वीकृत रहती है। कांट ने उक्त तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार किया है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि कार्य-विशेष की नैतिकता उतनी ही मात्रा में उत्कृष्ट होती है, जितनी मात्रा में हम उस स्थान में भी जहाँ इच्छा एवं कर्तव्य में सहज सामंजस्य होता है, इच्छा की अवज्ञा कर केवल कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित होकर कार्य करें। आत्म-नियंत्रणवाद अभावात्मक एवं भावात्मक, दोनों तत्वों को अपने में समाहित किये हुए है। अपने अभावात्मक पक्ष द्वारा वह नियंत्रणवाद एवं अनियंत्रणवाद-दोनों मतों को अस्वीकार करता है। स्वतंत्रता को उच्छृंखलता, स्वच्छंदता तथा आकस्मिक रूप से कार्य करने की वृत्ति के रूप में, स्वीकार करने वाले अनियंत्रणवाद के विरुद्ध वह नियंत्रणवाद के साथ एकमत होकर स्वीकार करता है कि मानवीय संकल्प एवं चुनाव कभी आकस्मिक नहीं हुआ करते। वे सदैव समुचित कारण से नियंत्रित हुआ करते हैं। किंतु, नियंत्रणवाद की भाँति वह यह स्वीकार नहीं करता कि मानवीय संकल्प पूर्ववर्ती स्थितियों, चारित्रिक विशेषताओं एवं वर्तमान स्थितियों द्वारा यंत्रवत् नियंत्रित होता है। जब

---

which our character as so formed inclines us." Is free will a psuedo problem?, Mind, 1951 reproduced in 'An Introduction to Modern Philosophy, p, 379

1. Contra-causal self.

इनमें से किन्हीं एक अथवा अनेक तत्वों द्वारा वह नियंत्रित होता है, तब उसका नियंत्रण निश्चिततः स्वतंत्र रूप से होता है।

नियंत्रणवाद के विरुद्ध, आत्म-नियंत्रणवाद संकल्प की बाध्यता को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करता है। मानवीय संकल्प, किन्हीं भी नियामक तत्वों द्वारा मूक रूप से जड़ तत्वों की भाँति संचालित नहीं होता। जब मनूष्य इनके द्वारा संचालित होना स्वीकार करता है तो वस्तुतः इससे पूर्व वह इन तत्वों का तटस्थ होकर निरीक्षण करता है, अपने भवितव्य की दृष्टि से जीवन में इनके महत्व को समझने की चेष्टा करता है और इसके उपरांत जब व्यक्तिगत हित एवं अहित की दृष्टि से उन्हें स्वीकार करने योग्य पाता है तभी कार्यों की प्रेरणा के रूप में उन्हें स्वीकार करता है। अस्तु, प्रत्येक निर्णय की पृष्ठभूमि में संकल्प के समुचित संचालन का भार एक ऐसे तत्व पर है, जो स्वतंत्र निर्णय की क्षमता रखता है तथा जो मूल रूप से जड़ तत्वों की भाँति नियंत्रित होने से स्पष्ट इन्कार कर देता है। विश्व का कोई भी प्रलोभन कितना भी गरिमावान क्यों न हो, उसे तभी संचालित करने की क्षमता रखता है, जब उसे वह अपने 'शुभ' के रूप में सहज रूप से स्वीकार कर लेता है। इस सत्ता को आत्म-नियंत्रणवाद, स्पष्टतः सबसे महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार करता है और इसी की सहज स्वीकृति उसे नियंत्रण-वाद से पृथक् करती है।

कैम्पबेल की भाँति रॉस अनियंत्रणवाद के विरुद्ध विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हमारा कोई भी संकल्प आकस्मिक नहीं हुआ करता। अन्य व्यक्तियों में जो साधारणतया हमारा सहज विश्वास हो जाता है, तथा विश्वास-पात्र व्यक्ति के अप्रत्याशित रूप से विपरीत दिशा में कार्य करने पर जो हम आश्चर्य व्यक्त करते हैं और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आदतों के निर्माण पर जो विशेष बल दिया जाता है, ये सभी तथ्य इस बात के सहज प्रमाण हैं कि नियंत्रणवाद अनियंत्रणवाद की अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट है। रॉस के अनुसार निःसंदेह मानवीय चरित्र, मानवीय व्यवहार को विशेष अर्थ में नियंत्रित करता है। इनके अनुसार अनियंत्रणवाद 'मानवीय चरित्र की तारतम्यता से संबंधित विश्वास के साथ असंगत है', इसलिए उचित नहीं है। हमारे यथार्थ नैतिक निर्णय इस बात के प्रमाण हैं कि हम उसकी तारतम्यता में सहज विश्वास रखते हैं यद्यपि हम यह भी स्वीकार करते हैं कि वह एक ऐसी परिवर्तनीय तारतम्यता है जो भलाई और बुराई दोनों ही दिशाओं में परिवर्तित हो सकती है।[1]

रॉस का उक्त कथन, जिसमें वह तारतम्यता की परिवर्तनीयता को

1. "In consistent with belief in the continuity of human character."........."Our actual moral judgments are evidence that we do believe in its continuity though, we think it a continuity that admits of modification for better or for worser." Foundation of Ethics, p. 246; also p. 244.

स्वीकार करते हैं, महत्वपूर्ण है। किंतु उक्त स्वीकृति में निहित सत्य को उन्होंने स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की। कैम्पबेल का मानवीय संकल्प की प्रकृति का विश्लेषण रॉस की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, उपयुक्त एवं पूर्ण है। वे कार्य-कारण शृंखला का अतिक्रमण करने वाली स्वतंत्रता को स्पष्ट स्वीकार करते हैं और आत्मा को उस स्वातंत्र्य से एकरूप मानते हैं। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ है, अतीत का वह क्रम, जिसे व्यक्ति ने स्वयं समान स्वतंत्र कार्यों द्वारा निर्मित किया है; उसके पूर्णरूपेण अतिक्रमण की क्षमता।

इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अति प्राचीन काल से उक्त विचारों का प्रतिपादन आध्यात्मवादी विचार-परंपरा के अंतर्गत होता आया है। स्पिनोजा भी, जिन्हें कि नियंत्रणवाद के समर्थक के रूप में साधारणतया स्वीकार किया जाता है, मानवीय व्यक्तित्व के लिए 'ज्यामितीय अनिवार्यता'[1] से पृथक् एक भिन्न प्रकार की स्वतंत्रता की कल्पना करते हैं। 'ज्यामितीय अनिवार्यता' का वे व्यावहारिक जगत्[2] से संबंधित सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं और पारमार्थिक सत्य के रूप में वे कार्य-कारण शृंखला का अतिक्रमण करती हुयी स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं।[3]

उक्त विवेचन के साथ, नैतिक क्षेत्र का हमारा यह प्रारंभिक निरीक्षण समाप्त होता है। कौन-सी विशिष्ट समस्याएँ इसके अंतर्गत आती हैं और उनके समाधान के लिए समय-समय पर कौन से प्रमुख सिद्धांत प्रतिपादित हुए हैं, इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इंनका विस्तृत अध्ययन आगामी अध्यायों का विषय होगा। किंतु, इस प्रारंभिक परिचय को समाप्त करने से पूर्व हम इस विषय से संबंधित एक नितांत आधुनिक दृष्टिकोण से-जिसे संवेगवाद[4] कहते हैं, परिचित होना चाहेंगे। इस दृष्टिकोण का संबंध मूल रूप से 'तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद'[5] से है और, क्योंकि, नैतिक प्रश्नों के प्रति इसका दृष्टिकोण निषेधात्मक है, इसलिए उसमें उपर्युक्त सभी मतों का खंडन मिलेगा। इस विशेषता के कारण यह अपना पृथक रूप से महत्व भी रखता है, अतएव नीति-विज्ञान की पुस्तक में इसे स्थान देना अनिवार्य है।

तर्कीय प्रत्यक्षवाद एवं मूल्यात्मक निर्णय

तर्कीय प्रत्यक्षवाद (अथवा तर्कनिष्ठ अनुभववाद) उस सीमांत अनुभववादी

---

1. Geometrical necessity.
2. Phenomenal इस संदर्भ में 'प्रपंचात्मक' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।
3. इस प्रश्न पर देखिए 'स्पिनोजा'—जौन क्यैरड, पृ. 270-71.
4. Emotive theory इसे संवेगात्मक सिद्धांत भी कहते हैं।
5. Logical positivism. इसे तर्कीय अनुभववाद अथवा तर्कीय प्रत्यत्यवाद भी कहते हैं।

दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है, जिसके अनुसार अर्थ एवं मूल्य सत्यापन[1] के साथ एकरूप हुआ करते हैं। कोई भी वाक्य जो सत्यापन प्रक्रिया द्वारा असंतोषप्रद सिद्ध होता है, वह मत के अनुसार अर्थशून्य है। अपनी पुस्तक में, 'ऐयर' कहते हैं कि समस्त संश्लेषणात्मक निर्णय[2] अनुभवजन्य अभ्युपगम हैं। उक्त विचार का समर्थन इस मत के सभी विचारकों ने किया है, इसके साथ ही वे एक अन्य विचार भी व्यक्त करते हैं कि समस्त निर्णय जो सत्यापन-प्रक्रिया द्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते, वे वाक्याभास[3] अथवा निर्णयाभास हैं।

उक्त विचारों के साथ ही तर्कीय प्रत्यक्षवाद मूल्यात्मक निर्णयों क स्वरूप को भी प्रस्तुत करता है। मूल्यात्मक निर्णयों को यदि यथार्थ में 'निर्णय' मान लिया जाय तो तर्कीय प्रत्यक्षवाद के लिए उक्त स्वीकृति घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिए अपनी प्रमुख धारणा को स्वीकार करते हुए, उसके समर्थन के लिए वे तथ्यों के विपरीत समस्त मूल्यात्मक निर्णयों को निर्णयाभास के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'स्यूडो' शब्द का अर्थ होता है, जो वस्तुतः मिथ्या हो किंतु यथार्थ प्रतीत हो। क्योंकि नैतिक निर्णय, मूल्यात्मक निर्णयों के अंतर्गत आता है, इस कारण मूल्यात्मक निर्णय की सामान्य विशेषता नैतिक निर्णय की भी स्थायी विशेषता होती है।

प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर मूल्यात्मक निर्णय है क्या ? ऐयर तथा उनके वर्ग के विचारकों के अनुसार वे व्यक्ति की आंतरिक मनःस्थिति एवं प्रतिक्रियाओं की सहज अभिव्यंजना मात्र है। यदि हम उनके स्वरूप को उचित रूप से व्यक्त करना चाहते हैं तो हमें प्रत्येक निर्णय के समक्ष विस्मयसूचक चिह्न का (जैसे आह! ओह! आदि में होता है) प्रयोग करना होगा जो व्यक्ति की वस्तुगत परिस्थितियों के प्रति आंतरिक भावनात्मक प्रतिक्रिया को व्यक्त करने वाले चिह्न हैं। उन भावनात्मक आंतरिक प्रतिक्रियाओं की शब्द प्रतीकों द्वारा वस्तुगत अभिव्यक्ति सहज है किंतु अनिवार्य नहीं। ऐसी बहुत-सी आंतरिक अनुभूतियाँ, शब्दों द्वारा व्यंजित नहीं हो पातीं, किन्तु दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ, जो शब्दों में व्यक्त होती हैं और जो नहीं हो पाती हैं, अपनी आंतरिक रचना एवं प्रकृति में समान हैं। इसीलिए इस सिद्धांत को 'संवेग सिद्धांत' कहते हैं। इस मत को व्यक्त करने के लिए तथा इससे सादृश्य रखने वाले एक अन्य सिद्धांत से पृथक् करने के लिए "नव्य विषयिनिष्ठतावाद"[4] अथवा व्यक्तिनिष्ठतावाद शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

---

1. Verification.
2. Synthetic judgments.
3. Psuedo sentence; Psuedo proposition. तर्कवाक्याभास शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।
4. Neo-subjectivism, इस संदर्भ में नव्य–विषयोनिष्ठवाद शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्राचीन 'व्यक्तिनिष्ठतावाद' ने नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं व्यक्त किया था। किंतु आधुनिक विचारकों ने उक्त प्रश्न पर स्पष्ट विपरीत विचार व्यक्त किये हैं। ऐयर कहते हैं : "नीति-संबंधी प्रतीक की उपस्थिति से उसकी तथ्यात्मक अंतर्वस्तु में कोई भी अंतर नहीं आता।"[1] विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि शुभ एवं अशुभ, उचित एवं अनुचित संबंधी प्रत्यय जब नियामक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं (और नीति-विज्ञान सदैव उन्हें वर्णनात्मक प्रतीक के रूप में नहीं, प्रत्युत् नियामक प्रतीक के रूप में ही स्वीकार करता है) तब वे मात्र नैतिक स्थायीभाव को ही सूचित करते हैं। इसलिए सत्य एवं असत्य के क्षेत्र से पृथक् होने के कारण वे अविवादास्पद हैं और उनके खंडन का प्रश्न ही नहीं उठता। नैतिक निर्णयों के खंडन-मंडन पक्ष पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं : "जब हम किसी कार्य-विशेष के लिए कहते हैं कि वह अनुचित है, तब हम उसके विषय में किसी प्रकार का तथ्यात्मक निर्णय नहीं देते, अपनी मनःस्थिति के विषय में भी नहीं। हम मात्र कतिपय नैतिक स्थायी भावों [2] को व्यक्त कर रहे हैं और वह व्यक्ति जो मेरा विरोध कर रहा है, केवल अपनी-व्यक्तिगत भावनाओं को ही व्यक्त कर रहा है। इसलिए, यह पूछना कि, दोनों में से कौन उचित है, नितांत निरर्थक है, क्योंकि दोनों में से कोई भी वास्तविक निर्णय नहीं दे रहा है।"[3] मूल्यात्मक निर्णय के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए ऐयर पुनः कहते हैं :-

"यह उल्लेखनीय है कि नैतिक शब्द मात्र भावनाओं को व्यक्त ही नहीं करते, उन्हें उत्तेजित भी करते हैं ताकि उनके द्वारा कार्यों के लिए प्रेरणा प्राप्त की जा सके। वस्तुतः उनमें से कुछ तो इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं कि जिन वाक्यों में वे विद्यमान हैं, वे आदेश का रूप ग्रहण कर सकें। अतएव 'सत्य बोलना तुम्हारा कर्तव्य है' वाक्य दोनों ही रूपों में स्वीकार किया जा सकता है, वह सत्य के प्रति हमारी नैतिक भावना को व्यक्त करने वाला भी हो सकता है और आदेशवत् भी हो सकता है-यथा 'सत्य बोलो'। 'तुमको सत्य बोलना चाहिए' वाक्य में भी 'सत्य बोलो' आदेश विद्यमान है किंतु आदेश का रूप उतना स्पष्ट नहीं और 'सत्य बोलना

---

1. "The presence of an ethical symbol in a proposition adds nothing to its factual content."

   Language, Truth – Logic, p. 107.

2. Moral sentiments.

3. "For in saying that a certain type of action is wrong, I am not making only factual statement, not even a statement about my own state of mind. I am merely expressing certain moral sentiments. And the man who is ostensibly contradicting me is merely expressing his moral sentiments. So that there is plainly no sense in asking which of us is in the right. For neither of us is asserting a genuine proposition."

   Language, Truth – Logic, pp. 107-8 –109.

उचित है' वाक्य में तो आदेश मात्र एक सुझाव ही रह गया है।"[1]

उपर्युक्त विश्लेषण रोचक तो अवश्य है, किंतु नैतिक प्रतीकों, यथा कर्तव्य, चाहिए, शुभ आदि में आदेश के स्वरूप में जो क्रमिक शिथिलता आती दिखाई देती है, वह उचित नहीं। नैतिक आदेश का यथार्थ रूप 'चाहिए' शब्द प्रतीक द्वारा ही उचित रूप से व्यक्त होता है और इस संबध में कांट का विश्लेषण अधिक उचित प्रतीत होता है। उसके स्वरूप से संबद्ध अन्य विचारों का भी यथास्थान वर्णन किया जा चुका है। अपने दृष्टिकोण से वे सभी उचित हैं, किन्तु उन सभी में कुछ अपूर्णताएँ भी हैं। जिनके विषय में विचार आगामी अध्यायों में प्रस्तुत किया जायेगा। किंतु तर्कीय प्रत्यक्षवाद का विश्लेषण अपूर्व है। इस प्रकार का मत अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।

एक बात तो निश्चित है कि प्राचीन व्यक्तिनिष्ठतावादिता से इनका दृष्टिकोण भिन्न है। प्राचीन व्यक्तिनिष्ठतावादी नैतिक निर्णयों को वस्तुगत मानते थे। वे उन निर्णयों को आंतरिक जगत् की स्थितियाँ की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे। इस दृष्टि से वे सत्य और असत्य भी हो सकते हैं। किंतु नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावादी नैतिक निर्णय को 'निर्णय' की संज्ञा ही नहीं देना चाहते। अन्य शब्दों में, उनके अनुसार नैतिक निर्णय का तथ्यों से कोई संबंध नहीं और जिसका तथ्यों से कोई संबंध नहीं, वह 'निर्णय' कैसे हो सकता है? निर्णय तथ्यों के विषय में निश्चित सूचना देने की चेष्टा करता है और वे तथ्य ही अंत में उसके सत्यापन का आधार होते हैं। नैतिक निर्णय बाह्य एवं आंतरिक जगत् से संबंधित किसी तथ्य के विषय में सूचना देने का प्रयास नहीं करते, इसलिए उनके सत्यापन का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता।

इन दोनों दृष्टिकोणों के अंतर को सरलतापूर्वक पहचाना नहीं जा सकता क्योंकि आंतरिक अनुभूतियों एवं प्रतिक्रियाओं और उनकी शाब्दिक अभिव्यक्तियों में परस्पर सूक्ष्म एवं अंतरंग संबंध है। आंतरिक अनूभूतियाँ ही शब्द-माध्यम से मूर्तमान हो कर 'निर्णय' का रूप ग्रहण कर लेती हैं। दोनों में अपरिवर्तनीय सहवर्तन[2] का संबंध है। किंतु, कभी-कभी कुछ विशिष्ट अनुभूतियाँ शब्दबद्ध नहीं हो पातीं। उस

---

1. "It is worth mentioning that ethical terms do not serve only to express feeling. They are calculated also to arouse feeling, so to stimulate action. Indeed some of them are used in such a way as to give sentences in which they occur the effect of commands. Thus the sentence 'It is your duty to tell the turth' may be regarded both as the expression of a sort of ethical feeling about truthfulness and as the expression of the command 'Tell the truth'. The sentence "You ought to tell the truth' also involves the command "Tell the truth" but here the tone of the command is less emphatic. In the sentence 'It is good to tell the truth.' The command has become little more thana suggestion". Ibid, p. 108.
2. Invariable concomittance. नियति साहचर्य का भी प्रयोग हुआ है।

स्थिति में वे अव्यक्त एवं अमूर्त ही रह जाती हैं। शब्दबद्ध होना उन अनुभूतियों का आकस्मिक गुण है। इस अंतर को सहज में स्वीकार नहीं किया जाता किंतु, यही अंतर दोनों मतों की विपरीतता का महत्वपूर्ण बिंदु है। विशुद्ध, आत्मगत, आंतरिक-अनुभूतियाँ एवं प्रतिक्रियाएँ तथ्यात्मक नहीं, इसलिए उन्हें ऐसे शब्द-प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया जाना चाहिए जिनके साथ तथ्यात्मक विषयों का कोई संबंध ही न हो। इसीलिए प्रत्येक ऐसे प्रतीकों के समक्ष विस्मयसूचक चिह्नों का प्रयोग करना चाहिए। प्राचीन काल से, उन चिह्नों के प्रयुक्त न होने से विचारकों के मस्तिष्क में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ उत्पन्न होती आयी हैं, जिससे निरर्थक वाद-विवाद होता आया है और व्यर्थ ही चिंतन शक्ति का इतना अपव्यय हुआ है।

निर्णय के क्षेत्र से, नैतिक निर्णयों को पृथक् कर लेने के कारण नव्य-व्यक्तिनिष्ठवादी, अनेक आलोचनाओं से बच गये हैं। उनका मत अविवादास्पद हैं। वह आलोचना की परिधि से बाहर है क्योंकि नैतिक निर्णय सत्यापन की प्रक्रिया द्वारा स्थापित नहीं किये जा सकते। अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए ऐयर कहते हैं :-

"नीति-विज्ञान केवल इतना ही कहना चाहेगा कि नैतिक प्रत्यय संप्रत्ययाभास[1] है और इसीलिए अविश्लेषणीय है। भिन्न-भिन्न नैतिक प्रत्यय पृथक्-पृथक् जिन भावनाओं को व्यक्त करना चाहते हैं अथवा जिन प्रतिक्रियाओं को वे उत्तेजित करना चाहते हैं, उसको व्यक्त करना मनोवैज्ञानिक का कार्य है। यदि नीति-विज्ञान से हम नीति संबंधी प्रत्ययों की सुव्यवस्थित प्रस्तुति समझते हैं तो नीति-विज्ञान जैसा कोई विज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि हम देख चुके हैं कि नैतिक निर्णय भावनाओं की मात्र अभिव्यक्ति है, इसीलिए नैतिक-व्यवस्था की प्रामाणिकता को स्थापित करने के लिए न तो हमारे पास कोई साधन है और न ही उसकी सत्यता से संबंधित प्रश्न उठाने को कोई अर्थ ही है।[2]

---

1. Psuedo concept.
2. "Ethical Philosophy consists simply in saying that ethical concepts are psuedo concepts and, therefore, unanalysable. The further task of describing the different feelings that the different ethical terms are used to express, and the different reactions, that they customarily provoke, is a task for the psychologist. There can not be such a thing as an ethical science, if by ethical science one means the elaboration of a ture system of morals. For we have seen that, as ethical judgements are mere expressions of feeling, there can be no way of determning th validity of any ethical system, and indeed no sense in asking whether any such system is ture."

Language, Truth – Logic, p. 112.

नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावादी अन्य सिद्धांतों की समीक्षा द्वारा अपने मत का समर्थन भी करते हैं। वे प्राचीन व्यक्तिनिष्ठतावाद एवं उपयोगितावाद-दोनों ही मतों का खंडन करते हैं। ऐयर के विचार से, दोनों मतों के अनुसार नैतिक-निर्णय अनिवार्य रूप से तथ्यों से संबद्ध हैं और इसीलिए उन तथ्यों के आधार पर ही उसकी प्रामाणिकता स्थापित की जा सकती है। अन्य शब्दों में, उसके संबंध में प्रामाणिकता का प्रश्न प्राकृतिक रूप से उठाया जा सकता है-प्रश्न यथार्थ है, सार्थक है, और उसका देना उचित है।

प्राचीन व्यक्तिनिष्ठतावाद 'क शुभ है' को 'क स्वीकृत है' और उपयोगितावाद 'क सुखप्रद है' के रूप में ग्रहण करता है। दोनों वाक्यों का खंडन संभव है। व्यक्तिनिष्ठतावाद का 'कुछ स्वीकृत वस्तुएँ शुभ नहीं हैं' वाक्य द्वारा तथा उपयोगितावाद का 'कुछ सुखप्रद वस्तुएँ शुभ नहीं हैं' द्वारा खंडन संभव है। उक्त सिद्धांतों की अपेक्षा ऐयर की दृष्टि में नैतिक निरपेक्षतावाद (अंतःप्रज्ञावाद[1]) अधिक उचित है क्योंकि वह नैतिक-निर्णयों को अनुभव-निरपेक्ष मानते हैं, और इसीलिए यह भी स्वीकार करते हैं कि अनुभव के आधार पर उनकी प्रामाणिकता नहीं सिद्ध की जा सकती। किंतु नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावादी संपूर्ण रूप से अंतः-प्रज्ञावाद को इसलिए स्वीकार नहीं कर पाता क्योंकि उसके अनुसार नैतिक-विशेषताएँ और उनसे संबद्ध निर्णय शुद्ध बुद्धि द्वारा सहज रूप से ग्राह्य हैं। अंतःप्रज्ञावाद इसके अतिरिक्त यह भी स्वीकार करता है कि नैतिक निर्णय वस्तुतः संश्लेषणात्मक निर्णय है और उनका संबंध अतींद्रिय जगत् से है।

उक्त दोनों ही विचार ऐयर के अनुसार अनुचित हैं और इसलिए अंतः प्रज्ञावाद को स्वीकार करना उनकी दृष्टि में असंभव है। नैतिक निर्णय का स्वरूप संश्लेषात्मक है और उसका संबंध अतींद्रिय जगत् से है : इस तथ्य को स्वीकार करना इसलिए कठिन है क्योंकि यह स्वीकृति तर्कीय प्रत्यक्षवाद के प्रमुख विचार के विपरीत स्वीकृति है। तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अनुसार समस्त संश्लेषणात्मक निर्णयों का संबंध व्यावहारिक जगत् से ही है और उससे पृथक् किसी जगत् की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्य शब्दों में, संश्लेषणात्मक-निर्णय, इस मत के अनुसार, मूलरूप से अनुभवजन्य निर्णय ही होते हैं, इससे पृथक् उनके रूप की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावाद की आलोचना

नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावाद के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नैतिक-निर्णय के स्वरूप का जो विश्लेषण वह प्रस्तुत करता है, वह उस संबंध में हमारे साधारण

---

1. Intuitionism.

प्रत्ययों से सर्वथा भिन्न है। इसके अतिरिक्त नैतिक-निर्णय का जो रूप हमें अन्य सिद्धांतों में मिलता है, उससे भी वह भिन्न है। आधुनिक विचारकों में ब्लांशर्ड ने अपने एक लेख में उक्त दृष्टिकोण की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट लिखा है कि नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावाद आत्मगत एवं वस्तुगत दृष्टियों के अंतर को समाप्त कर देता है। किंतु, नीति-अनीति प्रत्ययों से संबंधित किसी भी चिंतन में, इस अंतर की अवज्ञा नहीं की जा सकती। इस सिद्धांत के अंतर्गत जीवन के कतिपय मत्वपूर्ण तथ्यों की (यथा-शुभ-अशुभ, कर्तव्य-अकर्तव्य, पश्चाताप एवं आत्मग्लानि की भावना) नितांत अवहेलना मिलती है। इसलिए, ऐसे दृष्टिकोण के साथ सहानुभूति रखना अनुचित है, इसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वे कहते है :-

"शताब्दियों से आचार के विषय में व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ सद् में जो एक प्राचीन एवं अनुमोदित अंतर है, उसे नीति-विशेषज्ञों ने बनाये रखा है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से सत्कर्म का प्रत्यय, कर्तव्य संबंधी प्रत्यय की पृष्ठभूमि में विद्यमान है और यदि संभव हो सके तो उसे ढूँढ़ निकालना तथा उसके अनुरूप कार्य करना ही हमारा परम धर्म है। किंतु, यह निश्चित है कि उसे सदैव पा सकना संभव नहीं होता। इसलिए, प्रायः हम उन्हीं कार्यों को करते हैं, जिन्हें हम उचित समझते हैं। किंतु, बहुधा इस विषय में हमें भ्रांति रहती है और तब हमारे कार्य व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से ही उचित होते हैं। इन दोनों प्रकार के कार्यों में अंतर बराबर रह सकता है-किंतु, जहाँ तक मैं समझता हूँ, नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावाद इस अंतर को एक ही बार में समाप्त कर देगा।"[1]

तथ्यों की विपरीतता के उपरांत जब नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावादी अपने सिद्धांत का समर्थन करता है तो निश्चित ही उसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण होता है। कारण का अनुसंधान करते हुए ब्लांशर्ड कहते हैं कि तथ्यों के साथ इस सिद्धांत के अंतर्गत जो बलात्कार हुआ है, वह केवल इसलिए कि नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावादी तर्कीय प्रत्यक्षवाद के प्रमुख सत्य के प्रति सत्यनिष्ठ रहना

1. "There is an old and merciful distinction that moralists have made for many centuries about conduct-the distinction between what is subjectively and what is objectively right....The notion of an objectively right act is the ground of our notion of duty; our duty is always to find and do this act if we can. But, of course, we often don't find it. We often hit upon and do acts that we think are right ones, but we are mistaken, and then our act is subjectively right-between these two acts the disparity may be continual... Now so far as I can see the new subjectivism would abolish this difference at a stroke."
"The new subjectivism in ethics" in Philosophy and Phenomenological Research; 1949. from An Introduction To Modern Philosophy, Edward and pap, p. 439.

चाहता है किंतु यथार्थ में आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ स्वीकृतियों के अंतर को नष्ट नहीं किया जा सकता। और, अंतिम रूप से यदि हम यह कहें कि वस्तुनिष्ठ स्थिति या विशेषता हमारी आंतरिक, वैयक्तिक अनुभूतियों एवं प्रतिक्रियाओं के मूल्य-निर्धारण का प्रमुख आधार है, तो इसमें किंचित् मात्र भी अतिशयोक्ति न होगी। नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावाद का समर्थन तथ्यों के आधार पर नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसे सिद्धांत के प्रतिपादन और समर्थन के साथ अनिवार्य रूप से संयुक्त है, जिसका नीति-जगत् के तथ्यों से कोई प्रयोजन नहीं। नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावादियों के अनुसार "हम नैतिक निर्णयों द्वारा जो कुछ व्यक्त करते है, यथार्थ में हम उससे कहीं अधिक व्यक्त करते हैं।"[1]

उक्त सिद्धांत के संबंध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे सर्वथा उचित हैं। नैतिक-निर्णय के स्वरूप के संबंध में अपने आमूल अनुभवादी दृष्टिकोण के समर्थन में तर्कीय प्रत्यक्षवाद ने निःसंदेह तथ्यों की पूर्ण अवहेलना की है। अन्य सिद्धांत की आलोचना का जहाँ तक प्रश्न है, वह निषेधात्मक रूप से सत्य ही है, क्योंकि, प्राचीन व्यक्तिनिष्ठतावाद, उपयोगितावाद तथा अन्तः प्रज्ञावाद सभी आंशिक रूप से ही सत्य हैं। उनके विरुद्ध ऐसे तथ्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनकी अवहेलना साधारणतया नहीं की जा सकती, किंतु जिनकी अवहेलना उन सिद्धांतों में निश्चित रूप से की गयी है। किंतु, अपने सिद्धांत के भावात्मक पक्ष में नव्य-व्यक्तिनिष्ठतावादी जो प्रस्तुत करते हैं, वह सर्वथा अनुचित है।

नीति-क्षेत्र से संबद्ध प्रमुख वादों की संक्षिप्त प्रस्तुति, जो वर्तमान अध्याय का प्रमुख ध्येय था, समाप्त होती है। आगामी अध्याय में अन्तःप्रज्ञावाद को प्रस्तुत किया जायेगा क्योंकि, नीति विचार के क्षेत्र मे विधिवादी दृष्टिकोण का वह समर्थन करता है और इस कारण प्रयोजनवादी दृष्टिकोण के पूर्व ही उसके स्थान दिया गया है।

---

1. "We express in moral judgments more than the subjectivists say we do."

Ibid, p. 434.

अध्याय दो

अंतःप्रज्ञावाद[1]

अंतःप्रज्ञावाद वह सिद्धांत है, जिसके अनुसार मनुष्य के पास नीति एवं अनीति संबंधी गुणों को सहज-प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए एक विशिष्ट शक्ति विद्यमान है। इसके अनुसार नीति एवं अनीति विषयक गुणों का कार्यों के परिणाम से कोई विशेष संबंध नहीं होता। इस सहज प्राकृतिक शक्ति को साधारण भाषा में अन्तःकरण तथा छठी इंद्रिय भी कहते हैं। विभिन्न विचारकों ने इस शक्ति को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। और इस दृष्टि से इस मत को हम दो स्पष्ट वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-नैतिक-संवित्तवाद, जो उक्त शक्ति को एक विशिष्ट इंद्रिय के रूप में प्रस्तुत करता है और नैतिक बुद्धिवाद,,जो उसे बुद्धि के रूप में स्वीकार करता है।

इन दोनों मतों को क्रम से अदार्शनिक तथा दार्शनिक अन्तःप्रज्ञावाद[2] भी कहते हैं। इनको क्रम से प्रस्तुत किया जायगा और मानवीय नैतिक चेतना का जो विश्लेषण इनके अंतर्गत प्राप्त है, उसके औचित्य एवं अनौचित्य पर भी प्रकाश डाला जायगा।

अदार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद

(अ) नैतिक संवित्तिवाद[3]

नैतिक संवित्तिवाद का विश्वास है कि हमारी नैतिक विवेक-क्षमता इंद्रिय के समान और हमारे नैतिक निर्णय साधारण प्रत्यक्ष संबंधी निर्णय के समान हैं। जिस प्रकार विशिष्ट इंद्रियों द्वारा हम उनसे सम्बद्ध गुणों को सहज रूप से प्रत्यक्ष कर लेते हैं, यथा-शब्द, रस, गंध आदि, उसी प्रकार हमारी नैतिक इंद्रिय नैतिक गुणों का सहज प्रत्यक्ष कर लेती है। इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णय अन्य तथ्यात्मक निर्णयों की भाँति अपरोक्ष होते हैं किंतु उक्त विचार की प्रामाणिकता को सरलता से स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न पर पुनः विचार व्यक्त किया जायेगा।

नैतिक निर्णय की विशेषता को स्पष्ट करते हुए उक्त विचारक कहते हैं

---

1. Intuitionism. इसे Deontological theory भी कहते हैं।
2. Unphilosophical तथा Philosophical Intuitionism.
3. Moral sense theory. नैतिक इंद्रियवाद शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

कि नैतिक निर्णय नैतिक इंद्रिय की सहज प्रतिक्रिया पर आधारित होते हैं। उक्त इंद्रिय मूल रूप से, भावात्मक तथा अभावात्मक[1]-दो विशिष्ट प्रकार से प्रतिक्रिया करती है। भावात्मक रूप में कार्य-विशेष अथवा वस्तु-विशेष के लिए अनुमोदन को और अभावात्मक रूप में वह अननुमोदन को व्यक्त करती है, जो क्रम से नैतिक गुण की उपस्थिति और अनुपस्थिति को सूचित करता है। जब किसी कार्य एवं घटना-विशेष के प्रत्यक्ष के उपरांत व्यक्ति के अंदर उसकी ओर भावात्मक प्रतिक्रिया होती है, वह उसकी ओर आकृष्ट दिखलाई देता है, यथा-अत्मोत्सर्ग के अवसर पर, तो निश्चित है कि उक्त घटना एवं कार्य नैतिक हैं, अनुमोदनीय एवं अनुकरणीय हैं। इसके विपरीत, यदि अभावात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और मन में विकर्षण के भाव की अनुभूति होती है, तो निश्चय ही वह अनुचित है और उसी सीमा तक त्याज्य भी है।

अतएव, इस सिद्धांत के अनुसार इंद्रिय-विशेष की भावात्मक तथा अभावात्मक प्रतिक्रियाएँ नैतिक गुणों का प्रकाशन करती हैं। ये प्रतिक्रियाएँ सहज एवं प्राकृतिक होती हैं और मानवीय विवेक से एवं संकल्प से इनका कोई विशेष संबंध नहीं होता। वस्तुतः अपने मूल रूप में वे मूल प्रवृत्यात्मक अथवा निम्न सांकल्पिक होती हैं। उक्त कथन विवादास्पद है और इसीलिए महत्त्वपूर्ण भी।

नीति-सिद्धांतों के क्षेत्र में नैतिक संवित्तिवाद केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्व रखता है। इसकी अपूर्णताओं को प्रकाशित करने के पूर्व इसके प्रमुख समर्थक मार्टिन्यू के विचारों से परिचित होना आवश्यक है।

मार्टिन्यू : मार्टिन्यू के विचार उस युग में विकसित हुए, जिसमें दर्शन के क्षेत्र में अनुभववादी दृष्टिकोण की विशेष लोकप्रियता थी। अनुभववाद के अनुसार इंद्रिय प्रत्यक्ष ही ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख एवं प्रामाणिक साधन था। अतींद्रिय जगत एवं अतीद्रिय ज्ञान में उसकी कोई आस्था न थी। ज्ञान प्राप्ति का अन्य साधन न होने से नैतिक ज्ञान की उपलब्धि का भी वही एकमात्र साधन था। अतएव, इस मत के समर्थकों ने बड़ी सरलता से नैतिक-इंद्रिय के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया, जिसके द्वारा नैतिक तथ्यों का सहज प्रत्यक्ष किया जा सके।

मार्टिन्यू के अनुसार उक्त इंद्रिय, कार्य एवं घटना-विशेष के नैतिक गुणों का सहज प्रत्यक्ष ही नहीं करती प्रत्युत् वह मानवीय व्यवहार का नियमन करने वाली मूल वृत्तियों का तथा उनके प्राकृतिक क्रम को सहज प्रत्यक्ष भी करती है। तदुपरांत, कार्य एवं घटना विशेष का संचालन करने वाली विशिष्ट वृत्ति को प्रत्यक्ष करती हुयी, वह नितांत सहजता के साथ उस पर अपना निर्णय दे देती है। निर्णय देने की यह समस्त प्रक्रिया इतनी सहज, सरल एवं सुलभ प्रतीत होती है कि मार्टिन्यू

1. Instinctive and subvolitional.

तथा अन्य विचारकों ने उसे अपरोक्ष प्रक्रिया के रूप में स्वीकार कर लिया।

मार्टिन्यू ने मानवीय संकल्प को प्रेरित करने वाली वृत्तियों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया :-

प्रथम इन्हें दो वर्गों-मूल तथा गौण प्रेरणाओं, में विभाजित किया है। पुनः इनमें से प्रत्येक को चार उपवर्गों में विभाजित किया है। मूल प्रेरणाओं के अंतर्गत क्रम से है : (1) मूल-प्रवृत्तियाँ[1] -इनके अंतर्गत वे वृत्तियाँ आती हैं, जो शारीरिक अस्तित्व के लिए नितांत अनिवार्य हैं, यथा-क्षुधा एवं पिपासा को शांत करने वाली वृत्तियाँ; (2) मूल भावावेश[2] -उन मूल निषेधात्मक वृत्तियों को सूचित करते हैं, जिनके कारण हम वस्तु एवं स्थिति विशेष को सरलता से स्वीकार नहीं कर पाते, यथा व्यक्ति, वस्तु एवं स्थिति के प्रति असीम घृणा का भाव। घृणा साधारणतया उन वस्तुओं के प्रति होती है, जो हमारी मूल वृत्तियों के लिए वर्तमान अथवा भविष्य में घातक सिद्ध हो सकती हैं; (3) मूल भाव[3] - उन वृत्तियों को व्यक्त करते हैं, जिनके कारण हम व्यक्ति, वस्तु एवं परिस्थितियों के प्रति आकृष्ट होते हैं, उन्हें स्वीकार करने तथा उनसे आत्मीयता स्थापित करने के लिए उत्सुक रहते हैं, यथा-वात्सल्य भाव; (4) मूल स्थायी भाव[4] -इसके अंतर्गत वे प्राथमिक-वृत्तियाँ आती हैं, जो मानवीय जीवन से विशिष्ट रूप से सम्बन्धित है तथा जिनका मानवीय स्तर से निम्न स्तर पर नितांत अभाव होता है।[5]

गौण प्रेरणाओं के अंतर्गत पुनः चार प्रेरणाएँ मिलती हैं, जो मूल प्रेरणाओं से उत्पन्न हैं और जो क्रमशः गौण प्रवृत्तियाँ, गौण भावावेश, गौण भाव तथा गौण स्थायी भाव हैं। जैविक क्रम के विकास में ये गौण प्रेरणाएँ मूल प्रेरणाओं के उपरान्त आती हैं, किन्तु जीवन की दृष्टि से ये अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। गौण स्थायी भाव में प्रमुख 'श्रद्धा' है और नैतिकता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट भी है। गौण भावावेश निम्नतम है, क्योंकि वह अशुभ के प्रति अवांछनीय-आसक्ति, का प्रकाशन है। अन्य प्रेरणाएँ विशेष क्रम से मध्यम स्थिति में अवस्थित है, और उसी अनुपात में महत्त्व भी रखती हैं। किसी कार्य-विशेष का नैतिक गुण, उन समस्त भावात्मक एवं अभावात्मक प्रेरणाओं की संख्या एवं प्रकृति पर निर्भर करता है, जिनकी पृष्ठभूमि में तथा जिनके कारण मनुष्य कार्य करता है। नैतिक इंद्रियवाद नैतिक सापेक्षता को स्वीकार करता है। उक्त विचार को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा

---

1. Primary propensity.
2. Primary passions.
3. Primary affection
4. Primary sentiment.
5. मूल 'स्थायी भाव' शब्द से मार्टिन्यू का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं, क्योंकि स्थायी भाव जन्मजात नहीं होते। अतएव प्रथम वर्ग के अंतर्गत उसे मार्टिन्यू के विचारों में जो स्थान मिला उसका कारण स्पष्ट नहीं।

की जायगी। मान लीजिये 'क' आचरण दो विरोधी प्रेरणाओं 'स' एवं 'ग' की पृष्ठभूमि में संपन्न होता है, जिनमें 'ख', 'ग' से श्रेष्ठ है। यदि आचरण 'ख' से नियंत्रित होकर किया गया है तो ऐसी स्थिति में, निश्चित ही, वह नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। इसके विपरीत यदि 'ख' से प्रेरित कार्य 'च', 'ख', तथा 'घ' प्रेरणाओं की पृष्ठभूमि में संपन्न होता है, किंतु 'घ', 'ख', की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है, तब कार्य निश्चित रूप से अनैतिक है।

निष्कर्षतः एक ही प्रेरणा से नियंत्रित कार्य भिन्न स्थितियों में नैतिक अथवा अनैतिक हो सकता है। उसका औचित्य कार्य को संचालित करने वाली प्रेरणा-विशेष की प्रकृति पर नहीं प्रत्युत् उस पृष्ठभूमि की प्रकृति पर निर्भर करेगा, जिसके संदर्भ में वह कार्य-विशेष संभव हो सका है। और पृष्ठभूमि के अंतर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण वे सभी प्रेरणाएँ हैं, जिनके लिए अथवा जिनके प्रतिरोध में कार्य किया गया है।

उक्त विमर्श से मार्टिन्यू इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कोई भी प्रेरणा अपनी प्रकृति-विशेष की दृष्टि से सर्वदा के लिए निरपेक्ष रूप से नैतिक अथवा अनैतिक नहीं। उसकी नैतिकता एवं अनैतिकता सापेक्ष है और परिस्थितियों के संदर्भ में ही उसका समुचित विश्लेषण किया जा सकता है। इसी विचार को नैतिक सापेक्षवाद[1] कहते है और इसका समर्थन मार्टिन्यू में मिलता है।

सिद्धांत की समीक्षा : मानवीय प्रेरणा के स्वरूप का जो प्रस्तुतीकरण उक्त सिद्धांत के अंतर्गत मिलता है, वह संतोषप्रद नहीं है। मार्टिन्यू के अनुसार मनुष्य मूल तथा गौण प्रेरणाओं द्वारा ठीक उसी प्रकार सहज रूप में संचालित होता है, जिस प्रकार पशु-व्यवहार अथवा उससे भी निम्न प्रकार की जैविक प्रतिक्रियाएँ संचालित होती हैं, किन्तु, मानवीय व्यवहार मूल रूप से संकल्पजन्य व्यवहार होता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है और पर्याप्त कारण के अभाव में वह कार्य नहीं करता। यह दूसरी बात है कि कार्य करने के पूर्व उसकी विवेक-बुद्धि किन्हीं कारणों से कुंठित हो जाय अथवा भावुकता की अतिरिक्तता के कारण वह उचित निर्णय न ले सके। अतएव, जन्मजात, विशुद्ध मूल वृत्तियाँ, जो बुद्धि के प्रभाव से बिल्कुल अछूती हों, अपने प्राकृतिक रूप में मानवीय व्यवहार की प्रेरणाएँ हो सकती हैं, यह संभव नहीं। मार्टिन्यू का कथन अमनोवैज्ञानिक है और इसलिए अनुचित भी।

संकल्पजन्य व्यवहार का यदि उपयुक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि जब मूल प्रेरणाओं एवं वृत्तियों को 'विचार'[2] अपनी उपस्थिति से अनुप्राणित कर देता है, तब वे 'इच्छा'[3] में परिवर्तित हो जाती हैं। ये इच्छाएँ ही हमारे संकल्पजन्य व्यवहार की यथार्थ प्रेरणा होती हैं और ये मात्र भावना या

1. Ethical Relativism.
2. Thought.
3. Desire.

मात्र वृत्ति कभी नहीं होतीं। ये एक विशिष्ट प्रकार की भावनाएँ होती हैं, जो विचार एवं परीक्षण के उपरांत अन्य भावनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। ये अंतिम रूप से महत्त्वपूर्ण एवं स्वीकृति योग्य होती हैं। उनकी स्वीकार्यता मात्र उनकी तीव्रता पर नहीं, प्रत्युत् उनकी बौद्धिकता अथवा बुद्धि द्वारा उनकी ग्रहण शीलता पर निर्भर करती है। और तात्कालिक परिस्थितियों के साथ संबंधित होने की क्षमता ही बुद्धि द्वारा उनकी स्वीकृति का प्रमुख निर्धारक है। वे मानवीय संकल्प के समक्ष 'शुभ' के रूप में प्रस्तुत होती हैं और संकल्प जब उन्हें प्रेरणा के रूप में स्वीकार करता है, तो इस विश्वास के साथ कि तात्कालिक परिस्थिति-विशेष में उनके अतिरिक्त अन्य कछ भी शुभ नहीं। इसी तथ्य को कांट ने भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हुए कहा है : "मानवीय संकल्प सदैव अपवादरहित शुभ संकल्प है।"[1]

उक्त कथन प्रथम दृष्टि में निःसंदेह विस्यमयकारी हैं। किंतु यदि हम उसमें निहित सत्य का निकट से निरीक्षण करें तो हमें उसकी यथार्थता के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहेगा।

यदि मानवीय-संकल्प का उक्त विश्लेषण उचित है तो यह स्पष्ट है कि मार्टिन्यू का विश्लेषण अमनोवैज्ञानिक है और उस पर आधारित उसकी नीति-अनीति की व्याख्या उसी सीमा तक अनुचित भी। मानवीय इच्छा एवं सकल्प के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए म्यूरेहड कहते हैं :

"मानवीय इच्छाएँ केवल अबौद्धिक शक्तियाँ एवं वृत्तियाँ नहीं, जो मनुष्य को कभी एक तथा कभी दूसरी दिशा में प्रेरित करती रहती हैं। वे सदैव निश्चित चिंतन से प्राप्त वस्तुओं की ओर प्रेरित रहती हैं, और इसीलिए केवल रुचियों एवं प्रवृत्तियों से जो निम्न पशु में भी समान रूप से विद्यमान रहती हैं, उन्हें पृथक् करना होगा।"[2]

'इच्छा' की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए वे पुनः कहते हैं :-

"संकल्पजन्य व्यवहार में किसी प्रत्यय विशेष को जो प्रेरणा का रूप प्राप्त होता है, वह मनस् में उसकी समुपस्थिति मात्र से ही नहीं, प्रत्युत् किसी पूर्व-निर्मित वृत्ति अथवा इच्छा के संसार[3] के साथ समन्वित होने के कारण ही प्राप्त होता है। और क्योंकि यह समन्वय भावना की मध्यस्थता से व्यक्त होता है 'प्रेरणा' को पुनः पारिभाषित करते हुए सार रूप में हम कह सकते हैं कि वह एक ऐसा 'प्रत्यय' है जो व्यक्तित्व के किसी तत्व के साथ भावनात्मक सामंजस्य स्थापित

---

1. "The human will is always and without exception the good will." Kant.
2. "Hnman desires are not mere irratational forces or tendencies propelling a man this way or that. They are always for objects more or less definitely conceived. As such they are to distinguished from mere appetites or propensities which are shared by the lower animal".
Elements of Ethics, pp. 53-54.
3. Universe of desire.

करते हुए संकल्प को प्रभावित करके कार्य के माध्यम से व्यंजित हो चुका है।'[1]

प्रेरणाओं का वर्गीकरण : मार्टिन्यू के विचारों में प्रेरणाओं के प्राकृतिक वर्गीकरण तथा उसके सहज प्रत्यक्ष की संभावना को जिस प्रकार स्वीकार किया गया है, वह उचित नहीं प्रतीत होता। प्रेरणाओं का तथा उनके वर्गीकरण का प्रत्यक्षीकरण ऐंद्रिक प्रत्यक्ष की सरल प्रक्रिया द्वारा संभव नहीं। वह उच्चस्तरीय बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम है। उक्त वर्गीकरण तथा उसका प्रत्यक्षीकरण इसलिए सरल प्रतीत होता है कि अत्यंत प्राचीन काल से उक्त वर्गीकरण को समाज में मान्यता प्राप्त है और उसके औचित्य-अनौचित्य को संस्कार रूप में हम सब आत्मसात् किये हुए हैं। वस्तुतः नैतिक प्रत्यक्ष जो सरल एवं ग्राह्य प्रतीत होता है, अत्यंत विषम मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है और यदि यह कहा जाय कि उक्त वर्गीकरण, जो समाज तथा समय-विशेष में मान्य हैं, अंतिम एवं स्थायी रूप से तभी स्वीकृत हो सकता है जब मानव-जीवन के परम शुभ से संयुक्त हो जाय, तो इसमें किंचित मात्र भी अतिशयोक्ति न होगी। परम शुभ की समुचित व्याख्या के अभाव में जीवन की विभिन्न प्रेरणाएँ (जिनका अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है) अव्यवस्थित ही रह जायेंगी। उनके औचित्य पर निश्चित रूप से तभी कुछ कहा जा सकता है, जब हम यह स्पष्ट जान लें कि उनकी मध्यस्थता से जीवन के किस लक्ष्य की अभिव्यक्ति हो रही है। अतएव, प्रेरणाओं को सुव्यवस्थित करने के पूर्व, साध्य रूप में लक्ष्य की महत्ता को और लक्ष्यों में भी परमलक्ष्य की महत्ता को स्वीकार करना होगा। तभी औचित्य-अनौचित्य के प्रश्न का समुचित हल मिल सकेगा। जीवन अत्यंत विषम है और प्रेरणाओं को श्रृंखलाबद्ध करने का प्रयास दुष्कर और किसी सीमा तक असाध्य भी है।

जीवन में तथाकथित सहज प्रत्यक्ष द्वारा नीति-अनीति विषयक अंतर्दृष्टि प्रायः परस्पर संघर्ष में दिखायी देती है। और कभी-कभी तो व्यक्ति के लिए यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि वह किस प्रेरणा-विशेष के अनुरूप कार्य करे। ऐसी स्थिति इस बात की पुष्टि करती है कि नीति-अनीति संबंधी अंतर्दृष्टि निर्विरोध नहीं और उसका विरोध सहज ही समाप्त नहीं हो जाता तथा विरोध की समाप्ति के लिए जीवन की और गहन व्याख्या अनिवार्य है।

यह सत्य है कि साधारण परिस्थितियों में यह अंतर्दृष्टि जीवन के लिए पर्याप्त होती है। किंतु, असाधारण स्थिति में केवल इसके आधार पर कार्य करना कठिन ही

1. "A fortiori in voluntary action proper, what gives motive power to an idea is not it's mere presence in the mind, but its congruence with some pre-formed disposition or universe of desire. As this congruence manifests itself in feeling, we may sum up by defining a motive as the idea which through felt congruence with some element in the self, has taken possession of the will and been realized in action."

Elements of Ethics, p. 54

नहीं प्रत्युत् कभी-कभी असंभव भी हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति को 'नैतिक-विमूढ़ता' की स्थिति कह सकते हैं। भगवद्गीता में युद्ध के पूर्व अर्जुन की जो स्थिति थी, उसे नष्ट करने के लिए, उचित कार्य के लिए निर्देश देने के लिए तथा उसमें पर्याप्त प्रेरणा भरने के लिए, एक समग्र जीवन-दर्शन की विस्तृत व्याख्या अनिवार्य थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समक्ष विश्व के तात्विक स्वरूप को प्रस्तुत किया, उसे समग्र दृष्टि प्रदान की, ताकि वह विश्व में अपने विशिष्ट स्थान एवं कर्तव्य को समझते हुए कार्य कर सके, तब कहीं उनका संशय दूर हो सका।

अस्तु, जीवन-दर्शन जीवन के परम शुभ की समुचित व्याख्या, के अभाव में व्यक्ति के लिए नैतिकता के प्रति समुचित दृष्टि बनाये रखना नितांत असंभव है और नैतिक संवित्तिवाद ने इस पक्ष की महत्ता को कहीं भी स्वीकार नहीं किया। अतएव, मार्टिन्यू के विचारों के उक्त प्रस्तुतीकरण से एक बात तो स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन की प्राकृतिक प्रेरणाओं को अंतिम मान लिया था और उन्हीं के आधार पर नीति-अनीति विषयक प्रश्न के समाधान की चेष्टा की थी। किंतु, प्रेरणाओं का कितना भी विस्तृत एवं सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण क्यों न किया जाय, वे अपने में पर्याप्त नहीं। वे साधन रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं, साध्य रूप में नहीं। उन्हें पूर्णता प्रदान करने के लिए जीवन संबंधी परम लक्ष्य की व्याख्या अनिवार्य है। और यह कहना कि प्रेरणाओं के औचित्य-अनौचित्य संबंधी अंतर्दृष्टि सहज एवं ऐंद्रिक प्रत्यक्ष द्वारा सरलता से ग्राह्य है, तथ्यों के साथ बलात्कार करना है। इस संबंध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए अरबन कहते है : "नीति संबंधी किसी भी सिद्धांत को अंत में प्रयोजनवादी होना ही पड़ेगा।"[1]

इसी तथ्य को एक अन्य प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है। हमारे सद्-असद्, औचित्य-अनौचित्य के प्रत्यय स्व-वर्गीय[2] एवं अपरिभाष्य नहीं, वे शुभ प्रत्यय के अंतर्गत समाविष्ट हैं और उसी के आधार पर उनकी व्याख्या भी की जा सकती है। 'सद्' शुभ के लिए साधन रूप में ही महत्त्वपूर्ण है और साध्य के संदर्भ में उसे पारिभाषित भी किया जा सकता है।

अंतःप्रज्ञावाद नैतिक-जीवन का समुचित व्याख्या प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि वह शुभ के स्थान पर सद् प्रत्यय को ही अंतिम रूप से महत्त्वपूर्ण मानता है। वह मताग्रही हो कर अप्रामाणिक रूप से केवल इतना ही कहता है कि वस्तु अथवा घटना-विशेष सद् एवं असद् हैं। अपने कथन के समर्थन में वह कोई निश्चित कारण नहीं प्रस्तुत करता। स्पष्टतया, उक्त सिद्धांत साधारण

---

1. "Any theory of morality must ultimately become teleological"
Fundamentals of Ethics, p. 69.
2. Suigeneris इसके लिए 'विशिष्ट', 'स्वजातिक', अनन्यजातिक' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।

व्यावहारिक स्तर के चिंतन[1] का परिणाम है और इसीलिए असंतोषप्रद भी है। किंतु नीति-विज्ञान का प्रयोजन मानवीय नैतिक चेतना एवं उससे संबंधित तथ्यों को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना है। अतएव, इस कथन मात्र से कि 'एक प्रेरणा दूसरी से उत्कृष्ट है' हम संतुष्ट न हो सकेंगे। हम यह भी जानना चाहेंगे कि 'उनमें से क्यों एक उच्च है और दूसरी निम्न। उक्त नैतिक विभेद का समुचित कारण भी प्रस्तुत करना होगा।'[2]

नैतिक स्वीकृति एवं अस्वीकृति[3] : नैतिक-संवित्तिवाद के समर्थकों का विश्वास है कि नैतिक चेतना मूल रूप से भावनात्मक प्रतिक्रिया में अभिव्यंजित होती है। ये प्रतिक्रियाएँ भावात्मक एवं अभावात्मक-दो प्रकार की होती हैं, जिन्हें क्रम से नैतिक स्वीकृति एवं अस्वीकृति कहते हैं। किंतु, भावनाओं की प्रकृति का यदि हम अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि ये मूल रूप से वैयक्तिक ही हुआ करती हैं। वे व्यक्ति-विशेष की नितांत वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करती हैं। अन्य शब्दों में, वे एक ऐसे तत्व को व्यंजित करती हैं जो व्यक्ति को व्यक्ति से पृथक् करता है और इसलिए उन वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर किसी प्रकार के स्थायी सामंजस्य एवं ऐक्य की आशा करना व्यर्थ है। एक सुखद सूर्यास्त व्यक्ति-विशेष के लिए विशिष्ट कारणों से सुखप्रद हो सकता है। वह स्वयं उल्लसित है और सूर्यास्त के सौंदर्य को ग्रहण करने की पर्याप्त क्षमता भी रखता है। श्रम से थके-हारे पथिक के लिए उस प्राकृतिक सौंदर्य में कोई विशेषता नहीं रहती। किंतु सौंदर्य को ग्रहण करने की श्रमिक की अक्षमता अक्षम्य नहीं और न ही वह मानवीय सहानुभूति का विषय है। उस सौंदर्य के प्रति सजग रहने, की, उसे उचित महत्त्व देने की, किसी प्रकार की निरपेक्ष अनिवार्यता व्यक्ति अपने अंदर अनुभव नहीं करता। किंतु नैतिक भावनाओं के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा उचित नहीं और न ही वह क्षम्य है। पुनः जब आचार-विशेष को व्यक्ति नैतिक दृष्टि से उचित ठहराता है तो इसलिए नहीं कि वह उसकी पूर्णरूपेण व्यक्तिगत दृष्टि से मान्य है। उसका दृढ़ विश्वास है कि वह किसी भी व्यक्ति के लिए समान परिस्थिति में उतनी ही अनिवार्यता के साथ स्वीकार्य है। नैतिक अनुमोदन एवं अननुमोदन द्वारा हम मानव जाति के नैतिक प्रतिमानों को व्यंजित करते हैं और इसलिए उनका महत्त्व देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करते हुए सर्वग्राह्य तथा सर्वमान्य है।

यदि नैतिक अनुभूतियों का यही स्वरूप है तो हमारे समक्ष केवल दो ही

---

1. Commonsense thinking.
2. "Not satisfied with the bare statement that one spring of action is higher than another, it must give the reason why one is higher and the other is lower. It must assign the ground of moral distinctions."
   'Sinha', A Mannual Of Ethics, p. 191.
3. Moral approval and disapproval, इसके लिए अनुमोदन एवं अनुमोदन शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।

उपाय हैं। हम या तो उन अनुभूतियों के लिए 'भावना' शब्द का प्रयोग ही न करें और उसके स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग करें, अन्यथा 'भावना' शब्द को पुनः इस प्रकार पारिभाषित करें कि उसके साथ जो अवांछनीय आत्मगत ध्वनि संयुक्त है, वह पृथक् हो जाय। द्वितीय विकल्प, आत्मगत ध्वनि के साहचर्य के कारण, अनेक भ्रांतियों की उत्पत्ति का कारण होगा और इनसे सरलता से मुक्ति पाना संभव नहीं। अतएव, प्रथम ही उचित है।

अस्तु, नैतिक अनुभूतियों की, स्वीकृति एवं अस्वीकृति, अनुमोदन एवं अननुमोदन की, भावनाओं के रूप में अभिव्यक्ति उचित नहीं। कारण मानवीय संकल्प के समक्ष 'भावना' किसी प्रकार की बाध्यता नहीं प्रस्तुत कर पाती। किंतु, तथाकथित नैतिक भावना निश्चित रूप से मानवीय संकल्प के समक्ष एक अपूर्व प्रकार की निरपेक्ष बाध्यता प्रस्तुत करती है। अन्य शब्दों में यदि नैतिक भावनाओं के अनुरूप व्यक्ति कार्य करता है, तो वह उल्लसित होता है, अपनी तथा अन्य की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। और यदि उन भावनाओं के विपरीत कार्य करता है अथवा उसके अनुरूप कार्य करने में किसी प्रकार की असमर्थता का अनुभव करता है, तो उसी अनुपात में ग्लानि एवं पश्चाताप की भावना से पीड़ित होता है-अपने से वह संपूर्णतया असंतुष्ट और अपनी ही दृष्टि में गिर जाता है। अन्य अनुभूतियों की अपेक्षा उक्त अनुभूतियाँ हमारे संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ आंतरिक रूप से संबद्ध प्रतीत होती हैं।

जीवन के सरल तथ्यों के आधार पर नैतिक सवित्तवाद में स्वीकृत नैतिक अनुभूति संबंधी प्रत्यय के विरुद्ध एक अन्य आक्षेप है। वस्तुओं एवं घटनाओं के प्रति हमारी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ निश्चित प्रतिमानों के आधार पर उचित एवं अनुचित ठहरायी जाती हैं। अतएव, नैतिक अनुमोदन एवं अननुमोदन निश्चित रूप से उन भावनात्मक प्रतिक्रियाओं एवं अनुभूतियों से भिन्न होंगे। उसका संबंध अन्य शब्दों में, भावनात्मक प्रतिक्रियाओं से पृथक् किसी अन्य तत्व से है। उक्त तत्व बौद्धिक है और नैतिक स्वीकृति एवं अस्वीकृति इसी तत्व पर आधारित-इसी के निर्णय को व्यंजित करने वाली है। इस तथ्य को इस सिद्धांत के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया गया है।

अदार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद के अंतर्गत नैतिक संवित्तिवाद के प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा के उपरांत इसी के सदृश एक अन्य सिद्धांत के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया जायगा, जिसे रसेंद्रियवाद कहते हैं। इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक शाफ्ट्सबरी और हचीसन हैं, जो अट्ठारहवीं शताब्दी के चिंतक थे।

(ब) सौंदर्य संवित्तिवाद

नैतिक प्रत्यक्ष के संबंध में संवित्तिवाद सैद्धांतिक रूप से नैतिक संवित्तिवाद

के विचारों को स्वीकार करते हुए एक बात पर भिन्न मत रखता है। वह नैतिक एवं सौंदर्य संबंधी प्रत्यक्षों को एक रूप मानता है। उसके अनुसार उक्त प्रत्यक्षों से संबंधित इंद्रियाँ वस्तुतः दो नहीं एक है। कीट्स ने अपनी कविता 'ओड आन ग्रीशन अर्न'[1] में सत्य एवं सुंदर के मध्य तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की थी और रसेंद्रियवाद शुभ एवं सुंदर के मध्य पूर्ण ऐक्य स्थापित करने की चेष्टा करता है।

तथ्यों के आकस्मिक निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि शुभ एवं सुंदर के मध्य पूर्ण ऐक्य संभव नहीं। सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण मानवीय चेतना के समक्ष ऐसी बाध्यता नहीं प्रस्तुत करता जो अनिवार्य हो और जिसके अनुरूप कार्य न करने के कारण व्यक्ति आत्म-ग्लानि की अनुभूति करता हो। सौन्दर्य प्रत्यक्ष की, उसकी अनुभूति की, योग्यता व्यक्ति के अंदर हो अथवा न हो, इससे उसके समग्र व्यक्तित्व की सौम्यता में कोई अंतर नहीं आता, आत्म-ग्लानि एवं हीनता की भावना से उद्वेलित नहीं होता। यदि सौंदर्यानुभूति एवं सृजन की क्षमता व्यक्ति के अंदर है तो वह अन्य विशिष्टताओं के समान प्रशंसनीय है। किंतु इनमें से एक भी विशिष्टता व्यक्ति के लिए साध्य रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं। इसके विपरीत नैतिक उत्कृष्टता, शुभ के जीवन में अवतरण की क्षमता, इन सबसे भिन्न है। इसकी संवृद्धि द्वारा व्यक्ति विशिष्ट क्षमताओं को प्राप्त नहीं करता-वह तो जीवन की समग्रता को मानो एक ही बार में प्राप्त कर लेता है। तदुपरांत उसका जीवन एक अपूर्व सौम्यता से पूरित हो उठता है। मानव का नैतिक व्यक्तित्व उसका संपूर्ण तात्विक व्यक्तित्व है। उसकी मध्यस्थता से व्यक्ति के अंतराल में (व्यापक दृष्टि से विश्व के अतंराल में) स्पंदित होने वाली शाश्वत चेतना मुखरित हो उठती है और इसीलिए उसके समक्ष अन्य सभी उपलब्धियाँ फीकी पड़ जाती हैं। उसकी सतत अभिव्यक्ति को ही हम जीवन के स्थायी लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, जीवन के लिए उसकी अनिवार्यता निरपेक्ष है और इसीलिए सब दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण भी। यही कारण है कि मानव की नैतिक प्रत्यक्ष की क्षमता उसकी सौंदर्य प्रत्यक्ष की क्षमता से नितांत भिन्न है। वस्तुतः वह सभी विशिष्ट क्षमताओं से भिन्न है। संपूर्ण व्यक्तित्व अंश-विशेष तथा अंशों के योग के समक्ष समस्तरीय सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

जीवन संबंधी तथ्यों के निरीक्षण से यह स्पष्ट है कि वस्तुतः सौंदर्यानुभूति की तथा शुभ-संकल्पों से प्रेरित होने की क्षमताएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। एक ही व्यक्ति में ये दोनों अनिवार्यतः विद्यमान नहीं होतीं। एक योग्य कलाकार, जिसकी सृजनात्मक एवं सौन्दर्यानुभूति की क्षमता सूक्ष्म एवं तीव्र है, वह अनिवार्यतः शुभ-संकल्पों वाला व्यक्ति नहीं होता। वह नैतिक प्रतिमानों की तुलना में निम्नकोटि का व्यक्ति भी हो सकता है और जिस व्यक्ति में नैतिक उत्कृष्टता एवं सदाचार पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हो, उसमें यदि सृजनात्मक एवं सौंदर्यानुभूति-क्षमता का

1. Ode on Grecian Urn.

संपूर्ण अभाव हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। किंतु, उक्त अभाव के होने पर भी उसके व्यक्तित्व की जो सौम्यता एवं उत्कृष्टता है, उसे कलाकार का व्यक्तित्व अनेक जीवन में भी नहीं प्राप्त कर सकता।

इन तथ्यों के आधार पर सौंदर्य-संवित्तिवाद का बड़ा सरलता से निराकरण हो जाता है। सौंदर्य-संवित्तिवाद मानवीय चेतना के नैतिक पक्ष को उचित प्रकार से प्रस्तुत करने में असमर्थ है। जीवन का नैतिक-पक्ष सौंदर्य संबंधी पक्ष से नितांत भिन्न है। हम नित्यप्रति देखते हैं कि कलात्मक कृतियों का औचित्य-अनौचित्य अंतिम रूप में नैतिक प्रतिमानों के आधार पर ही निर्धारित होता है। कलात्मक कृतियाँ एवं क्षमताएँ स्वतः अपने में तो महत्त्वपूर्ण हैं ही साथ ही वे नैतिक जीवन को सुदृढ़ बनाने में साधन रूप में भी महत्त्व रखती हैं। जिस सीमा तक वे व्यक्ति को नैतिक उत्कृष्टता के पथ पर ले चलने में सफल होती हैं उसी अनुपात में वे समाज द्वारा स्वीकृत होती हैं अन्यथा नहीं। बहुधा देखने में आता है कि कला की दृष्टि से उत्कृष्ट पुस्तक एवं चित्र श्रेष्ठ होते हुए भी समाज द्वारा अनुमोदन प्राप्त नहीं करते, इसका कारण स्पष्ट है। ये विपरीत निर्णय परोक्ष रूप से टालस्टाय के विचारों का समर्थन करते हैं कि 'कला को नैतिकता के अधीन होना'[1] है। रैशडल तथा क्रोचे ने भी इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त किया है। क्रोचे ने अपने वर्गीकरण में 'कला' को 'नैतिकता' से निम्न स्थान दिया है। कला को वह निनैतिक[2] मानते हैं।

उक्त विचारों द्वारा यह स्पष्ट है कि कला एवं नीति से संबद्ध क्षमताएँ समस्तरीय नहीं हैं। अतएवं दोनों को एकरूप मानना अनुचित है। नैतिकता का जीवन में क्या स्थान है, इस पर कांट के विचारों को व्यक्त करते हुए पुनः प्रकाश डाला जायेगा। आगामी पृष्ठों में दार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद के प्रमुख विचारों के प्रस्तुतीकरण की चेष्टा की जायेगी।

दार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद

इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक हैं कुडवर्थ, क्लार्क, वोलोस्टन और बलटर। यह अ-दार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद की भाँति नैतिक बोध से संबद्ध क्षमता को इंद्रिय रूप में प्रस्तुत नहीं करता और न ही मानवीय आचार को नियंत्रित करने वाली सहज प्रेरणाओं के सहज प्रत्यक्ष की संभावना को स्वीकार करता है। इसके अनुसार नैतिक बोध क्षमता बुद्धि रूप है और विशिष्ट-प्रेरणाओं के सहज प्रत्यक्ष के स्थान पर वह उन नैतिक नियमों के सहज प्रत्यक्ष की संभावना को स्वीकार

---

1. "Art is to subserve morality."
2. Amoral. क्रोचे ने आध्यात्मिक क्रियाशीलता को दो वर्गों में विभाजित किया है, सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक। सैद्धांतिक के अंतर्गत पुनः उन्होंने सौंदर्यात्मक एवं तार्किक तथा व्यावहारिक के अंतर्गत आर्थिक एवं नैतिक क्रियाशीलता को रखा है। उनके अनुसार नैतिक क्रियाशीलता सर्वोत्तम है।

करता है, जिनके आधार पर कार्य, घटना एवं वस्तु विशेष पर नैतिक-निर्णय दिया जाता है। उक्त नैतिक नियम स्वतः एक शृंखला, एक व्यवस्था का निर्माण करते हैं। उनका अस्तित्व अनुभव-निरपेक्ष है और नैतिक प्रत्यय की वैयक्तिक अनुभूति से, वे स्वतंत्र एवं पृथक् हैं। इस वाद के समर्थक ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से यथार्थवादी किंतु तत्व मीमांसा की दृष्टि से आध्यात्मवादी हैं।

कुडवर्थ 'नैतिक नियमों की एक अपरिवर्तनीय व्यवस्था' में विश्वास रखते हैं, जिसको कि बुद्धि द्वारा सहज प्रत्यक्ष किया जा सकता है। उक्त नैतिक व्यवस्था ईश्वरीय संकल्प से स्वतंत्र एवं पृथक् है। अन्य शब्दों में, यदि दिव्य संकल्प के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय तो उसे भी उस वस्तुनिष्ठ नैतिक-व्यवस्था को पर्याप्त आदर एवं मान्यता देनी होगी।

क्लार्क उसी तथ्य को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार विश्व के मानवीय संबंधों में 'गणितीय अनिवार्यता'[1] विद्यमान है, जिसको बुद्धि द्वारा हम सहज प्रत्यक्ष कर लेते हैं। गणितीय अनिवार्यता से तात्पर्य उस स्थायी, अपरिवर्तनीय एवं आदर्श व्यवस्था से है, जिसमें मानवीय अभिरुचियों एवं विशिष्ट स्थितियों द्वारा किसी प्रकार के परिवर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि दो व्यक्ति परस्पर मित्र हैं, तब उनका व्यवहार आदर्श मैत्री के अनुरूप तथा उन परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिये, जिनमें कार्य संपादित हो रहा है। व्यवहार का आदर्श रूप ही हमारे यथार्थ आचार के औचित्य का अंतिम रूप से निर्णायक होगा। इसी प्रकार हमारा समस्त नैतिक जीवन मानवीय व्यवहार संबधी विभिन्न आदर्शों से संचालित होता रहता है। इन आदर्शों के अनुरूप उसे अनिवार्यतः होना ही है। इनके पृथक् वह हो ही नहीं सकता यदि उसे नैतिक दृष्टि से अनुमोदन प्राप्त करना है। कुछ इसी के विचारों की अभिव्यक्ति नव्य-अंतःप्रज्ञावाद के समर्थकों में भी मिलती है। इस प्रश्न पर विचार व्यक्त करते हुए ब्रॉड कहते हैं:-

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब मैं किसी वस्तु को उचित ठहराता हूँ तो मैं उसे सदैव एक विशिष्ट व्यापक स्थिति के अंतर्गत विद्यमान तथ्य रूप में स्वीकार करता हूँ और इससे मेरा तात्पर्य यह है कि वह संपूर्ण परिस्थिति के साथ यथोचित रूप से संबद्ध है। विपरीततः जब मैं किसी चीज को अनुचित कहता हूँ तब मुझे वह शेष परिस्थिति के साथ अनुचित रूप से संबद्ध प्रतीत होती है। उक्त सत्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है, जब हम यह कहते हैं कि माता-पिता के प्रति स्नेहभाव रखना तथा अनुचित यंत्रणा के प्रति दया एवं सहायता का भाव तथा व्यवहार उचित है। औचित्य एवं अनौचित्य की यह सापेक्षता इस बात से छिप जाती है कि सामान्यतः कुछ व्यवहारों को स्थायी रूप से अनुचित मान लिया जाता

1. Mathematical necessity.

है। किंतु, मेरी दृष्टि में इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि उन्हें सभी परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापन में असमर्थ मान लिया गया है।"[1]

ब्रॉड पुनः कहते हैं कि अंतिम रूप से उपयुक्तत एवं यथोचितता का प्रत्यय 'विशिष्ट एवं अविश्लेषणीय'[2] है। साथ ही विशेष अर्थ में नैतिक औचित्य का प्रत्यय औचित्य के अन्य प्रत्ययों की तरह सापेक्ष प्रत्यय है। ब्रॉड के विचारों का समर्थन करते हुए तथा शुभ एवं उचित के अंतर को स्पष्ट करते हुए रॉस कहते हैं-

"शुभता किसी कुंजी अथवा पथ-विशेष की एक विशेषता है, जो तब तक स्थायी है जब तक वह वस्तु की अपनी अन्य विशेषताओं के साथ अपरिवर्तनीय रहती है; किंतु औचित्य उनका एक ऐसा गुण है, जो उन्हें विशिष्ट परिस्थिति एवं आवश्यकता की पृष्ठभूमि में ही प्राप्त होता है। एक उत्तम पथ उचित पथ नहीं भी हो सकता है, यदि उनमें से पहला परिस्थिति विशेष से संबद्ध आवश्यकता के अनुरूप नहीं है और दूसरा है।"[3]

नैतिक व्यवहार के संदर्भ में भी शुभ एवं उचित के मध्य समान अंतर है। सहृदयता एवं दयालुता की प्रकृति का यदि अध्ययन किया जाय तब उसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वे प्रत्येक स्थिति में शुभ हैं। किंतु, जीवन में कुछ ऐसे भी भाव हैं, जिनके औचित्य-अनौचित्य के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वे कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में उचित हैं और कुछ में नहीं, यथा मित्र के निधन पर दुःख की अभिव्यक्ति उचित है और अपने प्रतिस्पर्धी की सफलता पर वही भावना अनुचित है। रॉस नैतिक औचित्य को अन्य प्रकार के औचित्य से पृथक् करते हुए तथा ब्राड के विचारों का समर्थन करते हैं कि उनमें पृथकता निश्चित रूप से संभव है। किंतु, वह पृथकता अंतिम रूप से

1. "It seems to me that, when I speak of anything as 'right' I am always thinking of it as a factor in a certain wider total situation, and that I mean that it is 'aopropriately' or 'fittingly' related to the rest of the situation. When I speak of anythin as 'wrong' I am thinking of it as 'inappropriately' or 'unfittingly' related to the rest of the situation. This is quite explicit when we say that love is the right emotion to feel to one's parents, or that pity and help are the right kind of emotion and action in presence of undeserved suffering. This relational character of rightness and wrongness tends to be disguised by the fact that some types of action are commonly thought to be wrong absolutely; but this I think means only that they are held to be unfitting to all situations". Five Types of Ethical Theory, pp. 164-65.
2. "Specific and unanalysable". Ibid, p. 165.
3. "Goodness is an attribute which belongs permanently to the road or key, so long as it remains unchanged in it's other characteristics, rightness is an attribute which they have only relatively to a particular situation and a particular need. A good road need not be the right road, if the one does not and the other does meet the requirement of the particular situation". Foundations of Ethics, pp. 51-52

अपरिभाष्य एवं अविश्लेषणीय नहीं है।

बोलोस्टन जो क्लार्क के अनुयायी हैं, परिस्थिति-विशेष में उचित एवं उपयुक्त के मध्य पूर्ण ऐक्य को स्वीकार करते हैं। किंतु, क्लार्क के विचारों से भिन्न वे सद् (उचित) एवं सत्य के तादात्म्य पर विशेष बल देते हैं। उनके सिद्धांत में हमें सुकरात के विचारों की प्रतिध्वनि मिलती है। सुकरात के अनुसार नैतिकता ज्ञान रूप है तथा अनैतिकता सत्य के विषय में हमारी अबोधता मात्र है। भारतीय दृष्टिकोण भी इस विचार से कुछ सदृशता रखता है। क्योंकि, उसके अनुसार भी अबोधता समस्त क्लेश, पाप एवं दु:ख की जड़ है और ज्ञान इन सबसे मुक्त होने का एकमात्र साधन एवं साध्य है। सुकरात तथा भारतीय दार्शनिक दोनों ही 'ज्ञान' शब्द द्वारा व्यावहारिक स्तर के ज्ञान की कल्पना नहीं करते वह अतींद्रिय ज्ञान है जिसकी प्राप्ति के उपरांत कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता और मानवीय मन की इस विषय में समस्त जिज्ञासा शांत हो जाती है। ऐसा ज्ञान अत्यंत महत्त्वपूर्ण अर्थों में अति-नैतिक[1] एवं अति-बौद्धिक[2] ज्ञान है। वर्तमान संदर्भ में अति-नैतिक एवं अति-बौद्धिक शब्दों के प्रयोग से हमारा तात्पर्य एक ऐसे ज्ञान से नहीं है, जो बुद्धि एवं नैतिकता का विरोध करने वाला अथवा इनका संपूर्णतः अतिक्रमण करने वाला है- जिसके हेतु ये मात्र साधन रूप हैं, प्रत्युत एक ऐसे ज्ञान से है, जिसकी प्राप्ति में ये दोनों ही अपनी विशिष्ट माँगों की स्थायी पूर्ति पाते हैं और अपने निजी क्षेत्र में कुछ और प्राप्त करने की उनकी कामना का ही अंत हो जाता है।

यदि जिस 'सत्य' एवं 'ज्ञान' के साथ सद् के तादात्म्य की कल्पना बोलोस्टन ने की है, वह अनुभवातीत सत्य है तो इस संबंध में आपत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। किंतु, यदि 'ज्ञान' शब्द से वे व्यावहारिक ज्ञान की कल्पना करते हैं, तब सहमति संभव नहीं।

निर्णय का अनुमानजन्य रूप

दार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद अ-दार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद की अपेक्षा नैतिक-निर्णय के स्वरूप की व्याख्या करने में अधिक सफल हुआ है। अ-दार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद के अनुसार नैतिक निर्णय सहज प्रत्यक्ष के परिणाम हैं और इसीलिए उनका स्वरूप अपरोक्ष है। वे अन्य तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही हैं। विभिन्न संदर्भ मे रसल की शब्दावली का यदि प्रयोग किया जाय तो हम यह कह सकते हैं कि वे 'मूल तर्क वाक्य'[3] के समान हैं, यथा-'ये श्वेत हैं', श्वेतता वहाँ है'। किंतु, वस्तुतः नैतिक-निर्णय इनसे भिन्न हैं। वे तथ्यात्मक न होकर मूल्यात्मक हैं। इनकी पृष्ठभूमि में नैतिक प्रतिमान का निश्चय प्रत्यक्ष विद्यमान रहता है और उसके आधार पर ही यह जाना

1. Supra-moral.
2. Supra-intellectual.
3. Basic propositions. मूल वाक्य शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।

जाता है कि वर्तमान तथ्य उस प्रतिमान के अनुरूप है अथवा नहीं। प्रत्येक मूल्यात्मक निर्णय विचार-विमर्श की विषम प्रक्रिया का परिणाम होता है। वह अपरोक्ष एवं सहज इसलिए प्रतीत होता है कि नैतिक प्रतिमान का प्रत्यय संस्कार रूप में हमें सहज उपलब्ध है। इसका एक अन्य कारण भी है। व्यक्ति-विशेष की विकसित नैतिक चेतना स्वतः इतनी सहजता से कार्य करती है कि कभी-कभी हमें भ्रम होने लगता है कि उसके निर्णय सहज प्रत्यक्षवत् हैं। इसलिए, नैतिक निर्णय की सहजता के आधार पर उसके अपरोक्ष रूप की कल्पना करना निःसंदेह भ्रांतिपूर्ण है।

बटलर : 'मनस्'[1] एक व्यवस्थित इकाई

हाब्स के अहं-केंद्रित दर्शन की पृष्ठभूमि में बटलर के विचार की विशिष्टताएँ अधिक स्पष्ट हो सकेंगी। हाब्स के अनुसार मानवीय प्रकृति प्रमुख रूप से एक स्वनिष्ठ इकाई है। 'स्व' से उनका तात्पर्य उस संकुचित व्यक्तित्व से है, जो विश्व की अन्य इकाइयों से अपने को पृथक् करता है तथा इस पार्थक्य को अपने व्यक्तित्व के सारतत्व के रूप में ग्रहण करता है। इसके विरुद्ध बटलर के विचारों में 'स्व-प्रेम' जीवन को नियमित करने वाले विभिन्न तत्वों में से एक तत्व है। अतएव, एकाकी नियामक के रूप में उसे स्वीकार करना उनके लिए असंभव है। परम नियामक तत्व के रूप में बटलर ने 'अंतःकरण' को स्वीकार किया है, जो आत्म-प्रेम एवं परहितेच्छा दो अन्य नियामक तत्वों से भिन्न है।

मनस् की कल्पना उन्होंने एक ऐसी सावयविक इकाई के रूप में स्वीकार की है, जिसमें अनेक तत्व विद्यमान हैं। वे तत्व निम्न है :-

(क) विशिष्ट प्रवृत्तियाँ : यथा-भूख, प्यास, क्रोध, ईर्ष्या, सहानुभूति। ये विशिष्ट वस्तुओं के प्रति उन्मुख रहती हैं, मानवीय प्रकृति के लिए ये मूल एवं प्राकृतिक हैं और नैतिक जीवन के लिए उपादान रूप में विद्यमान हैं। इन्हें आकारबद्ध तथा व्यवस्थित रूप देने वाले कुछ नियामक तत्व हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। वात्सल्य एवं पितृभक्ति भी इसी वर्ग के अंतर्गत हैं, किंतु वे परहितेच्छा से भिन्न हैं।

(ख) नियामक तत्व : जिनका प्रमुख कार्य सहज वृत्तियों को सुव्यवस्थित एवं नियमित करना है। आत्म-प्रेम एवं परहितेच्छा हमारी सहज वृत्तियों के सहज नियामक तत्व हैं। किंतु, ये दोनों ही सम-स्तरीय हैं और एक-दूसरे की कार्य-विधि एवं कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार इन्हें प्राप्त नहीं है। अपने विशिष्ट क्षेत्र में ये दोनों पूर्णतया स्वतंत्र हैं। किंतु, जब ये परस्पर संघर्ष में आते हैं, तब इन्हें अंतःकरण के निर्णय को स्वीकार करना होता है।

(ग) अंतःकरण : यह मानवीय नैतिक जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण नियामक तत्व है, अन्य दो नियामक तत्वों से स्वतंत्र एवं पृथक् है और उसका स्थान उनकी

---

1. Mind.

अपेक्षा श्रेष्ठ है। 'अंतःकरण' के स्वरूप का प्रस्तुतीकरण करते हुए बटलर उसकी प्रभुता एवं मनोवैज्ञानिक क्षमता पर विशेष बल देते हैं। उनका विश्वास है कि उन स्थितियों में भी जहाँ अपने आदेशों के अनुरूप कार्य करवाने में वह असमर्थ हैं उसकी प्रभुता के विषय में किसी प्रकार की भ्रांति नहीं हो सकती। और, आदेशों के विपरीत कार्य करने पर जो पश्चात्ताप एवं आत्म-ग्लानि होती है, वह इस बात का समुचित प्रमाण है कि उसके आदेशों का सरलता से उल्लंघन नहीं किया जा सकता। वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए निरपेक्ष रूप से मान्य हैं।

बटलर के विचारों का प्रस्तुतीकरण करते हुए ब्रॉड कहते हैं :-

"अंतःकरण के नैतिक अधिकार की परमता को हम उन स्थितियों में भी स्वीकार करते हैं, जहाँ हमें स्पष्ट विदित है कि (आदर्शों को कार्यान्वित करने की) यथेष्ट मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य उसमें विद्यमान नही।"[1]

कांट ही एक ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने अंतःकरण के आदेश की निरपेक्षता पर निर्भीकता से विचार प्रस्तुत किया है। जहाँ बटलर के विचार उदार हैं, वहाँ कांट कठोर हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अंतःकरण के आदेश एवं हमारे व्यवहार में बाह्य अनुरूपता ही पर्याप्त नहीं। उनमें आंतरिक सामंजस्य भी अनिवार्य है। किंतु, इसके विपरीत बटलर व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों ही दृष्टियों से स्वीकार करते हैं कि मात्र बाह्य सदृश्य कार्य की नैतिकता के लिए पर्याप्त है; यदि कार्य-विशेष एवं आदेश में बाह्य सदृश्य है, तो वे किन्हीं भी नियामक तत्वों से प्रेरित क्यों न हों, उनकी नैतिकता में कोई अंतर नहीं आता।

कांट के विचार में मानवीय-व्यवहार की नैतिकता एक प्रश्न से संबद्ध है : क्या हमारे संकल्प एवं व्यवहार-बुद्धि[2] से अनुप्रेरित हैं? यदि उत्तर भावात्मक है, तो कार्य संपूर्णतया नैतिक है, अन्यथा नहीं। कांट के विचार में बुद्धि के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रेरणा की नैतिकता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनके अनुसार वात्सल्य भाव भी तभी नैतिक है, जब वह सहज वृत्ति से नहीं प्रत्युत् शुद्ध बुद्धि से अनुप्रेरित होता है। उनके विचार के इस पक्ष पर टिप्पणी करते हुए रॉस कहते हैं :-

"नैतिक दृष्टि से आदर्श व्यक्ति का जो चित्र कांट ने प्रस्तुत किया है, जिसमें वह सहज सहृदयता से नहीं, वरन् सदैव कर्तव्य-बुद्धि से ही प्रेरित होता है, पाठकों को अत्यधिक संकुचित एवं कठोर प्रतीत होता है।"[3]

---

1. "We recognize the moral right of 'Conscience' to be supreme, even when we find that it lacks necessary psychological power,"
   Five Types of Ethical Theory, p. 79.
2. कांट के दर्शन में 'बुद्धि' को वही स्थान प्राप्त है, जो बटलर में अंतःकरण को प्राप्त हैं। 'बुद्धि' अंतःकरण का ही परिष्कृत रूप है।
3. "Kant's picture of the ideally good man as going through life never animated by natural kindness but only by the sense of duty has always been felt by most readers to be unduly narrow and rigoristic."
   Foundations of Ethics, p. 306

ब्रॉड और रॉस दोनों ही बटलर के नीति एवं कर्तव्य संबंधी विचारों से सहमत हैं। दोनों के अनुसार कांट के विचार अत्यंत अप्राकृतिक एवं अव्यावहारिक हैं, क्योंकि, जीवन की सहज सह्यता का उनमें कोई भी स्थान नहीं। हमारी प्राकृतिक वृत्तियों एवं भावनाओं द्वारा कर्तव्य-बुद्धि को उत्तरोत्तर सशक्त होना चाहिए; उनसे उसके निर्बल तथा अशक्त बनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। बटलर के विचारों को प्रस्तुत करते हुए वर्तमान संदर्भ में ब्रॉड कहते हैं :

"यदि हम ध्यानपूर्वक इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें स्पष्ट हो जायेगा कि जब तक हमारे कार्य ऐसे हैं कि वे अंतःकरण द्वारा स्वीकृत किये जा सकते हैं, चाहे समय-विशेष में तात्कालिक वृत्ति, आत्म-प्रेम एवं जनहितैषिता में से किसी के द्वारा ही क्यों न कार्यान्वित हुए हों, अंतःकरण की प्रभुता सुरक्षित है। वस्तुतः अंतःकरण का प्रमुख कार्य नियमन का ही है।"[1]

अंतःकरण के आदेश के परम निरपेक्ष भाव की जो अभिव्यक्ति हमें कांट में मिलती है, वह वस्तुतः बटलर के विचारों का ही विकसित एवं परिपक्व रूप है। किंतु विकास की उस प्रक्रिया में उन्होंने निश्चित ही एक अप्रिय एकांगी दृष्टिकोण का समर्थन किया है, जो अव्यावहारिक है और इसलिए प्रमुख रूप से आलोचना का विषय भी है। कांट के विचारों में भावनाओं एवं मूलवृत्तियों को मूल रूप से अवांछनीय एवं अनैतिक[2] ठहराया गया है।

बटलर एवं कांट के विचारों की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए राजर्स कहते हैं :-

"नैतिक अनिवार्यता एवं स्वतंत्रता का जो वर्णन हमें कांट में मिलता है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से बटलर के अंतःकरण संबंधी अकठोर प्रत्यय का ही विकसित रूप है जिसके अनुसार 'अंतःकरण' आत्मा पर परम अधिकार रखने वाला और अपनी शक्ति द्वारा मनुष्य को 'स्वशासित' अस्तित्व का गौरव प्रदान करने वाला है।"[3]

उक्त विचार किंचित अप्रासंगिक थे। बटलर के मनस् के प्रत्यय का विश्लेषण करते हुए हम देखते हैं कि उसमें विद्यमान कोई भी तत्व मूलरूप से

1. So long as our actions are those which conscience would approve, if we carefully considered the question, the supremacy of conscience is preserved, even though we have acted from immediate impulse or self love of benevolence. In fact, the main function of conscience is regulative."
Five types of Ethical Theory, p. 79.
2. पुस्तक के सातवें अध्याय में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।
3. Kant's treatment of moral obligation and autonomy may, therefore, be regarded, historically as a development of Butler's less rigorous analysis of conscience as the supreme authority over the soul and the faculty by which man is 'law to himself'.
A Short History of Ethics, p. 192.

अनैतिक नहीं है। अपने में प्रत्येक तत्व तटस्थ, सहज एवं प्राकृतिक है और जीवन में उसका एक निर्दिष्ट स्थान है। जब तक प्रत्येक अपने कार्य में संलग्न रहता है, वह उचित, मूल्यवान और नैतिक दृष्टि से वांछनीय है। किंतु, यदि उनमें से कोई भी अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करता है और अन्य के कार्य एवं कार्य-क्षेत्र में व्यवधान उपस्थित करता है, तो वह निश्चित रूप से अनैतिक हो जाता है। तत्वों का आदर्श व्यवहार ही उनकी नैतिकता है। किंतु आदर्श व्यवहार से क्या तात्पर्य है तथा स्थिति-विशेष में कौन-सा व्यवहार आदर्श है और यह कैसे जाना जा सकता है, यह सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं और इन पर बलटर ने अपने ढंग से प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

तत्वों का आदर्श व्यवहार

तत्वों के आदर्श व्यवहार एवं क्रियाशीलता को परिभाषित करने का प्रयास अत्यंत ही कठिन है। उसके व्यावहारिक एवं ग्राह्य रूप को इस प्रकार प्रस्तुत करना ताकि उसके आधार पर जीवन का संतुलित नियमन हो सके, सरल नहीं है। ब्रॉड के विचार में प्रयोजनवादी एवं वैज्ञानिक विधियों द्वारा उसका निरूपण किया गया है।

प्रयोजनवादी विधि

प्रयोजनवादी विधि के अनुसार वस्तु-विशेष के व्यवहार संबंधी आदर्श की परिभाषा उसमें निहित प्रयोजन के आधार पर की जा सकती है। यदि वस्तु-विशेष के अस्तित्व का कारण क्या है, यह स्पष्ट हो जाय, तो सहज में इस तथ्य का भी ज्ञान हो सकता है कि उसका व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए। एक घड़ी उचित समय बतलाने की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। विश्व में जितनी भी घड़ियाँ हैं, वे इसी विशेषता के कारण अच्छी या बुरी कही जाती हैं। आदर्श घड़ी वह नहीं जो देखने में सुंदर हो, वरन् वह जो सही समय बतलाती हो। किसी भी वस्तु के व्यवहार को निश्चित करने के लिए यह विधि उचित प्रतीत होती है और साधारणतया जीवन में इसी दृष्टिकोण से वस्तुओं के व्यवहार, उनके औचित्य-अनौचित्य पर निर्णय दिये जाते है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बटलर भी इसी विधि की सहायता से मानवीय-व्यवहार संबंधी 'आदर्श' को निश्चित करने के पक्ष में है। किंतु आदर्श की व्याख्या में इस विधि के प्रयोग के पक्ष में ब्रॉड नहीं हैं। उनका कहना है कि इस विधि के प्रयोग में, मानवीय व्यवहार संबंधी जो स्वीकृतियाँ निहित हैं, वे अवांछनीय हैं। यह कहना कि मानवीय व्यवहार द्वारा यंत्रवत् उसमें निहित प्रयोजन उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है और वह ज्ञेय है, सर्वथा अनुचित है। बटलर के विचारों से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए ब्रॉड कहते हैं:-

"बटलर प्रायः इस प्रकार बात करते हैं कि मानो इस मानदंड का प्रयोग हम मनुष्य के लिए कर सकते हैं, किंतु मेरी दृष्टि से यह उचित नहीं प्रतीत होता। 'मनुष्य क्या है?' यह प्रश्न तब तक निरर्थक है जब तक हम यह न मान लें कि उसका निर्माण ईश्वर द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य के लिए हुआ है। और, यदि यह निश्चित हो भी जाये तब भी उससे हमारी कोई सहायता न होगी, क्योंकि, वह प्रयोजन वस्तुतः क्या है इसका हमें कोई ज्ञान नहीं।"[1]

वैज्ञानिक विधि

वैज्ञानिक विधि से सभी परिचित हैं। हमारे व्यावहारिक जीवन के सभी सामान्य प्रत्ययों का निर्माण इस विधि के आधार पर होता है। जीवशास्त्री जब पशुओं की सामान्य विशेषताओं के आधार पर सामान्य प्रत्ययों का निर्माण करते हैं, यथा-गाय, हिरन, शेर आदि तब वे इसी विधि का मूलतः प्रयोग करते हैं। अतएव, मानवीय व्यवहार संबंधी प्रतिमानों का निर्धारण भी इसी विधि के आधार पर होना चाहिये, यद्यपि, प्रथम दृष्टि में यह प्रयास हमारी सहज मानव द्वारा आरोपित [2] वृत्ति का ही परिमाण प्रतीत होता है।

किंतु, इस विधि के आधार पर व्यवहार संबंधी जिस सामान्य प्रत्यय का निर्माण किया जायेगा, वह किसी भी दृष्टि से, किसी भी स्थिति में, संपूर्ण एवं अंतिम नहीं माना जा सकता। इसीलिए आदर्श संबंधी संपूर्ण प्रत्यय अंतिम दृष्टि से अविश्लेष्य ही रह जाता है। मानवीय व्यवहार के अध्ययन द्वारा जिस दिशा की ओर, जिस लक्ष्य की ओर, वह व्यवहार उत्तरोत्तर अग्रसर हो रहा है उसके विषय में अनुमान ही कर सकते हैं; उस विशिष्ट लक्ष्य के विषय में हमें अल्प और स्पष्ट बोध ही हो पाता है।

ब्रॉड की दृष्टि में संभवतः इसी विधि के प्रयोग द्वारा बटलर ने मानवीय-व्यवहार के आदर्श की एक रूपरेखा प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वे कहते हैं

---

1. Butler often talks as if we could apply this criterion to man, but this does not seem to me to be true. There is no sense in asking what a man is; for unless we assume that he has been made by God for a certain purpose. And even if this were certain, it would not help us, for we do not know what this purpose may be".

   Five Types of Ethical Theory, p, 58.

2. "Anthropomorphic". "Intrmediate between the ideal watch – the ideal circle, and more closely analogous to what Butler needs for his purpose, would be the biologists concept of an ideal horse or rebbit. By comparing and contrasting actual horses, all of which are defective in various respects and to various degrees we can form the notion of an ideal horse. And although we recognize that it is an anthropomorphic way of speaking and that we must not take it too literally we are making a statemen which has some kind of correspondence to an important fact when we say that nature is always striving to wards such ideals and always falling short of them to some extent." Ibid, p. 58.

कि यदि हमारी मूल वृत्तियाँ आत्म-प्रेम एवं जनहितैषिता द्वारा नियंत्रित होना स्वीकार कर लें और ये दोनों नियामक तत्व 'अंतःकरण' के अधीन हो जायें तब निश्चित है कि हमें आदर्श की उपलब्धि हो जायेगी। जीवन को सुव्यवस्थित एवं शृंखलाबद्ध करने के लिए तथा सौम्य स्थिति की स्थापना के लिए यह नितांत अनिवार्य है। इसके अनंतर, किस प्रकार किस विशेष अनुपात में मनस् के ये सावयविक तत्व परस्पर सम्मिलित हों कि उस साम्य-स्थिति का अवतरण हो जाय, इसके विषय में विस्तार से कुछ कहना संभव नहीं। इसके पूर्ण प्रस्तुतीकरण के लिए जिस समग्र दृष्टि की आवश्यकता है, वह विकास की वर्तमान स्थिति में संभव नहीं।

किंतु मनुष्य के पास एक ऐसी सहज क्षमता विद्यमान है, जिसके द्वारा वह जीवन-संबंधी प्रतिमाओं को सहज प्रत्यक्ष कर लेता है, इसे सभी अंतःप्रज्ञावादी स्वीकार करते हैं। इसीलिए बटलर ने अंततः विज्ञानवादी विधि की अपेक्षा प्रयोजनवादी विधि को ही उचित माना है और प्रयोजन की ज्ञेयता को अंतःप्रज्ञा के आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। किंतु ब्रॉड ने जिस प्रकार इन दो विधियों के स्वरूप को प्रस्तुत किया है, बटलर ने स्पष्टतया इनमें से किसी को भी इन रूपों में स्वीकार नहीं किया है।

नैतिक आदर्श की स्वतः स्पष्टता [1]

बटलर तथा सभी अंतःप्रज्ञावादियों के अनुसार नैतिक निर्णय में व्यंजित आदर्श स्वतः स्पष्ट तथा अंतःप्रज्ञा द्वारा ग्राह्य हैं। इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुये रॉस कहते हैं :-

"ये उसी प्रकार स्वतः स्पष्ट हैं जिस प्रकार गणित का वाक्य अथवा अनुमान की प्रामाणिकता सहज स्पष्ट होती है। नैतिक निर्णयों में व्यंजित आदर्श-व्यवस्था विश्व की मौलिक रचना का वैसा ही अनिवार्य भाग है (यही नहीं, वह ऐसे किसी भी काल्पनिक विश्व का अनिवार्य भाग है, जिसमें नैतिक कर्ता विद्यमान हैं) जैसे रेखागणित तथा अंकगणित के स्वतःसिद्ध सूत्रों में विश्व के वस्तुगत देश एवं संख्या संबंधों सत्य अभिव्यक्त रहते हैं। इन नैतिक निर्णयों की यथार्थता की स्वीकृति में, बुद्धि की क्षमता में हमारा उसी प्रकार का सहज विश्वास विद्यमान है, जैसा कि गणित के संबंध में, और हमारे पास ऐसा कोई भी कारण नहीं है, जिसके आधार पर हम एक स्थान पर उसका विश्वास करें और दूसरे स्थान पर नहीं करें। दोनों ही स्थलों पर हमारा संबंध ऐसे निर्णयों से है, जिन्हें प्रमाणित नहीं किया जा सकता, "वरन् जिन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता भी नहीं। [2]

नैतिक निर्णय के स्वतः प्रामाणिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पुनः वे कहते हैं :-

---

1. Self evident character. इसके लिए 'स्वतः प्रामाणिकता' तथा 'स्वतःसिद्धता' शब्दों का भी प्रयोग किया जा सकता है।
2. "It is self evident just as a mathematical axiom, or the validity of inference is evident. The moral order expressed in these propositions is just as much part of the fundamental nature of the universe (and we may add, of any possible universe in which there were moral agents at all) as is the

"वह स्वतः स्पष्ट इस अर्थ में नहीं है कि जीवन के प्रारम्भ से ही अथवा जैसे ही सर्वप्रथम हम उसकी ओर उन्मुख होते हैं, वह स्पष्ट हो जाता है, प्रत्युत्, इस विशिष्ट अर्थ में स्वतः स्पष्ट है कि जब हम पर्याप्त मानसिक-विकास प्राप्त कर लेते हैं और निर्णय का समुचित निरीक्षण करते हैं, तब अपने से पृथक् प्रमाण की उसे आवश्यकता ही नहीं रहती।"[1]

उक्त पंक्तियों द्वारा यह स्पष्ट है कि दार्शनिक अंतःप्रज्ञावाद के अनुसार नैतिक व्यवस्था जो नैतिक नियमों द्वारा निर्मित होती है, एक स्वतः पर्याप्त वस्तुगत व्यवस्था है और अंतःप्रज्ञा के लिए सुलभ है।

संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ऐसी बौद्धिक क्षमता है, जिसके द्वारा वह उक्त नैतिक व्यवस्था को सहज प्रत्यक्ष कर लेता है और उसके पश्चात् अनुमान द्वारा विशिष्ट कर्मों की नैतिकता पर अपना निर्णय देता है। दार्शनिक अंतःप्रज्ञावादी के अनुसार हमारे नैतिक निर्णय सहज प्रत्यक्ष के परिणाम नहीं होते और न ही वे स्वतः प्रामाणिक ही होते हैं। किंतु, जिन नियमों के आधार पर ये दिये जाते हैं, वे स्वतः प्रामाणिक और अंतःप्रज्ञा द्वारा सहज ग्राह्य होते हैं नैतिक निर्णय अनुमानजन्य होते हैं और इसीलिए संभाव्य-सत्य[2] के अन्तर्गत आते हैं।

बटलर के विचार की रूपरेखा प्रस्तुत करने के उपरांत उसकी विशिष्टता को समझने के लिए यह अनिवार्य है कि हाब्ज के विचारों के संदर्भ में उसे प्रस्तुत किया जाय।

बटलर में हाब्ज विरोधी विचार

हाब्ज के विरुद्ध बटलर का विश्वास है कि मानवीय प्रकृति द्वि-ध्रुवीय है। उसके व्यक्तित्व के 'स्व' और 'परार्थ' दो विशिष्ट केंद्र हैं और दोनों का ही जीवन में समान महत्त्व है। परार्थमयी वृत्ति को वे जनहितैषिता नियम[3] के रूप में प्रस्तुत

---

spatial or numerical structure expressed in the axioms of geometry or arithmetic. In our cofidence that these propositions are true there is involved the same trust in our reason that is involved in our confidence in mathematics, and we should have no justification for trusting it in the latter sphere and distrusting it in the former. In both cases we are dealing with propositions that can not be proved but that just as certainly need no proof."
The Right and the Good, pp. 29-30.

1. "Not in the sense that it is evident from the beginning of our lives, or as soon as we attend to the proposition for the first time, but in the sense that when we have reached sufficient mental maturity and have given sufficient attention to the proposition it is evident without any need of proof or of evidence beyond itself". Ibid, p. 29.
2. Probable truth.
3. Principle of benevolence. लोकहितैषिता तथा परहितेच्छा शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

करते हैं। अपने उपदेश में [1] हाब्ज विरोधी विचारों को व्यक्त करते हुए, वे कहते हैं :-

"मनुष्य में एक प्राकृतिक नियम के रूप में जनहितैषिता विद्यमान है, जिसका कि कुछ अंशों में समाज के लिए वही स्वरूप है, जो कि व्यक्ति के लिए आत्म-प्रेम का है।"[2]

पुनः वे कहते हैं :-

"जनहितैषिता एवं आत्म-प्रेम की तुलना से यह स्पष्ट है कि हम समाज और उसके सुख की संवृद्धि के लिए उसी प्रकार बनाये गये हैं, जिस प्रकार हम वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं व्यक्तिगत शुभ के लिए बनाये गये हैं।"[3]

उक्त विश्वास के अनुरूप बटलर ने हाब्ज के मानवीय सहानुभूति के अ-मनोवैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण को अस्वीकार किया है, क्योंकि, उनके द्वारा उन तथ्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। हाब्ज के अनुसार जब हमारे अंदर किसी व्यक्ति-विशेष के लिए सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है, तो उसका भी कारण व्यक्तिगत स्वार्थ एवं हित की भावना ही होती है। दूसरे को संकटकालीन स्थिति में देखकर व्यक्ति अपने लिए सतर्क हो उठता है और एक सम्भाव्य संकट की कल्पना से अभिभूत एवं चिंतित हो सहानुभूति प्रदर्शित करने लगता है। हाब्ज के अनुसार सहानुभूति व्यक्त करने वाला व्यक्ति वस्तुतः चिंतित, भयातुर तथा विक्षुब्ध व्यक्ति होता है।

हाब्ज के विचारों को अस्वीकार करते हुए तथा बटलर के विचारों को प्रस्तुत करते हुए ब्रॉड कहते हैं कि सहृदयता एवं सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति के लिए हमारे हृदय में आदर का भाव प्रधान होता हे। किंतु, हाब्ज के विश्लेषण के अनुसार ऐसा व्यक्ति मूलतः कायर, विक्षुब्ध एवं स्नायुविक दृष्टि से अस्वस्थ एवं अव्यवस्थित होता है। उसके प्रति आदर भाव व्यक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उक्त विश्लेषण तथ्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करता है, इसलिए अनुचित है।

हाब्ज के उक्त विश्लेषण के विरुद्ध एक और आपत्ति प्रस्तुत करते हुए इस संदर्भ में ब्रॉड कहते हैं कि क्या कारण है कि मानवीय सहानुभूति अपरिचित, शत्रु तथा मित्र सभी के प्रति भिन्न रूप में व्यक्त होती है, जबकि वैयक्तिक-हित की दृष्टि से उत्तेजना रूप में वस्तुगत स्थिति सब स्थानों में समान ही रहती है।

1. Sermon.
2. "There is a natural principle of benevolence in man; which is in some degree, what self love is to the individual." S-1-16.
3. From this comparison of benevoence and self-love it is as manifest, that we were made for society and to promote the happiness of it; as that we were intended to take care of our own life, and health and private good."

इस संबंध में प्रश्न स्वाभाविक ही है कि ऐसा होने पर भी हाब्ज ने क्यों मानवीय सहानुभूति को इस प्रकार तथ्यों के विपरीत प्रस्तुत किया। संभवतः इसलिए कि मानवीय प्रकृति के संबंध में हाब्ज की अपनी एक निश्चित पूर्व धारणा थी कि वह मूलतः स्वकेंद्रित है और तदनंतर उस धारणा के विपरीत उन्हें जो भी तथ्य मिले उन्हें उसी के अनुरूप उन्होंने प्रस्तुत करने की चेष्टा की। किंतु, इस सिद्धांत से पृथक् तथ्यों का यदि निरीक्षण किया जाय, तो स्पष्ट है कि 'सहानुभूति कि भावना'-अन्य के साथ सायुज्यता स्थापित करने की, उनकी जीवन में प्रविष्ट होने की, उसके दुःखों को कम करने की, मानवीय वृत्ति को व्यक्त करती है।

हाब्ज के विचारों पर टिप्पणी करते हुए ब्रॉड कहते हैं :-

"व्यावहारिक बुद्धि के साथ हाब्ज स्पष्ट विरोध में आते हैं।....हाब्ज के पास एक सामान्य दार्शनिक सिद्धांत है कि प्रत्येक कर्म अनिवार्यतः स्वकेंद्रित होना चाहिये और इसीलिए, 'सहानुभूति' जो अपवादस्वरूप है, उसे भी उन्हें उक्त सिद्धांत के साथ बरबस समन्वित करना पड़ता है।"[1]

मानवीय प्रकृति अधिक उदार है। जनहितैषिता आत्म-प्रेम के समान ही मौलिक है और उसके स्वरूप की विकृति मानवीय प्रकृति के संबंध में अनेक भ्रांतियों के कारण होती है। किंतु, जनहितैषिता वस्तुतः क्या है तथा आत्म-प्रेम से वह किस प्रकार संबद्ध है, इस विषय में बटलर बहुत स्पष्ट नहीं। वे उन दोनों तत्वों की प्रकृति तथा उनके परस्पर संबंध को दो प्रकार से प्रस्तुत करते हैं और इसलिए कभी-कभी निश्चित रूप से उनके विषय में कुछ कह सकना कठिन हो जाता है। [2]

जनहितैषिता के प्रत्यय में द्वयर्थकता

जनहितैषिता को दो विशिष्ट अर्थों में बटलर ने प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। प्रथम अर्थ में तो वह 'आत्म-प्रेम' के समान एक समस्तरीय नियामक-तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जब ये दोनों नियामक तत्व परस्पर संघर्ष में आते हैं, तब उनमें से किसी एक को दूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने का अधिकार नहीं। उस स्थिति में दोनों को समान रूप से 'अंतःकरण' की अधीनता को तथा उसके निर्णय को स्वीकार करना होगा। जहाँ वे परस्पर सामंजस्य बनाये हुए हैं, उन्हें मानवीय वृत्तियों को नियंत्रित करने का समान नैतिक अधिकार प्राप्त

1. "Hobbes comes into open conflict with commonsense...Hobbes has a general philosophical theory that all action must necessarily be selfish and so he has to force sympathy which is an apparent exception into accord with this theory."
2. अपने 'बटलर के नीति–विचार में जनहितैषिता का स्थान'(The place of benevolence in Butler's Ethics)लेख में जो फिलासफिकल क्वाटरली अंक अक्तूबर, 1959 में प्रकाशित हुआ ग्लेन. के. रिडल ने इस संबंध में ब्रॉड तथा डैंकन जोंस दो विचारकों के विरोधी मतों का वर्णन किया है। रिडल, डंकन जोंस की अपेक्षा ब्रॉड के मत से अधिक सहानुभूति रखते हैं।

है। दोनों में मूल रूप से कोई बुराई नहीं है। मनुष्य को अपने वैयक्तिक हितों के प्रति सजग रहने का उतना ही अधिकार है, जितना उसे अन्य के हित तथा व्यापक रूप से मानवीय समाज के हित को सुरक्षित रखने का-उसके लिए प्रयत्नशील होने का अधिकार हैं, क्योंकि परस्पर-सहयोग द्वारा ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की संवृद्धि संभव है।

द्वितीय अर्थ में 'जनहितैषिता' को एक मूलवृत्ति मात्र स्वीकार किया गया है। इस अर्थ की स्वीकृति का कारण स्पष्ट करते हुए ब्रॉड कहते हैं कि संभवतः आत्म-प्रेम तथा जनहितैषिता के मध्य जो प्राकृतिक सहयोग एवं सामंजस्य स्थापित है तथा उनमें स्थायी विरोध का जो अभाव है, उसे बटलर इस प्रकार व्यक्त करना चाहते हैं। किंतु, अपने इस प्रयास में वे यह भूल गये हैं कि जनहितैषिता एक नियामक तत्व है और उसे मूलवृत्ति के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए ब्रॉड कहते हैं :-

"मैंने सर्वत्र यह स्वीकार किया है कि उन्होंने जनहित की भावना को एक ऐसे सामान्य नियम के रूप में प्रस्तुत किया है, जो हमें व्यक्तियों की विशिष्ट माँगों की अवज्ञा करते हुए, मानवता के सुख की संवृद्धि के लिए प्रेरित करता रहता है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वे आत्म-प्रेम को निश्चित रूप से एक ऐसे सामान्य नियम के रूप में मानते हैं, जो हमें हमारे संपूर्ण सुख की अभिवृद्धि के लिए निर्देशित करता रहता हैं। किंतु कभी-कभी वह यह भूल जाते हैं कि जनहितैषिता आत्म-प्रेम के समान सामान्य सिद्धांत है और उसे वे अन्य वृत्तियों की तरह केवल एक विशिष्ट वृत्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं।"[1]

नियमों के अनुसरण में परिणाम का बाह्य सादृश्य

बटलर के विचार की प्रस्तुति में जो अंतिम बात महत्त्वपूर्ण है वह उनके इस विश्वास से संबद्ध है कि दोनों सिद्धांत (यथा-आत्म-प्रेम एवं जनहितैषिता) कभी-कभी बाह्य दृष्टि से समान परिणामों की उत्पत्ति का कारण होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि परिणामों में बाह्य दृष्टि से सादृश्य है तो चाहे कार्य आत्म-प्रेम से अथवा जनहितैषिता से प्रेरित हो कर किया गया हो, उसका नैतिक मूल्य दोनों ही स्थितियों में समान है। बटलर के इस विश्वास के पीछे जो विचार विद्यमान है और जो उसके चिंतन में विशेष महत्त्व रखता है, वह यह कि दोनों समस्तरीय

---

1. "I have assumed throughout that he regards benevolence as a general principle which impels us to maximise the happiness of humanity without regard to persons, just as he certainly regards self-love as a general principle leading us to maximise our own total happiness. But he sometimes tends to drop benevolence, as a general principle co-ordinate with self-love; rather out of right, and jto talk of it as if it were just one of the particular impulses." Five Types of Ethical Theory, p. 71.

सिद्धांत मानवीय जीवन के लिए समान मात्रा में प्राकृतिक हैं और उनमें किसी प्रकार के स्थायी विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती।

किंतु, यदि हम सामान्य नैतिक बुद्धि के आधार पर, इस प्रश्न पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि कार्यों के परिणामों के बाह्य सादृश्य के उपरांत भी हम नैतिक दृष्टि से भिन्न उनका मूल्यांकन करते हैं। अन्य शब्दों में, कार्यों के परिणाम का केवल बाह्य सादृश्य ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि दोनों कार्य नैतिक मूल्य की दृष्टि से भी समान हैं। इस प्रश्न पर हमारी व्यावहारिक बुद्धि तथ्यों के अधिक निकट है, जब वह वाह्य सादृश्य के उपरांत भी आत्म-प्रेम की अपेक्षा जनहितैषिता से प्रेरित कार्यों को नैतिक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट मानती है।

नैतिक जीवन के उक्त दो नियामक तत्व के विश्लेषण के उपरांत बटलर के सिद्धांत से संबद्ध तृतीय तत्व 'अंतःकरण' के स्वरूप का प्रस्तुतीकरण अनिवार्य है।

अंतःकरण

अंतःकरण मानवीय जीवन का तृतीय नियामक तत्व है। किंतु, उक्त दोनों तत्वों की अपेक्षा वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब तक ये दानों तत्व अपने विशिष्ट क्षेत्रों में निर्विरोध कार्य करते हैं, अंतःकरण तटस्थ वृत्ति बनाये रहता है। उसके समक्ष समाधान हेतु कोई समस्या ही नहीं रहती। अपने कार्य-क्षेत्र एवं कार्य-विधि में उक्त दोनों तत्व पर्याप्त स्वतंत्रता रखते हैं और अंतःकरण द्वारा उसमें किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं होता। किंतु जब दोनों परस्पर संघर्ष में आते हैं, तब दानों में से किसी को भी अंतिम निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। दोनों को समान रूप से अंतःकरण के अंतिम निर्णय को ही स्वीकार करना होगा।

बटलर ने अंतःकरण के बोध एवं प्रभुता पक्षों को पृथक् प्रस्तुत किया है। बोध-पक्ष द्वारा वह नैतिक नियमों को सहज प्रत्यक्ष कर लेता है। सभी अंतःप्रज्ञावादी उसकी इस अपूर्व क्षमता में विश्वास रखते हैं। जिस प्रक्रिया द्वारा उक्त बोध संभव है वह साधारण बोध संबंधी प्रक्रिया से नितांत भिन्न है। 'सद्' का प्रत्यय अनुभव-निरपेक्ष प्रत्यय है और इसीलिए उसके बोध के लिए एक असामान्य अनानुभविक प्रक्रिया[1] की आवश्यकता होती है।

सभी नव्य अंतःप्रज्ञावादी नैतिक मूल्य एवं आधारभूत नैतिक नियमों के प्रत्यक्षीकरण की इस अपूर्व क्षमता को स्वीकार करते हैं। रॉस इस संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं:-

"यदि हम अब यह प्रश्न करना चाहें कि आधारभूत नैतिक नियमों को किस प्रकार जाना जा सकता है, तो उसका उत्तर यही प्रतीत होता है कि उनको

1. Non-empirical; 'अनुभव–निरपेक्ष' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

हम उसी प्रकार जान सकते हैं जिस प्रकार गणित के स्वतः सिद्ध सत्यों को जानते हैं। दोनों सामान रूप में संश्लेषणात्मक एवं अनुभव निरपेक्ष प्रतीत होते हैं। अन्य शब्दों में, हम देखते हैं कि यद्यपि विधेय[1] उद्देश्य[2] की परिभाषा में सम्मिलित नहीं है, किंतु वह अनिवार्यतः ऐसी प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है, जो उस परिभाषा के अनुरूप है। और जिस प्रकार गणित में अंतर्दृष्टीय आगमन [3] द्वारा सत्यों का बोध होता है, ठीक उसी प्रकार सामान्य सत्यों का भी हमें बोध होता है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि एक विशेष कल्पित-कार्य जो दूसरों में सुख उत्पन्न करता है, उसका हम पर अधिकार है, इसके पश्चात् बड़ी सरलता एवं निश्चित रूप से हम यह कह सकते हैं कि कोई भी कार्य जो समान अनिवार्य विशेषताओं से युक्त है, उसमें फलतः आपात-औचित्य[4] की विशेषता होनी चाहिये।"[5]

अंतःकरण मात्र नैतिक प्रत्ययों एवं नियमों का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करता, प्रत्युय मानवीय संकल्प को नियंत्रित करने का विशेष अधिकार भी रखता है। वह परम नियामक तत्व है, जो मानवीय संकल्प के लिए करणीय-अकरणीय की व्याख्या अंतिम रूप से प्रस्तुत करता है। बटलर के अनुसार वह नैतिकता के अविर्भाव का अंतिम उद्‌भव स्थल है। कांट ने अंतःकरण के आदेश तथा उसकी अनिवार्यता को निरपेक्ष रूप से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार परिस्थितियाँ कितनी भी विषम एवं बलवती क्यों न हों, उसके आदेश की अवहेलना किसी भी स्थिति में क्षम्य नहीं, उसके आदेश को अनिवार्यतः स्वीकार करना ही है और उसकी अवज्ञा सदैव ही आत्म-ग्लानि एवं पीड़ा का कारण होती है। किंतु, सैद्धांतिक स्तर पर उसकी परम निरपेक्ष प्रभुता एवं आधिपत्य को स्वीकार करने पर भी बटलर ने यह स्वीकार किया है कि अंतःकरण सदैव अपने आदेश के अनुरूप कार्य करवाने का मनोवैज्ञानिक बल नहीं रखता। उसकी सैद्धांतिक निरपेक्षता एवं प्रभुता तथा मनोवैज्ञानिक असामर्थ्य को वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं।[6]

1. Predicate.
2. Subject.
3. Intuitive induction.
4. Prima facie rightness.
5. "If we now turn to ask how we come to know these fundamental moral principles, the answer seems to be that is is in the same way in which we come to know the axioms of mathematics. Both alikc seem to be both synthetic and apriori, that is to say, we see the predicate, though not included in the definition of the subject, to belong necessarily to anything which satisfies that definition. And as in mathematics, it is by intuitive induction that we grasp the general turths. We see first, for instance, that a particular imagined act as being productive of pleasure to another, has a claim on us and it is very short and inevitable step from this to seeing that any act as possessing the same contitutive character, must have the same resultant character of primafacie rightness".

   Foundations of Ethics.
6. Five Types of Ethical Theory, p. 79.

बटलर का विश्वास है कि अंतःकरण बहुत कम जीवन के कार्यों में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करता है। जब तक कार्य उसके आदेश की रचना के अनुरूप होते रहते हैं, वह निष्क्रिय एवं सुषुप्त स्थिति में रहता है। शेष दो नियामक-तत्व (आत्म-प्रेम एवं जनहितैषिता) जीवन का निर्विरोध नियमन करते रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन को नियंत्रित करने का अपना परम अधिकार उसने सामान्यतः इनमें वितरित कर दिया है। किंतु, असाधारण एवं विषम स्थितियों में जब ये दो नियामक शक्तियां कार्य करने में अपने को असमर्थ पाती हैं, तब यह विशेष रूप से सक्रिय हो उठता है।

बटलर में नैतिक अनुमति का रूप

इसके अतिरिक्त बटलर के विचार की एक अन्य विशेषता है। उनके अनुसार यदि अंतःकरण के आदेश एवं कार्य में बाह्य सादृश्य है, तो फिर नैतिक विशेषता के निर्धारण में, कार्य की पृष्ठभूमि में, कार्य करने वाली प्रेरणा की प्रकृति का कोई विशेष महत्त्व नहीं; कार्य आत्म-प्रेम एवं जनहितैषिता में से किसके द्वारा संपादित हुआ है, यह प्रश्न निरर्थक है। नैतिक दृष्टि से कार्य का मूल्य दोनों ही स्थितियों में समान रहेगा।

किंतु, इस प्रश्न पर स्पष्टतः कांट का मत भिन्न है। उनके अनुसार कार्य यथार्थ में तभी नैतिक है, जब वह अंतःकरण के आदेश की निरपेक्षता को स्वीकार करता हुआ, केवल उसी के लिए संपन्न हुआ हो। किसी भी अन्य प्रेरणा से नियंत्रित होने पर उसकी नैतिक उत्कृष्टता नष्ट हो जाती है। प्राकृतिक प्रेरणा अथवा आत्म-प्रेम द्वारा प्रेरित कार्य, चाहे वह कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित कार्य के अनुरूप ही क्यों न हो, यथार्थ में नैतिक नहीं।

कांट इस प्रश्न पर दृढ़ हैं और यह उचित भी है। साधारण व्यावहारिक-बुद्धि के निर्णयों का यदि हम अध्ययन करें तो स्पष्ट है कि वह निषेधात्मक-रूप से इतना स्वीकार करती है कि आदेश एवं कार्य की केवल बाह्य अनुरूपता कार्य की नैतिकता के लिए पर्याप्त नहीं। नैतिक मूल्यांकन की दृष्टि से कार्य की प्रेरणा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन दो व्यक्तियों में से जो अनुदान में राशि देते हैं, उस व्यक्ति की अपेक्षा, जो वैयक्तिक स्वार्थ एवं अहं से प्रेरित होकर कार्य करता है, वह व्यक्ति जो जनहितैषिता से प्रेरित होकर कार्य करता है, निश्चित ही श्रेष्ठ है और वह ही हमारी श्रद्धा का पात्र होता है।

किंतु, मानवीय आदर्श से संबद्ध बटलर के विचार कांट की अपेक्षा अधिक सरल एवं ग्राह्य हैं। उनकी दृष्टि में केवल कर्तव्य के अनुरूप कार्य करना ही पर्याप्त है, चाहे वह कार्य विशुद्ध अंतःकरण से प्रेरित हुआ हो अथवा नहीं।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से कांट का दर्शन बटलर के विचारों का ही संशोधित,परिवर्तित

1. Ibid, p. 79.

संस्करण प्रतीत होता है। उनका विचार बटलर के अंतःकरण के परम निरपेक्ष प्रभुता पक्ष का ही विकसित रूप है।[1]

नव्य अंतःप्रज्ञावादी रॉस, इविंग, ब्रॉड सभी इस प्रश्न पर कांट के उन विचारों से असंतुष्ट हैं और बटलर के विचारों का समर्थन करते हैं। रॉस कहते हैः

"हमें कांट के विचारों से, जिनमें इच्छाओं को नैतिक मूल्य देने से अस्वीकार किया है, सहमत होने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः जब हमसे यह विश्वास करने को कहा जाता है कि साधारण दयालुता यदि कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित नहीं होती तब वह निर्ममता से किसी भी अर्थ में श्रेष्ठ नहीं, तब स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विषय पर हमारे यथार्थ विचारों के साथ बड़ी मात्रा में अन्याय किया जा रहा है।"[2]

पुनः वे कहते हैं कि आदर्श व्यक्ति का जो चित्र कांट ने प्रस्तुत किया है तथा जिसके अनुसार वह जीवन में सहज दयालुता से नहीं, प्रत्युत् सदैव कर्तव्य-बुद्धि से ही अनुशासित होता है, सर्वथा संकुचित एवं कठोर है। कांट का विचार कतिपय भ्रांतियों पर आश्रित है और यदि इनसे मुक्त हुआ जा सके तो निश्चित ही आदर्श व्यक्ति का एक भिन्न चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में आदर्श व्यक्ति का चित्र एक ऐसे व्यक्ति का होगा जो 'कर्तव्य बुद्धि' के अतिरिक्त कई शुभ प्रेरणाओं से युक्त हैं, किंतु, उसमें उक्त कर्तव्य बुद्धि इतनी प्रबल है कि अन्य प्रेरणाओं के अभाव में भी वह कर्तव्य का पालन कर सकता है।"[3]

बलटर के विचारों के समीक्षात्मक प्रस्तुतीकरण के उपरांत, अब नव्य अंतःप्रज्ञावादियों के विचारों को प्रस्तुत किया जायेगा। वर्तमान संदर्भ में भी हमें उनके विचारों का पर्याप्त परिचय मिल चुका है।

---

1. Rogers, A Short history of Ethics, p. 192.
2. "We need not agree with Kant,s denial of moral value to all desires. And plainly great violence is done to what we really think, when we are asked to believe that ordinary kindness when not dictated by the sense of duty is no better than cruelty." Foundations of Ethics, p. 306
3. ....."If we avoid these mistakes, we can think of the ideally good man as having many good motives. In addition to, the sense of duty, but with a sense of duty strong enough to do his duty even if other motives were absent."

Ibid, P. 306.

अध्याय तीन

नव्य अन्तःप्रज्ञावाद[1]

अपने पूर्ववर्ती विचारकों कुडवर्थ एवं क्लार्क की तरह नव्य अंतःप्रज्ञावादी भी 'शुभ' की अपेक्षा 'सद्' एवं उचित को मूल प्रत्यय के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके ही समान वे भी एक शाश्वत, अपरिवर्तनीय, सामान्य एवं अनिवार्य, अनुभव-निरपेक्ष नैतिक नियमों की व्यवस्था में विश्वास रखते हैं, जिसे मनुष्य को नैतिक-जीवन तथा उससे संबद्ध आकांक्षा के साथ न्याय करने के लिए अनिवार्यतः स्वीकार करना है। ये नियम वस्तुनिष्ठ एवं निरपेक्ष हैं और किसी प्रकार के अप्रत्याशित, आकस्मिक संकल्प द्वारा चाहे वह मानवीय अथवा दिव्य ही क्यों न हो, इनमें परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। वे स्वतः सिद्ध स्वतः प्रामाणिक नियम हैं और मनुष्य के पास उन्हें प्रत्यक्ष करने की विशेष क्षमता विद्यमान है। अन्य शब्दों में, बुद्धि के अंतर्दृष्टीय बोध[2] द्वारा वे सहज ग्राह्य हैं और जीवन में उसकी अनिवार्यता परम और अनुलंघनीय है।

नव्य अंतःप्रज्ञावादी नैतिक नियमों के मूल और अनुलंघनीय स्वरूप में आस्था रखते हैं। किंतु, साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जीवन की विविधता अत्यंत ही विषम तथा विस्मयकारी है। जीवन में प्रायः अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब कि परंपरागत, समाज द्वारा अनुमोदित आचार नीति के अनुसार कार्य करना कठिन हो जाता है। ऐसे समय में, मानवीय नैतिक-चेतना के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह परिस्थिति के अनुकूल समस्या-विशेष का एक नया हल ढूँढ़े और परंपरागत आचार नीति को नई दिशा में चलने के लिए आवाहन दे। इसलिए परंपरागत समाज द्वारा अनुमोदित आचार नीति की सदैव रक्षा करना संभव नहीं, निःसंदेह वह विशिष्ट स्थितियों में परिवर्तनीय है। अतएवं प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर उसकी मान्यता एवं अनिवार्यता का अंतिम रूप क्या है? नव्य अंतःप्रज्ञावाद आचार नीति के इस पक्ष को समझने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील है।

नैतिक जीवन के इस विशिष्ट पक्ष को समझने के प्रयास में रॉस ने अपने आपात् कर्त्तव्य और आपात् परोपकार[3] विषयक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। विशिष्ट स्थितियों में, नैतिक नियम के अनुलंघनीय, अनुभव-निरपेक्ष रूप का समर्थन

---

1. Neo-intuitionism; इसे Deontological theory भी कहते हैं।
2. Intuitive understanding 'अंतः प्रज्ञात्मक' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
3. Prima-facie duty and obligation.

कठिन हो जाता है; उसके अनुसार कार्य करना असंभव प्रतीत होता है। और, इसीलिए उससे भिन्न और कभी-कभी विपरीत नियम के अनुसार कार्य करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो जाता है, यथा-युद्ध में बंदी हो जाने पर सत्य बोलना अनैतिक है। किंतु, परंपरागत आचार नीति के अनुसार सत्य बोलना सर्वथा नैतिक है। ऐसा क्यों? इस तथ्य को समझने की चेष्टा करते हुए, प्रत्युत्तर में रॉस कहते हैं कि प्रत्येक नैतिक नियम जो समाज द्वारा अनुमोदित है, एक आपात कर्तव्य से संबंधित है। और वह उस समय तक अनुलंघनीय है, जब तक परिस्थिति-विशेष की कोई अलक्षित विशेषता उसके विपरीत कार्य करने के लिए उसमें परिवर्तन लाने के लिए तथा किसी भिन्न नियम के अनुसार कार्य करने के लिए हमें बाध्य न करे। युद्ध तथा किसी अन्य असाधारण परिस्थिति में इसीलिए हिंसा और असत्य भाषण नैतिक है। इसलिए उन पूर्ववर्ती विचारकों से असहमति व्यक्त करते हुए, जिन्होंने नैतिक नियमों को निरपेक्ष एवं अबाध्य[1] माना है, रॉस कहते हैं:

"कांट ने जब इन नियमों के लिए अपवादरहित परम अधिकार का प्रतिपादन किया तब वे निर्दिष्ट लक्ष्य से दूर चले गये। उनके विचार सर्वदा उचित होते यदि उन नियमों के विषय में वे केवल इतने तक ही अपने को सीमित रखते कि किसी भी कार्य को जो इन नियमों के विपरीत है, तब तक संदेह की दृष्टि से देखा जाना चाहिए, जब तक उसी प्रकार के किसी अन्य नियम के आधार पर वह अपने औचित्य की स्थापना न कर ले।"[2]

पुनः विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं :

"इन नियमों की प्रभुता को सुरक्षित रखने का एक ही उपाय है कि उन्हें उनके अंतर्गत आये हुए कार्यों के औचित्य के समर्थक के रूप में न स्वीकार करें, प्रत्युत्, उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करें कि उनके अंतर्गत आया हुआ प्रत्येक कार्य उनसे संबद्ध विशिष्ट प्रकृतिगत विशेषता के कारण उचित है, और वह अनुचित तभी हो जाता है जब अपनी प्रकृति की किसी अन्य विशेषता के कारण वह किसी अन्य नियम के अन्तर्गत आ जाता है, जिसके कारण वह स्पष्टतः अनुचित हो जाता है।"[3]

---

1. इस संबंध में रॉस ने संभवतः कांट के विचारों को उचित रूप से नहीं प्रस्तुत किया है। देखिये वर्तमान पुस्तक का सातवाँ अध्याय।
2. "Kant overshot the mark when he tried to vindicate for such rules absolute authority admitting of no exception but he would have been right if he had confined himself to insisting that any act which violates such a rule must be viewed with suspicion until it can justify itself by appeal to some other rule of the same type". Foundation of Ethics, p. 313.
3. "The only way to save the authority of such rules is to recognize them not as rules guaranteeing the rightness of any act that falls under them, but as rules guarnteeing that any act which falls under them, tends, so

किसी प्रकार की नैतिक अनिवार्यता परम और अनुलंघनीय और उसके विपरीत आचरण तभी तक अनुचित है, जब तक कि परिस्थिति-विशेष अपनी अलक्षित विशिष्टताओं के कारण किसी भिन्न नियम के अनुसार कार्य करने की अनुमति न दे। इस प्रकार की नैतिक अनिवार्यता को जो केवल उसी समय तक मान्य है, जब तक परिस्थिति विशेष का सूक्ष्म निरीक्षण उसे अनुचित सिद्ध न कर दे, रॉस इसे आपात् अनिवार्यता कहते हैं। कुडवर्थ एवं क्लार्क की तरह रॉस नैतिक नियमों को परिस्थितियों के संदर्भ से पृथक्, परम निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत नहीं करते। उन विचारकों के अनुसार नैतिक नियम अपवाद रहित हैं और अनिवार्यता एवं सामान्यता की दृष्टि से गणितीय नियमों के अनुरूप हैं। इसके विपरीत रॉस, आपात अनिवार्यता-जो प्रथम दृष्टि में अनिवार्य प्रतीत होती है, और यौगिक धर्म[1]-जो आपात अनिवार्यता के उपरांत स्पष्ट होता है तथा अनेक बार उससे भिन्न होता है, के भेद को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं।

आपात अनिवार्यता के विषय में बड़ी स्पष्टता एवं निश्चितता के साथ इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि उसका संबंध उन नियमों से है, जो मानवीय अनुभव के आधार पर, चिरंतन काल से उपयोगी सिद्ध हो चुके हैं। किंतु, द्वितीय प्रकार की अनिवार्यता के संबंध में निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। यौगिक धर्म जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से महत्वपूर्ण रूप से संबद्ध होने के कारण सैद्धांतिक रूप में अपरिभाष्य हैं। अन्य शब्दों में, यथार्थ स्थिति से पृथक् करके किसी भी व्यक्ति के लिए यह कह सकना कि परिरिथति-विशेष में अंतिम रूप से क्या करणीय है अथवा क्या अकरणीय, असंभव है।

सद् की प्राथमिकता एवं अपरिभाष्यता

इस संदर्भ में रॉस एक अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्न करते हैं : क्या यथार्थ में 'सद्' नाम की कोई वस्तु है? इस प्रश्न का भावात्मक उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि परिस्थिति-विशेष में व्यक्ति के लिए क्या 'उचित' एवं 'करणीय' है इसका सदैव स्पष्ट बोध होना आवश्यक नहीं। किंतु, प्रत्येक परिस्थिति में निश्चित रूप से कोई कार्य 'उचित' अवश्य है, इस विषय में संदेह हो ही नहीं सकता। वर्तमान संदर्भ में 'सद्' का अर्थ है-'जो परिस्थिति विशेष में सर्वाधिक उपयुक्त[2] हो।'

रॉस अंतःप्रज्ञावादी हैं। आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार वे परिणाम निरपेक्ष दृष्टिकोण[3] के समर्थक हैं वे 'शुभ' की अपेक्षा 'सद्' प्रत्यय को ही प्राथमिक

far as that aspect of it is nature goes, to be right, and can be rendered wrong only if in virtue of another aspect of its nature it comes under another rule by reason of which it tends more decidedy to be wrong." Ibid, p. 313.

1. Resultant obligation. परिणाम-धर्म शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
2. Most befitting.
3. Deontological attitude फल-निरपेक्ष शब्द भी प्रयुक्त हो सकता है।

मानते हैं। उनका मत है कि 'शुभ' के स्वरूप का 'सद्' के आधार पर स्पष्टीकरण किया जा सकता है। अतएव 'सद्' क्या है? उनकी दृष्टि में प्रश्न महत्वपूर्ण है। रॉस के अनुसार 'सद्' एक 'विशिष्ट'[1] प्रत्यय है और इसीलिए वह अपरिभाष्य भी है। वह अंतर्दृष्टीय बोध द्वारा ही समझा जा सकता है। उसे परिभाषित करने के अभी तक जितने भी प्रयत्न हुए हैं, वे मूलतः अनुचित हैं, क्योंकि उनके द्वारा उसकी यथार्थ विशिष्टता का स्पष्टीकरण नहीं हो सका है। उसको परिभाषित करने पर हमें केवल वृत्तीय-कथन[2] यथा 'सद् सद् है' के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका है ठीक उसी प्रकार जैसे 'लाल' को यदि हम परिभाषित करना चाहें तो उसके विषय में हम केवल इतना ही कह सकेंगे 'लाल लाल हैं'। इससे अधिक उसके विषय में कहना संभव नहीं है। सरलतम तथा विशिष्ट दोनों ही प्रत्यय अपरिभाष्य है, क्योंकि समुचित परिभाषा के लिए जो न्यूनतम तत्व अनिवार्य हैं, उनका यहाँ संपूर्णतया अभाव है।[3] इसीलिए 'सद्' की विशिष्टता को कोई भी परिभाषा स्पष्ट नहीं कर सकी है। उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'सद्' वह है, जो सर्वाधिक उपयुक्त है। किंतु, इन शब्दों द्वारा नैतिक उपयुक्तता की विशिष्टता उचित प्रकार से व्यक्त नहीं हो पाती है। अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए रॉस कहते हैं :

"यदि यह बात सत्य है, तो नैतिक औचित्य निश्चित ही एक अपरिभाष्य विशेषता है। और, यद्यपि उसे 'उपयुक्तता' के व्यापक संबंध के अंतर्गत उपवर्ग के रूप में रखा जा सकता है, उसकी विशिष्टता को केवल 'नैतिक दृष्टि से उचित है' पद समूह द्वारा अथवा इसी जैसे अन्य पर्याय द्वारा ही व्यंजित किया जा सकता है, जिस प्रकार 'लाल' रंग के अंतर्गत वर्ग-विशेष होते हुए भी अन्य रंगों से उसके पार्थक्य को केवल यह कह कर व्यक्त किया जा सकता है कि वह एक ऐसा रंग है, जो लाल है।"[4]

सद् एवं नैतिक अनिवार्यता

अस्तु, 'सद्' एक अपरिभाष्य विशिष्टता है। उसे सांकेतिक रूप से व्यंजित करने के प्रयास में रॉस 'सद्' तथा 'नैतिक अनिवार्यता' के संबद्ध प्रत्ययों को स्पष्ट

---

1. Suigener notion.
2. Circular assertion चक्रक कथन शब्द का भी प्रयोग किया गया है।
3. परिभाषा के लिए जो निम्नतम आवश्यकता है, उसे अरस्तू ने "Per genus et differentium" द्वारा व्यक्त किया है।
4. "If these contentions are correct, moral rightness is an indefinable characteristic, and even if it be a species of a wider relation, such as suitability, its differentia can not be stated except by repeating the phrase 'morally right' or a synonym, just as while red is a species of colour, what distinguishes it from other colours can be indicated only by saying that it is the colour that is red. Foundations of Ethics, pp. 54-55.

करना चाहते हैं। ये मानवीय संकल्प के लिए, निश्चित ही, विशेष महत्त्व रखते हैं। दोनों प्रत्ययों में अनिवार्य तादात्म्य नहीं है। जो प्रथम दृष्टि में सद् प्रतीत होता है, आवश्यक नहीं कि वह अंतिम रूप से भी सद् रहे, और मानवीय संकल्प के लिए अनिवार्य बाध्यता प्रस्तुत करे। रॉस का उपर्युक्त कथन प्रथम दृष्टि में विरोधीभासी अवश्य प्रतीत होता है, किंतु यदि हम उनके आपात धर्म और यौगिक धर्म के भेद का स्मरण रखें तो उनका कथन अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होगा। आपात सद्, अन्य शब्दों में वह है जो प्रथम दृष्टि में अनिवार्य प्रतीत होता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि वह मानवीय संकल्प के लिए अंतिम रूप से भी अनिवार्य हो। अंतिम रूप से अनिवार्य वही होता है जो समुचित चिंतन के उपरान्त परिस्थिति-विशेष में सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हो। अस्तु, जो यौगिक सद् है, वही सही अर्थों में अनिवार्य होता है और आपात सद् से वह भिन्न हो सकता है। निष्कर्षतः रॉस कहते हैं कि परिस्थिति विशेष में यौगिक सद् ही को 'एकाकी सद्'[1] कहलाने का अधिकार प्राप्त है और इसीलिए वह ही यथार्थ में नैतिक दृष्टि से भी अनिवार्य है।

रॉस के विचार में, परिस्थितियों से अलग हट कर 'केवल सद्' के विषय में चिंतन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसी की पृष्ठभूमि में उसे विशेष अंतर्विषय एवं आकार प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि हम परिस्थितियों से पृथक् किसी निरपेक्ष 'सद्' का चिंतन करना चाहें तो हम अपने प्रयास में कभी सफल नहीं हो सकते, क्योंकि, ऐसी स्थिति में हम स्वयं यह नहीं जानते कि हम क्या चाहते हैं। केवल सद् परिस्थिति-विशेष में ही सद् होता है और उसके परिवर्तित होने पर स्वयं भी बदल जाता है। इसीलिए 'केवल सद्' का सामान्यीकरण संभव नहीं। प्रत्येक स्थिति में, प्रत्येक बुद्धिजीवी के लिए जो निरपेक्ष रूप में मान्य हो, ऐसे सद् की कल्पना रॉस के अनुसार नहीं की जा सकती। स्पष्टतः उक्त कथन की पृष्ठभूमि में पूर्ववर्ती अंतःप्रज्ञावादी-विशेष रूप से कांट का दृष्टिकोण, रॉस की दृष्टि में उचित नहीं है, जिसके अनुसार नैतिक नियम शाश्वत, अनुभव निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय है, और उन्हीं के आधार पर मानवीय संकल्प के लिए-समस्त बुद्धिजीवियों के लिए, क्या कारणीय है अथवा क्या अकरणीय निरपेक्ष रूप से परिभाषित किया जा सकता है।

अतएव 'सद्' के विषय में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि 'सद्' वह है जो सर्वाधिक उपयुक्त है, इसके अतिरिक्त उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रश्न पर स्पष्टतः रॉस का विचार क्लार्क के विचारों से सादृश्य रखता है, क्योंकि उन्होंने भी सद् को परिभाषित करते हुए केवल इतना ही कहा है कि वह स्थिति-विशेष में 'उपयुक्त' है।

जिस परिस्थिति-विशेष में कार्य-विशेष के औचित्य को जाना जा सकता है, उसका स्पष्टीकरण करते हुए ब्रॉड कहते हैं-'वह विकसित होती हुई स्थिति[2]

1. 'The right.'
2. "The developing situation".

है।' किंतु, रॉस इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कार्य-विशेष का औचित्य तात्कालिक यथार्थ स्थिति से निर्धारित होता है, कार्य की मध्यस्थता के उपरांत वह कैसा रूप ग्रहण करेगी, इससे उसका कोई विशेष संबंध नहीं। यदि 'विकसित होती हुई स्थिति' के संदर्भ में कार्य के औचित्य को परिभाषित करने का हम प्रयास करेंगे, तो समस्या अधिक विषम हो जायेगी। इस विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं-

"मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस परिस्थिति के साथ कार्य को अनुकूल होना है, वह कार्य करने के समय की अथवा पूर्व की स्थिति है, यह वह स्थिति नहीं, जो कार्य की उपस्थिति के उपरांत विकसित होगी।"[1]

पुनः नैतिक उपयुक्तता के प्रत्यय का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि वह उपयोगितावादी उपयुक्तता की अपेक्षा सौंदर्यात्मक उपयुक्तता के अधिक निकट है। सौंदर्यात्मक उपयुक्तता एक ऐसी आंतरिक विशिष्टता है, जो इकाई-विशेष के विभिन्न तत्वों में सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहती है। परिणामतः उसकी उपस्थिति से स्थिति-विशेष में एक अपूर्व सौम्यता एवं सामंजस्य की उत्पत्ति होती है, जो शब्दों के माध्यम से पूर्णतया व्यक्त नहीं की जा सकती-वह मूलतः अनुभूति का ही विषय होती है। सामंजस्य की इस अपूर्व स्थिति में सौन्दर्यात्मक इकाई के विभिन्न घटक अपनी भिन्नता का समर्पण करते हुए एक नूतन इकाई का निर्माण करते हैं। ठीक इसके विपरीत, उपयोगितावादी उपयुक्तता, विभिन्न तत्वों पर बाह्यारोपित सामंजस्य का परिणाम है और इसीलिए उसके विभिन्न तत्व इकाई के ऐक्य को नष्ट किये बिना सरलता से स्थानांतरित किये जा सकते हैं। इस इकाई का निर्माण यंत्रवत होता है, इसीलिए इसके विभिन्न तत्व बाह्य संबंधों से युक्त होने के कारण स्थानांतरण से स्थायी रूप से वियोजित नहीं होते।

किंतु, नैतिक उपयुक्तता, सौंदर्यात्मक उपयुक्तता से सादृश्य रखते हुए भी, उससे भिन्न है। उसका रूप अत्यंत सूक्ष्म और इसी कारण कुछ सीमा तक अग्राह्य भी है। नैतिक उपयुक्तता का मानवीय व्यक्तित्व के साथ अत्यंत ही घनिष्ठ संबंध है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी मध्यस्थता से, उसका संपूर्ण व्यक्तित्व व्यंजित होने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार का सूक्ष्म एवं आंतरिक संबंध व्यक्ति का अन्य किसी प्रकार की अपयुक्तता के साथ नहीं है। इसी कारण, वह उसके जीवन में विशेष महत्व भी रखती है। और अपनी इसी विशिष्टता के कारण वह साधारण वस्तुओं की तरह परिभाषित भी नहीं की जा सकती है। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि

---

1. It seems to me clear that the situation which an act must fit if it is to be right is the situation that exists when, or just before, the act is done, not the situation as it will develop if modified by th act."

Foundations of Ethics, p. 81.

प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्बोध द्वारा वह सहजता से जानी जा सकती है।

'सद्' एवं उसका 'विषय'

'सद्' के स्वरूप को स्पष्ट करने के प्रयास में रॉस पुनः कहते हैं कि 'कार्य-विशेष' के लिए ही 'सद्' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है; 'प्रेरणा' एवं 'परिणाम' के लिए नहीं। उक्त कथन के कारण को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि 'प्रेरणा' एवं 'परिणाम' दोनों को ही नियंत्रित करने में मानवीय संकल्प सर्वथा असमर्थ है। अतएव, उनके औचित्य-अनौचित्य के विषय में कुछ कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'कार्य' के विषय में ही, हम यह कह सकते हैं कि वह करणीय है, उचित है, और हमारे संकल्प के लिए निश्चिततः बाध्यता उपस्थित करता है। किंतु, यदि इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया जाय, तो स्पष्ट हो जायेगा कि, वस्तुतः कार्य-विशेष भी मानवीय संकल्प के लिए अनिवार्य बाध्यता नहीं रखता, क्योंकि, कार्य के करने की प्रक्रिया में बहुत से ऐसे तत्वों पर हमें आश्रित होना पड़ता है, जिस पर हमारे संकल्प का कोई अधिकार नहीं। कौन कह सकता है कि अभी हम जिस कार्य के करने का संकल्प ले रहे हैं, वह पूरा हो सकेगा अथवा नहीं। क्या यह संभव नहीं कि उसके संपन्न होने के पूर्व ही हमें पक्षाघात हो जाये और कार्य करने की हमारी संपूर्ण क्षमता नष्ट हो जाये ? अतएव हम इतना ही कह सकते हैं कि कार्य करने का संकल्पमात्र ही हमारे लिए विशेष बाध्यता रख सकता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं।

अंतिम बात जो सद् प्रत्यय के संबंध में महत्वपूर्ण है, वह यह कि रॉस और ब्रॉड दोनों ही पूर्ववर्ती अंतःप्रज्ञावादियों की भाँति नैतिक नियमों के क्षेत्र में बहुतत्त्ववाद[1] का समर्थन करते हैं। विभिन्न नैतिक नियमों को और उनसे संबंधित अनिवार्यता को एकसूत्र करने का प्रयास, वे कभी नहीं करते। वे इस मत पर पूर्णरूपेण दृढ़ हैं कि कितनी भी अन्तर्दृष्टि रखते हुए हम नियमों के स्वरूप का अध्ययन क्यों न करें, उनमें सामंजस्य स्थापित करना अथवा उन्हें एक नियम विशेष के अंदर समाविष्ट करना असंभव है। इसलिए नैतिक तथ्यों के क्षेत्र में, वे आमूल बहुतत्ववाद के समर्थक हैं।

इस प्रश्न पर विचार व्यक्त करते हुए ब्रॉड कहते हैं कि जिस प्रकार अ-नैतिक जगत में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है "जो प्रत्येक आंतरिक दृष्टि से शुभ कही जाने वाली वस्तुओं के लिए समान तथा विशिष्ट हो" उसी प्रकार नैतिक जगत में यह अचिंतनीय है कि आचार नीति के संपूर्ण स्वतः सिद्ध नियम, एक परम नियम में समाविष्ट किये जा सकें।[2]

---

1. Redical pluralism.
2. ...."As in the non-ethical sphere, no single characteristic is 'common and peculiar to everything that is intrinsically good' so also in the ethical sphere it is inconveivable "taht all the self-evident principles of ethics can be subsumed under any supreme principle."

Five Types of Ethecal Therory, pp. 283-84.

शुभ

वर्तमान सिद्धांत के संदर्भ में, 'शुभ' प्रत्यय का जब हम अध्ययन करते हैं, तब देखते हैं कि रॉस ने उस शब्द को एक अत्यंत ही व्यापक अर्थ में प्रस्तुत किया है। नैतिक शुभ के अतिरिक्त उसमें अन्य प्रकार के 'शुभ' भी समाविष्ट हैं। 'शुभ' शब्द उनके द्वारा 'मूल्य' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ हैं, जिसमें विभिन्न अर्थों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है: सर्वप्रथम, वह जो स्वयं में श्रेष्ठतम हो, द्वितीय, वह जो साधन रूप में महत्वपूर्ण हो और अंतिम रूप में वह, जो साध्य रूप में महत्व रखता हो-ये तीन अर्थ स्पष्ट रूप से पृथक किये जा सकते हैं। नैतिक विचार के क्षेत्र में अंतिम अर्थ ही सर्वाधिक महत्व रखता है, अन्य दो अर्थ वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से निरर्थक हैं। इस विशिष्ट अर्थ में-साध्य रूप में महत्व रखने वाली विशेषता के रूप में, शुभ 'सद्' की भाँति 'विशिष्ट' नहीं और इसीलिए वह अपरिभाष्य भी नहीं। सद् के संदर्भ में वह परिभाषित किया जा सकता है, क्योंकि समस्त अन्तःप्रज्ञावादियों के अनुसार सद् ही उच्चतम प्रत्यय है और इस दृष्टि से रॉस अपने पूर्ववर्तियों के पथ का केवल अनुसरण करने वाले ही प्रतीत होते हैं।

उन विभिन्न अनुभवों एवं आचार का-जिन्हें मानवीय व्यावहारिक बुद्धि, 'शुभ' रूप में स्वीकार करती है और जो मानवीय संकल्प के लिए विशेष अर्थों में बाध्यता रखते हैं, वर्णन करते हुए रॉस कहते हैं कि उन्हें स्पष्टतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : सर्वप्रथम, वे वस्तुएँ, जो व्यक्ति के लिए उपयोगी तथा आंतरिक दृष्टि से महत्व एवं मूल्य रखने वाली होती हैं, यथा-बौद्धिक, सौंदर्यात्मक तथा नैतिक अनुभूतियाँ, आचार एवं क्षमतायें-इनमें से प्रत्येक की समुपस्थिति मानवीय जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए अनिवार्य है और वह व्यक्ति, जिनमें ये विद्यमान रहती हैं, सहज ही हमारे आदर, श्रद्धा एवं प्रशंसा का पात्र हो जाता है। अतएव, व्यक्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में इनके लिए प्रयत्नशील होना अनिवार्य है। द्वितीय, वे क्रियायें होती हैं, जो परार्थवृत्ति से प्रेरित होकर अन्य को सुख प्रदान करने वाली होती हैं, किंतु उनका स्वयं का आंतरिक मूल्य नहीं होता। ये व्यक्ति-विशेष के लिए केवल परोक्ष रूप से ही मूल्यवान होती हैं, क्योंकि कल्याणप्रद सर्वहितकारी कार्यों की मध्यस्थता से व्यक्ति मानव जाति के कल्याण, सुख एवं हित के लिए केवल सहायक सिद्ध होता है।

वे सभी क्रियायें, जो व्यक्ति के निजी सुख की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, नैतिक दृष्टिकोण से तटस्थ[1] एवं मूल्यरहित[2] ही हैं।

केवल रॉस के विचारों की ही यह विशिष्टता नहीं है, कि वे परार्थवृत्ति से प्रेरित सुखप्रद कार्यों को मूल्यवान स्वीकार करते हैं; उपयोगितावाद के समर्थक

1. Neutral.
2. Morally colourless.

मिल तथा बैंथम भी इसी मत का समर्थन करते हैं। पदार्थ की इच्छा से प्रेरित कार्य ही, उनकी दृष्टि में यथार्थ रूप में नैतिक हैं-सर्वोत्कृष्ट है। किंतु, रॉस के अनुसार, वे शुभ एवं मूल्यवान होते हुए भी जीवन के परम-शुभ का स्थान नहीं ले सकते। अन्य वस्तुएँ भी उनके समक्ष शुभ एवं मूल्यवान हैं।

शुभ की व्याख्या में, उपयोगितावाद तथा अन्तःप्रज्ञावाद के मध्य, रॉस ने सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। आधुनिक विचारकों में, सर्वाधिक उत्साह के साथ, उन्होंने जीवन के संवेदनात्मक पक्ष को महत्व देना चाहा है। पूर्ववर्ती अन्तःप्रज्ञावादियों ने तो जीवन के इस पक्ष को निम्न और सर्वथा त्याज्य माना था और इसीलिए समीक्षकों ने उनके दृष्टिकोण को अव्यावहारिक एवं निर्मम घोषित किया था।

रॉस, दो प्रकार के शुभ कार्यों में विभेद करते हैं-वे जो कर्ता की दृष्टि से प्राथमिक एवं आंतरिक मूल्य रखते हैं, तथा वे जो गौण मूल्य रखते हैं। द्वितीय प्रकार के कार्यों द्वारा व्यक्ति अपरोक्ष रूप से ही, उस वर्ग-विशेष की संवृद्धि से जिसकी वह सदस्यता ग्रहण किये हुए है, लाभांवित होता है। वे कार्य केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि परार्थवृत्ति प्रेरित उन कार्यों द्वारा समाज समृद्धि और सुख के पथ पर अग्रसर होता है। इसीलिए, मूल्यों के अनुक्रम में उन कार्यों का एक निम्न स्थान है।[1]

किंतु अपनी पुस्तक 'फाउंडेशंस' में वे कहते हैं, क्योंकि इस प्रकार की क्रियायें निरपेक्ष मूल्य एवं महत्व नहीं रखती हैं इसलिए मूल्य के एक ही अनुक्रम[2] में उन्हें स्थान देना उचित नहीं है। वे कहते हैं कि "यदि सुख शुभ है, तो जिस अर्थ में अन्य क्रियायें शुभ हैं, उससे भिन्न अर्थ में ही वह शुभ हो सकता है।"[3] अपने विचार का युक्तियों से समर्थन करते हुए, वे कहते हैं कि जीवन के, कुछ विशिष्ट प्रकार के सुख, यथा-वासना एवं नृशंसता से प्राप्त सुख, आपात धर्म एवं अनिवार्यता में स्थान नहीं पाते। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार के सुख, जैसे स्वकेंद्रित सुख, मानवीय संकल्प के लिए किसी भी अर्थ में मान्य नहीं माने जाते, नैतिक दृष्टि से वे तटस्थ मूल्य रखने वाले होते हैं। अतएव इससे यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि 'सुख' केवल सुख के अर्थ में, मूल्यों के एक ही अनुक्रम में स्थान नहीं पा सकता। जो भी वस्तुएँ जीवन में मूल्यवान समझी जाती हैं, वे मानवीय संकल्प के लिए, किसी विशिष्ट अर्थ में 'बाध्य' अवश्य होती हैं और इसीलिए व्यक्ति उनके लिए

---

1. रॉस के उपर्युक्त विचार उनकी पुस्तक 'दि राइट एंड दि गुड' में व्यक्त हुए हैं, जिसमें वे यह स्वीकार करते हैं कि परार्थवृत्ति से प्रेरित सुखप्रद कार्य बौद्धिक, कलात्मक एवं नैतिक आचरण एवं क्रियाओं के समकक्ष। फाउंडेशंस में इस दृष्टिकोण का उन्होंने परित्याग कर दिया है।
2. Same scale of values.
3. "Pleasure if ever good must be good in a different sense from that in which good activities are so."

प्रयत्नशील भी होना चाहता है। किंतु, उक्त दोनों प्रकार की स्वकेंद्रित क्रियाएँ, मानवीय संकल्प के लिए किसी प्रकार की भी बाध्यता नहीं रखतीं, इसलिए प्राथमिक मूल्यों की श्रेणी में उन्हें नहीं रखा जा सकता।

वैयक्तिक सुखवाद ने, स्वकेंद्रित सुखप्राप्ति को, जीवन के परम मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया और उपयोगितावाद ने स्वकेंद्रित और पर सुख केंद्रित दोनों प्रकार के व्यवहारों के मूल भेद की अवज्ञा करते हुए, व्यक्ति की स्वकेंन्द्रित मनोवैज्ञानिक रचना के आधार पर परार्थवादी नीति का समर्थन किया। दोनों के मानवीय प्रकृति के प्रस्तुतीकरण में भूल है। उपयोगितावाद ने, स्वकेंद्रित मानवीय प्रकृति के आधार पर, परार्थवादी आचार नीति का समर्थन किया, यह उसकी सबसे बड़ी भूल है। मूल रूप से, यह निश्चित है कि स्वकेंद्रित प्रकृति जनहितैषी वृत्ति के उद्‌भव का सहज स्त्रोत कदापि नहीं हो सकती।

अतएव रॉस के अनुसार, मनोवैज्ञानिक सुखवाद, जिस नींव पर स्थापित किया गया है, वह अनुचित है और इसी कारण असंतोषप्रद भी है। किंतु शुभ से संबद्ध उक्त चिंतन में जो सहज निष्कर्ष निहित था, उसे अनावृत करने की चेष्टा रॉस ने नहीं की। उन्होंने, इस विषय को जानने का यत्न नहीं किया कि, वस्तुतः किसी वस्तु एवं क्रिया-विशेष के मूल्य का यथार्थ आधार बिंदु क्या है।

परार्थवृत्ति से प्रेरित सुखप्रद क्रियायें जीवन में निश्चित मूल्य रखती हैं। किंतु उनका यथार्थ मूल्य, उनकी व्यक्ति-विशेष के लिए अथवा वर्ग-विशेष के लिए उपयोगिता के कारण नहीं, प्रत्युत् इसलिए है कि उन कार्यों के द्वारा व्यक्ति-विशेष का संकल्प क्रमशः विशुद्ध एवं निर्मल हो जायेगा। अन्य शब्दों में, परार्थवृत्ति से प्रेरित आचार, मूल रूप से इसलिए नैतिक हैं कि उसकी मध्यस्थता से कर्ता का संकल्प उत्तरोत्तर 'शुभ' हो जाता है।

इस निष्कर्ष को रॉस ने सहज रूप से स्वीकार नहीं किया। उन्होंने परार्थवृत्ति से प्रेरित, सुखवाद आचार के उपयोगिता पक्ष को ही मूल्यवान समझा और इसीलिए मूल्यों के अनुक्रम में स्थान देते हुए, उन्होंने उसे निम्नतम स्थान दिया है। किंतु, एक अन्य स्थान पर, उसे मूल्यों के समान अनुक्रम में स्थान देना भी स्वीकार किया है।

कांट के दर्शन की कठोरता एवं अव्यावहारिकता निश्चित ही आलोचना का विषय हो सकती है। किंतु उनके दर्शन में सर्वप्रथम 'मूल्य' शब्द के यथार्थ रूप को अनावृत करने की चेष्टा की गयी है। इसीलिए चिंतन के क्षेत्र में, उनके योगदान का स्थायी महत्व रहेगा। सर्वप्रथम, उन्होंने ही निरपेक्ष रूप से घोषित किया था कि 'शुभ-संकल्प' के अतिरिक्त, अन्य कुछ भी निरपेक्ष रूप से शुभ नहीं है।[1]

---

1. "Nothing is unconditionally good save the good will." Kant.

शुभ का वास्तुगत रूप

पेरी के सापेक्ष सिद्धांत से, जिसके अनुसार 'शुभ' वस्तुओं के प्रति, कर्ता के भावात्मक संवेग से उत्पन्न विशेषता है, रॉस अपने मत को स्पष्टतः पृथक् रखते हैं। उनके विचार से, भावात्मक संवेग मूल्य की उपस्थिति का सूचक अवश्य हो सकता है, किंतु, वह मूल्य की उत्पत्ति में सहायक अथवा उसके अस्तित्व में विद्यमान तत्व कदापि नहीं हो सकता। उक्त भावात्मक प्रतिक्रिया की पृष्ठिभूमि में, वस्तुओं एवं मानवीय आचार के वस्तुगंत मूल्य में विश्वास सदैव विद्यमान रहता है। भावात्मक संवेग तथा उसमें निहित अनुमोदन प्रायः अनुचित भी हो सकता है। और रॉस कहते हैं : 'केवल यह तथ्य है कि अनुमोदन उचित अथवा अनुचित प्रकार से दिया जाता है, मनुष्य के इन सामान्य विश्वास का स्पष्ट प्रमाण है कि कुछ वस्तुयें स्वीकृति योग्य है।'[1]

अतएव, मूल्य आत्मनिष्ठ न हो कर वस्तुनिष्ठ ही होते हैं और हमारी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं पर अपने अस्तित्व के लिए आश्रित नहीं होते। वे प्रमाण को साधारण प्रक्रिया द्वारा प्रमाणित नहीं किये जा सकते, किंतु, इसके कारण वे जीवन में कुछ कम महत्व नहीं रखते। वे स्वतः प्रत्यक्ष सत्यों की श्रेणी में आते हैं और मूलभूत सत्यों के क्षेत्र में उच्च पद पर आसीन हैं। इन्हीं मूलभूत सत्यों पर, समस्त द्वितीय स्तर के व्यावहारिक गौण सत्य[2] आश्रित हैं।

अस्तु, पेरी के सापेक्ष सिद्धांत को रॉस अस्वीकार करते हैं। किंतु, 'शुभ' वस्तुनिष्ठ और पर्याप्त महत्वपूर्ण होते हुए भी 'सद्' के संदर्भ में गौण प्रत्यय ही है और इस कारण उसे परिभाषित भी किया जा सकता है। इस प्रश्न पर वे ब्रॉड के विचारों से पूर्णरूपेण सहमत नहीं हैं। उनके मत में ब्रॉड ने शुभ को पूर्णतया 'सद्' के अधीन नहीं होने दिया, उन्होंने उसकी पृथकता एवं स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखना चाहा है और यहाँ तक कहा है कि 'सद्' के प्रत्यय के स्पष्टीकरण में, आंशिक रूप से उपयोगिता का भी स्थान है। इस संदर्भ में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं-

''किसी भी दी हुई प्रारंभिक स्थिति में कार्य का औचित्य एवं अनौचित्य निश्चित ही उसकी 'उपयुक्तता' पर आश्रित धर्म हैं। विशुद्ध अंतःप्रज्ञावादी तो उसकी उपादेयता तथा अनुपादेयता को उसके औचित्य एवं अनौचित्य के लिए प्रासंगिक मानना अस्वीकार करेंगे। विशुद्ध प्रयोजनवादी 'उपयुक्तता' जैसे सीधे संबंध के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करेंगे और कार्य के औचित्य-अनौचित्य को

---

1. "Approval may often be misplaced but the fact that we approve at all, rightly or wrongly, is the clearest possible evidence of a universal conviction that there are some things that are worthy of being approved".
Foundations of Ethics, p. 262.

2. Second order truths.

उसकी उपादेयता-अनुपादेयता पर ही पूर्णरूपेण आश्रित मानेंगे। दोनों सीमांत दृष्टिकोण उचित नहीं और व्यावहारिक बुद्धि से सर्वथा संघर्ष में है।"[1]

अतएव ब्रॉड के अनुसार 'सद्' प्रत्यय के स्पष्टीकरण में 'उपयोगिता' भी तत्व रूप में विद्यमान है। किंतु इस संबंध में रॉस पृथक् मत रखते हैं। उनके अनुसार यदि विशुद्ध अंतःप्रज्ञावाद का समर्थन करना है, तो उपयोगिता तत्व को पुनः 'उपयुक्तता' में रूपांतरित करना होगा, ताकि 'सद्' और 'उपयुक्त' यथार्थ अर्थ में एक-दूसरे के पर्याय हो सकें। 'सद्' व्यापक होने के कारण उपयोगिता को अपने में समाविष्ट किये है और यही कारण है कि उपयोगिता स्वतः अपूर्ण और सद् के अधीन[2] प्रत्यय है। वर्तमान संदर्भ में, ब्रॉड से अपने विचार को पृथक करते हुए रॉस कहते हैं-

"यदि औचित्य, एक विशिष्ट प्रकार की उपयुक्तता है, तब उपयोगिता में कार्य को उचित बनाने की वृत्ति तब तक नहीं हो सकती; जब तक कि उसमें कार्य को उपयुक्त बताने की वृत्ति न हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें औचित्य को उपयोगिता एवं उपयुक्तता पर संयुक्त रूप से आश्रित नहीं मानना चाहिये प्रत्युत उसे उपयोगिता से तथा अन्य कारणों से उत्पन्न, उपयुक्तता पर संयुक्त रूप से आश्रित मानना चाहिये, जैसे उस स्थिति में जिसमें किसी को वचन दिया जा चुका है। मुझे इस बात को स्वीकार करने में कोई भी कठिनाई नहीं प्रतीत होती कि जिस वृत्ति द्वारा कार्य-विशेष परिस्थिति में समुचित संशोधन लाना चाहता है, उसमें सर्वाधिक शुभ के सृजन की इच्छा रखता है, वह वृत्ति एक ऐसी विशिष्टता से युक्त है, जिसके कारण कार्य विशेष परिस्थिति से उपयुक्तता स्थापित करने की ओर प्रवृत्त होता है।"[3]

---

1. "The rightness or the wrongness of an action in a given initial situation is a function of it's fittingness in that situation. The pure deontologist would deny that its utility or disutility was relevant to its rightness or wrongness. The pure teleologist would deny that there is such a relation as direct fittingness or unfittingness and would make its rightness or wrongness depend entirely on its utility or disutility. Both these extremes seem to me to be wrong, and to be in flagrant conflict with common sense."
   Five Types of Ethical Theory, p. 221
2. "Foundations of Ethics, p. 81.
3. "Unless the utility has a tendency to make the act fitting it can not have a tendency to make it right, if rightness is a kind of fittingness. It seems to me then that he should make rightness depend not on a joint consideration of fittingness and utility, but on a joint consideration of fittingness arising from other sources, such as that, a promise has been made. I feel, myself, no difficulty in recognizing, in the tendency which an act has to amend the situation in the best possible way, i.e., to produce the maximum good, something in virtue of which that act tends to be fitting to the situation."
   Ibid, p. 81.

अतएव रॉस के मत में 'उपयोगिता' के प्रत्यय को संपूर्णतः 'उपयुक्तता' में विलीन हो जाना चाहिये तभी औचित्य के प्रत्यय को यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण संभव है। इस प्रश्न पर वे ब्रॉड की अपेक्षा अधिक सच्चे अंतःप्रज्ञावादी हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'उपयुक्तता' और 'सद्' यथार्थ में पर्याय हैं।

उपयोगितावाद एवं रॉस

नैतिक जीवन की जो व्याख्या उपयोगितावाद के अंतर्गत मिलती है, उससे रॉस सर्वथा असंतुष्ट हैं। उपयोगितावाद 'शुभ' प्रत्यय को विशेष महत्व देता है। और नैतिक अनिवार्यता को 'उपयोगिता' के संदर्भ में परिभाषित करता है। रॉस इससे विपरीत मत रखते हैं, क्योंकि उनके अनुसार, जो नैतिक बाध्यता रखता है-जो कि मानव संकल्प के लिए अनिवार्य है, वह 'उपयोगी' न हो कर, परिस्थिति-विशेष से संपूर्णतः संयुक्त है, उसके अनुकुल है, इसके अतिरिक्त वह कुछ हो ही नहीं सकता। और वे कहते हैं, यदि तर्क के लिए, हम यह स्वीकार भी कर लें कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही यथार्थ है-'सुख की अधिकतम प्राप्ति अधिकतम के लिए ही जीवन का चरम लक्ष्य है,'तब भी जीवन में बहुत से ऐसे तथ्य मिलेंगे जो उक्त कथन का स्पष्ट प्रतिरोध करने वाले होंगे। यथार्थ जीवन में मनुष्य सर्वदा सुख के परिमाण की आकांक्षा नहीं करता, प्रत्युत विशेष प्रकार का सुख और उसके उचित वितरण की कामना करता है। जीवन के उच्चतम कार्य क्षेत्रों में परिमाण सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं होता।

पुनः रॉस कहते हैं कि कुछ ऐसे कर्तव्य भी हैं, जो सुख प्राप्ति की अपेक्षा मानवीय संकल्प के लिए अधिक बाध्यता रखते हैं-उदाहरणार्थ, किसी को मनसा-वाचा-कर्मणा दुःख न देने का निश्चय; यह निषेधात्मक बाध्यता है, किंतु किसी भी स्थिति में महत्व की दृष्टि से कम नहीं है। इसके अतिरिक्त जीवन में कुछ क्षतिपूरक कार्य भी होते हैं, जैसे, किसी के प्रति किये गये, दुर्व्यवहार की तीव्रता को, कम करने वाले अथवा किसी से प्राप्त सद्व्यवहार की कृतज्ञता से प्रेरित कार्य। ये सभी कार्य जीवन में विशेष महत्व रखते हैं और व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष के सुख की संवृद्धि की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर, रॉस इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपयोगिता आचार-नीति जीवन के कतिपय पक्षों से ही संबंधित है, उसके समस्त पक्षों के सूक्ष्म निरीक्षण पर वह आधारित नहीं, इसीलिए वह मूलतः असंतोषप्रद है। अतएव, उसे स्वीकार करने के पूर्व, एक अधिक व्यापक दृष्टि के अंदर समाहित करना होगा ताकि वह जीवन के समस्त पक्षों के साथ समुचित न्याय कर सके।

नव्य अंतःप्रज्ञावाद की समीक्षा

नव्य अंतःप्रज्ञावाद का प्रस्तुतीकरण समाप्त होता है। कुछ प्रश्नों पर अन्य

अंतःप्रज्ञावादियों से पृथक विचार व्यक्त करते हुए भी रॉस एक महत्वपूर्ण अर्थ में अपने वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह निश्चित है कि जीवन के कतिपय पक्षों के साथ नव्य अंतःप्रज्ञावाद ने समुचित न्याय किया है। वैयक्तिक एवं सामान्य सुखवाद को वह अस्वीकार करता है और जिन युक्तियों के आधार पर करता है, वह उचित ही है। सुखवाद, निःसंदेह, जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों की व्याख्या में, सर्वथा असमर्थ है।

पुनः नव्य अंतःप्रज्ञावाद जब जीवन के कतिपय अनुभवों को और उनसे संबंधित कार्यों को विशेष अर्थ में महत्वपूर्ण स्वीकार करता है, तब उसका कथन युक्तियुक्त है। किंतु, जब वह उन सभी को, मूल्यों के एक ही अनुक्रम में समस्तरीय मानता है, तब उसके विचारों का समर्थन करना कठिन हो जाता है। जीवन के तीनों पक्ष-सौंदर्यात्मक, बौद्धिक एवं नैतिक, जीवन में पर्याप्त महत्व रखते हैं, किंतु, मूल्य की दृष्टि से तीनों का स्थान भिन्न है।

रॉस के अनुसार नैतिक व्यवहार एवं कर्म, मानवीय्र जीवन की उपलब्धियों एवं उत्कृष्टताओं में से केवल एक है। किंतु, वस्तुतः, वैसा कहना उचित नहीं। नैतिक आचार विशेष अर्थों में विशिष्ट है। वह मनुष्य में स्वाभिमान की भावना का पोषण करता है और उसके जीवन को गौरव प्रदान करता है। अतएव, 'विशिष्ट' अर्थों में ही वह महत्वपूर्ण है। उसकी महत्ता का यथार्थ स्पष्टीकरण विशेष रूप से अध्यात्मवादी परंपरा के अंतर्गत मिलता है, जिसके प्रमुख समर्थक कांट, हेगेल और उनके अनुयायी ग्रीन, ब्रेडले आदि हैं।

नैतिक उत्कृष्टता विशिष्ट अर्थों में 'विशिष्ट' है। वह अपरिभाष्य है, क्योंकि समस्त मूल्यों के शीर्ष पर होने के कारण उसे किसी वर्ग के अंतर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता, जिसके कारण परिभाषा की न्यूनतम आवश्यकता भी पूरी नहीं हो पाती।

इसके अतिरिक्त रॉस में 'शुभ' तथा 'सद्' के संबंध की भी स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती। ब्रॉड तथा रॉस के विचारों में ही पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः 'सद्' प्रत्यय की समुचित व्याख्या के लिए, शुभ के साथ, उसे अनिवार्यतः संयुक्त करना चाहिये। इस संबंध में आश्चर्य होता है कि, नैतिक नियमों के निरपेक्ष, अबाध्य, शाश्वत स्वरूप को अस्वीकार करते हुए तथा आपात धर्म एवं नैतिक अनिवार्यता के सिद्धांत का समर्थन करते हुए भी रॉस ने 'शुभ' की अपेक्षा 'सद्' प्रत्यय को ही प्राथमिक माना है।

'उपयुक्तता' का प्रत्यय स्वयं अपूर्ण है। वस्तु तथा कार्य-विशेष के औचित्य के लिए, परिस्थिति-विशेष के सभी पक्षों के साथ, उसकी अनुरूपता आवश्यक है, किंतु केवल इतना कहना पर्याप्त नहीं हैं। वस्तु तथा कार्य-विशेष

उपयुक्त हैं पर किस दृष्टि से, किस हेतु, इसको जानने की जिज्ञासा, मनुष्य के अंदर स्वाभाविक है और उचित भी। किंतु, इस हेतु के स्पष्टीकरण के अभाव में अंतःप्रज्ञावाद के अंतर्गत 'उपयुक्तता' का प्रत्यय अस्पष्ट ही रह जाता है।

पुनः आपात धर्म एवं उससे संबद्ध अनिवार्यता क्यों परिवर्तनीय है, उसमें संशोधन किस लिए किया जाता है? इस प्रश्न पर अंतःप्रज्ञावाद मौन है। इस प्रश्न का समुचित उत्तर तभी प्राप्त होगा जबकि मानवीय जीवन में व्याप्त प्रयोजन का हम निरूपण कर लें। नैतिक अनिवार्यता तथा वे नियम, जिन पर वह अनिवार्यता आश्रित है, शाश्वत एवं निरपेक्ष नहीं। इस सत्य को तो एक प्रकार से रॉस ने भी स्वीकार किया था, इस ओर उनका प्रयास सही दिशा में था, किंतु, निर्दिष्ट स्थान पर वे पहुँच न सके।

अस्तु, यदि 'सद्' की समुचित व्याख्या करनी है, तब उसे एवं उससे संबद्ध नैतिक अनिवार्यता को जीवन संबंधी 'परमशुभ' के साथ, अनिवार्यतः संयुक्त करना होगा। जीवन का 'परमशुभ' सुख की प्राप्ति नहीं है। वह समग्र जीवन की, समग्रता की सतत् अभिव्यक्ति है, जिसकी मध्यस्थता से मानवीय जीवन की उच्चतम आकांक्षा साकार होती है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए मानवीय प्रकृति एवं विश्व का तात्विक निरूपण अनिवार्य है, जिसकी समुचित व्याख्या हमें पूर्णतावाद के अंतर्गत प्राप्त होगी।

अंतःप्रज्ञावाद के उपरांत, प्रयोजनवादी सिद्धांतों का प्रस्तुतीकरण अनिवार्य है और वह आगामी अध्यायों का विषय होगा।

००

अध्याय चार

मनोवैज्ञानिक सुखवाद

मनोवैज्ञानिक सुखवाद वह नैतिक सिद्धांत है, जिसके अनुसार 'सुखप्राप्ति' ही जीवन का परम शुभ है। उसके अनुसार, मनुष्य प्रकृतिवश ही सुख प्राप्ति के लिए जीवित नहीं रहता, प्रत्युक्त उसे अनिवार्यतः अपनी मूल महत्वाकांक्षा के अनुरूप सुख प्राप्ति के लिए जीवित रहना चाहिए।

कथन का पूर्वभाग नीति-विज्ञान के अंतर्गत नहीं आता, उसकी स्वीकृति-अस्वीकृति का संबंध मनोविज्ञान से है। किंतु, उसका द्वितीय भाग निश्चित ही मानवीय चेतना में निहित, उस स्थायी प्रेरणा एवं आदर्श से संबंधित है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए वह सतत् प्रयत्नशील है और जिसके स्वरूप का निरूपण नीति-विज्ञान का प्रमुख विषय है। वर्तमान संदर्भ में, एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है कि, इस सिद्धांत में मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक तथ्यों को पृथक् नहीं रखा गया है, जिसके कारण इस मत को स्वीकार करना कठिन हो जाता है।

एपीक्यूरस

अतिप्राचीन काल में, यूनानी, सिरेनिक पंथ के प्रमुख विचारक ऐपीक्यूरस द्वारा मनोवैज्ञानिक सुखवाद का प्रतिपादन हुआ था। इस सिद्धांत के अनुसार 'सुख-प्राप्ति' ही मानवीय चेतना का सहज, प्राकृतिक लक्ष्य है, अतएव इसी सहज वृत्ति को पुष्ट करना, मानव के लिए सर्वाधिक हितकारी भी है। वही जीवन का परम शुभ है। अन्य शब्दों में, सुख प्राप्ति ही जीवन का परम-'साध्य' है-वहीं अंतिम रूप से वरणीय है।

ऐपिक्यूरस के विचारों की, एक और विशेषता है, उन्होंने भावनाओं में प्रकार-भेद को स्वीकार किया है। उनके विचार में मानसिक सुख, शारीरिक-सुखों की अपेक्षा अधिक उत्तम है और इसीलिए वह जीवन में अधिक महत्व भी रखता है। किंतु, मानसिक सुख की श्रेष्ठता का विश्लेषण करते हुए वे केवल दो ही तथ्यों को स्वीकार करते हैं : मानसिक सुख 'स्थायित्व' तथा दुःख के अनिवार्य पुट के अपेक्षाकृत अभाव के कारण ही शारीरिक सुखों से श्रेष्ठ है। प्रकार भेद के स्पष्टीकरण में उन्होंने किसी अन्य तथ्य को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मानसिक सुखों की किसी आंतरिक विशिष्टता एवं उत्कृष्टता के कारण नहीं, वरन्

'परिस्थितिजन्य लाभ'[1] के कारण ही अधिक मूल्यवान एवं श्रेष्ठ माना है।

ऐपिक्यूरस का मनोवैज्ञानिक सुखवाद, मानवीय प्रकृति के मूल रूप से वैयक्तिक अहंकेंद्रिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। मनुष्य मूल रूप से एक अहंकेंद्रिक इकाई है और उसके जीवन में जहाँ भी परार्थवृत्ति का प्रकाशन लक्षित होता है, वह वस्तुतः उसी मूल-प्रकृति के समर्थन हेतु ही होता है। परार्थवृत्ति से प्रेरित व्यवहार एक प्रकार का विनियोग ही होता है, जिससे उसे भविष्य में कई गुणित लाभ होने की संभावना होती है। समस्त सामाजिक-वृत्तियाँ, जो मानवीय सहज उच्छृंखलता पर अंकुश द्वारा प्राप्त होती हैं, यथा-न्यायशीलता, व्यवहार-कुशलता, संयम, धैर्य आदि[2] एक प्रकार का विनियोग ही है, जिससे भविष्य में व्यक्ति लाभांवित होता है।

हाब्ज़

आधुनिक-युग में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के सबसे महत्वपूर्ण समर्थक हाब्ज हैं। उनके नैतिक जीवन से संबद्ध, निष्कर्ष एवं आधारभूत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, ऐपिक्यूरस के विचारों से, पर्याप्त सदृशता रखते हैं। वे भी ऐपीक्यूरस की भाँति, मनुष्य को मूल रूप से, ऐसी अहंकेंद्रिक इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं, जो सतत् शक्तिवर्द्धन एवं संरक्षण के लिए प्रयत्नशील रहती है। शक्ति-वर्द्धन की, उसकी यह अदम्य तृष्णा असीम है और मृत्यु में ही इसे चिर-विश्रांति मिलती है। किंतु, इस अदम्य तृष्णा का भी एक प्रयोजन है-उसके द्वारा मानव जीवन के जैविक लक्ष्य की सहज सिद्धि होती जाती है।

हाब्ज द्वारा जीवन के समस्त संवेगों का स्पष्टीकरण, मानवीय प्रकृति संबंधी मूल विचार के आधार पर किया गया है। 'भय' का संवेग शक्ति-वर्द्धन, की इसी स्थायी वृत्ति का निषेधात्मक पक्ष है। 'दया' भी एक काल्पनिक संकटमयी स्थिति के समक्ष, अपनी सुरक्षा के प्रति तीव्र उत्कंठा को प्रकाशित करने वाला उद्वेग है। उनके अनुसार व्यक्ति के अंदर इस उद्वेग का प्रारंभ किसी अन्य व्यक्ति को समान संकटमयी स्थिति में देख कर ही होता है। 'दया' की भावना का यह अपूर्व प्रस्तुतीकरण तथ्यों के विपरीत है और इसीलिए हमारी सहज व्यावहारिक बुद्धि, इसे सरलता से स्वीकार नहीं कर पाती।

हाब्ज द्वारा मनोवैज्ञानिक सुखवाद का प्रस्तुतीकरण अपनी पृथक विशेषता रखता है। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि सुख-प्राप्ति मानवीय इच्छा एवं प्रेरणा का सहज लक्ष्य है, इसके अतिरिक्त उसके लिए क्या वांछनीय है, इस संबंध

---

1. "Circumstantial advantages" Mill 'Utilitarianism' in "The English Philosophers from Bacon to Mill" Edited by Burtt.
2. Justice, prudence, temperance, fortitude.

में उन्होंने कोई प्रश्न नहीं उठाया। इसलिए एक दृष्टि से, हाब्ज के विचारों का प्रस्तुतीकरण वर्तमान संदर्भ में होना ही नहीं चाहिये क्योंकि नीति-विज्ञान के अंतर्गत मानवीय चेतना में निहित स्थायी आदर्श एवं प्रेरणा के स्वरूप का प्रश्न ही सर्वाधिक महत्त्व रखता है। किंतु, हाब्ज के विचारों में इस प्रश्न पर स्पष्ट विचार नहीं मिलता। उन्होंने मानवीय प्रकृति के यथार्थ विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखने की चेष्टा की है।

अपने विचारों को विकसित करते हुए हाब्ज कहते हैं, कि आत्म-सुरक्षा और शक्ति-संचय की जो तीव्र इच्छा व्यक्ति के अंदर विद्यमान है, वही उसे अपनी सुरक्षा की दृष्टि से एक 'समझौते'[1] के लिए बाध्य करती है। इस 'समझौते' से प्रत्येक व्यक्ति, शक्ति के ऐच्छिक समर्पण द्वारा परस्पर संघर्ष एवं तनाव से उत्पन्न, भय और असुरक्षा की भावना से सरलतापूर्वक मुक्ति पा सकेगा तथा परस्पर सहयोग द्वारा भविष्य में, उसके हितों की भी रक्षा सहज ही हो सकेगी। इस शक्ति-स्थानांतरण द्वारा तथा अंततः सरकार की स्थापना द्वारा क्रमशः मनुष्य संघर्ष एवं असुरक्षा की प्राकृतिक स्थिति का अतिक्रमण कर सकेगा तथा स्थायी रूप से शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की दिव्य मंगलमयी स्थिति में अवस्थित हो सकेगा। किंतु, इतना स्मरण रखना चाहिए कि इस 'समझौते' की मूल-प्रेरणा व्यक्ति का अपना वैयक्तिक हित एवं कल्याण ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसने प्राकृतिक, सहज, अविवेकशील, स्वेच्छाचारी आत्म-प्रेम को बौद्धिक विवेकयुक्त आत्म-प्रेम का रूप प्रदान किया है और इस संशोधन के उपरान्त भी मूल रूप से, मनुष्य की प्रकृति, विशुद्ध अहं केंद्रिक ही रह जाती है।

उपयोगितावाद[2]

मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आधुनिकतम रूप हमें 18वीं शताब्दी में मिल और बेंथम के विचारों में मिलता है। यदि इस सिद्धांत के निष्कर्ष तक ही हम अपने को सीमित रखें, तो अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से इसकी पर्याप्त सादृशता मिलेगी। दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार वैयक्तिक हित की अपेक्षा 'सामान्य हित' ही अधिक श्रेष्ठ है और उसे ही जीवन के परम शुभ के रूप में दोनों मतों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। किंतु, यदि दोनों मतों का सूक्ष्म निरीक्षण करें तो दोनों का अंतर स्वतः स्पष्ट हो जायेगा। मिल तथा बेंथम के सामान्य हित संबंधी विचार मानवीय प्रकृति के जिस विश्लेषण पर आधारित हैं, वह हाब्ज तथा ऐपिक्यूरस के निष्कर्षों से सादृश्य रखता है। दोनों विचारकों के अनुसार, मानवीय प्रकृति मूल रूप से अहं केंद्रिक ही है।

अपने विचारों में विद्यमान, अंतर्विरोध की और मिल एवं बेंथम दोनों में से किसी का भी ध्यान नहीं गया। इस तथ्य से, वे संपूर्णतः अनभिज्ञ थे कि जिस

1. Contract.
2. Utilitarianism.

मनोविज्ञान के आधार पर परार्थवादी आचार-नीति का समर्थन उन्होंने किया वह उसके अनुकूल न हो कर उससे स्थायी विरोध रखने वाला है। इसका कारण स्पष्ट है कि दोनों विचारकों की दृष्टि, मूल रूप से अपने सिद्धांत के सामाजिक निष्कर्षों को स्पष्ट करने की ओर थी, उसके तार्किक एवं तात्विक पक्ष के औचित्य की ओर से वे सर्वथा उदासीन थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अपने मत के प्रतिपादन में उन्होंने युक्तियों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग ही नहीं किया। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस मूल अंतर्विरोध के मध्य, वे अपने सिद्धांत का समर्थन, असीम उत्साह से करते रहे। इस प्रकार, जिस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर उनकी परार्थवादी आचार-नीति का समर्थन हुआ है, उसका अध्ययन वर्तमान संदर्भ में नितांत अनिवार्य है।

उपयोगितावाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

बेंथम तथा मिल का सिद्धांत 'उपयोगितावाद' कहलाता है और यह नाम इसे स्वयं मिल महोदय ने दिया है। इसे सार्वभौमिक सुखवाद [1] तथा स्वार्थमूलक उपयोगितावाद [2] भी कहते हैं और ये दोनों ही नाम उस मत की कतिपय विशष्टताओं से संबंधित हैं।

इसे उपयोगितावाद, इसलिए कहते हैं कि सामान्य सुख की वृद्धि हेतु कार्यों का सापेक्षिक मूल्य, उनकी उपयोगिता पर ही आश्रित है। विभिन्न कार्य इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे न्यूनाधिक मात्रा में सामान्य सुख की संवृद्धि में सहायक होते हैं। बेंथम ने सुख के परिणाम निर्धारण हेतु एक 'सुख-कलन'[3] का वर्णन किया है, जिसमें सात आयामों के आधार पर सुखो का सापेक्षिक मूल्य ज्ञात किया जा सकता है।

इस मत के अंतर्गत, मानवीय प्रकृति का आणुविक विश्लेषण सर्वाधिक महत्व रखने वाली विशेषता है। इसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर, इस सिद्धांत का प्रतिपाद किया जाता है और यद्यपि निष्कर्ष की दृष्टि से वह हाब्ज के विचारों से सर्वथा भिन्न है, तथापि पृष्ठभूमि में कार्य करने वाली मूल धारणा की दृष्टि से उसके समान ही है। वस्तुतः अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण हाब्ज के विचार उस अंतर्विरोध से सर्वथा मुक्त हैं जो उपयोगितावाद में प्रमुख रूप से मिलता है।

उपयोगितावाद के अनुसार, मानवीय प्रकृति मूल रूप से एक अहं केंद्रिक-इकाई है और सदैव अपने सुख के लिए ही प्रयत्नशील रहती है। मनुष्य जिस भी क्षेत्र में कार्य करता है तथा जो कुछ भी करता है, प्रमुख रूप से अपने

1. Universalistic hedonism, Rogers, "A Short History of Ethics". सामान्य तथा सर्वव्यापी सुखवाद शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।
2. Egoistic utilitarianism, H. Sidgwick 'Methods of Ethics.'
3. Hedonistic calculus.

हित एवं सुख की दृष्टि से ही करता है। सुख की अधिकाधिक प्राप्ति और उसी अनुपात में दुःख से निवृत्ति, ये ही उसके अस्तित्व के दो प्रमुख ध्रुव हैं, जिनके मध्य उसकी चेतना क्रियाशील रहती है और जिनसे पृथक् हो कर कार्य करना उसके लिए नितांत असंभव है। ये दो ऐसे प्रभुत्व संपन्न स्वामी हैं, जो उसके जीवन को अनिवार्यतः नियमित करते रहते हैं और इन्हीं के द्वारा उसके समक्ष करणीय-अकरणीय की व्याख्या सहज रूप से होती चली जाती है। ये विशेष अर्थों में उसके मार्ग-प्रदर्शक हैं, जो उसके समक्ष, क्या सहज एवं प्राकृतिक है और क्या करणीय है-दोनों को ही प्रस्तुत करते चलते हैं।

सुख-कलन

इस संदर्भ में बेंथम एक ऐसी गणना विधि को प्रस्तुत करते हैं, जिसके आधार पर कार्यों एवं सुखों के सापेक्षिक मूल्यों की गणना सरलता से की जा सकती है। उसमें सात आयाम[1] उपस्थित हैं और ये सभी परिमाणात्मक हैं। यह विचारणीय है कि बेंथम द्वारा वर्णित सातों आयाम सुखों के परिणाम-विभेद से ही संबंधित हैं, विभिन्न सुखों के आंतरिक मूल्य एवं अंतर से उनका कोई संबंध नहीं है। इन आयामों में 'व्यापकता' सर्वाधिक महत्व रखती है, क्योंकि उसी के आधार पर उपयोगितावाद के अंतर्गत सामान्य सुख के आदर्श को परमशुभ के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रत्येक सुख का सापेक्षिक मूल्य, उसकी इस विशिष्टता पर विशेष रूप से निर्भर करता है। सुख की व्यापकता, अधिकाधिक लोगों को प्रभावित करने की उसकी सामर्थ्य, उसके मूल्य का महत्वपूर्ण निर्णायक है। द्वितीय महत्वपूर्ण आयाम, सुख की 'विशुद्धता' है। किंतु 'विशुद्धता' सुख की आंतरिक श्रेष्ठता को द्योतन नहीं करता, वह केवल दुःख की अनुपस्थिति के अनुपात को सूचित करता है।

व्यापकता : साम्या का सिद्धांत [2]

'व्यापकता' के आधार पर ही बेंथम के विचारों में 'साम्या के सिद्धांत' का समावेश हो जाता है। इस नियम के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति की गणना एक इकाई के रूप में ही होनी चाहिये, एक से अधिक नहीं।[3] किंतु, इस आचार-विषयक नियम को, जब स्वीकृत मनोवैज्ञानिक तथ्य की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है, तब स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह प्रयास उचित नहीं।

इस पक्ष पर विचार करते हुए, राजर्स ने स्पष्ट कहा है, कि बेंथम ने अपने सिद्धांत में मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रकृति के आणुविक स्वरूप संबंधी तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक हितों के समन्वय संबंधी प्रत्ययों को, दो भिन्न स्रोतों से लेकर संयुक्त

---

1. "Intensity, durrtion, certainity, propinquity, fecundity purity and extensity."
2. 'Principle of equity'.
3. "Each man is to count for one and not one for more than one."

रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। किंतु, उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि ये दोनों ही तत्व परस्पर विरोधी हैं और इसीलिए संयुक्त रूप से प्रस्तुत नहीं किये जा सकते।[1]

जीवन में, वैयक्तिकता के मूल तत्व [2] के रूप में ही, भावनाओं का अस्तित्व है। भावनायें व्यक्ति को व्यक्ति से पृथक् करती हैं। वे संयोजन का कार्य कभी भी नहीं कर सकतीं। अतएव, यदि मानवीय प्रकृति का उपयोगितावादी विश्लेषण यथार्थ है कि मनुष्य अपने व्यवहार में सदैव सुख-दुःख के नियम से ही नियंत्रित रहता है, तब किस प्रकार, उसके आधार पर परार्थवादी आचार-नीति का समर्थन संभव है, यह स्पष्ट नहीं हो सका है। उपयोगितावाद के अंतर्गत, इसी बात का प्रयास किया गया है, किंतु यथार्थ में जब तक सिद्धांत की मानव-प्रकृति संबंधी मूल व्याख्या में आमूल परिवर्तन नहीं किया जायेगा और मानवीय प्रकृति का यथार्थ चित्रण समुचित रूप से प्रस्तुत नहीं किया जायेगा, इस प्रकार की परार्थवादी आचार-नीति का समर्थन संभव नहीं।

अनुशास्ति सिद्धांत [3]

अपने सिद्धांत की पृष्ठभूमि में परिवर्तन लाये बिना ही उपयोगितावाद के समर्थकों ने अनुशास्ति के आधार पर परार्थवादी आचार-नीति का समर्थन किया है। इस दृष्टि से उनका अनुशास्ति सिद्धांत विशेष महत्व रखता है। बेंथम का विश्वास है कि सामान्यतः अहं केंद्रिक मानवीय प्रकृति, इन्हीं अनुशास्ति से विवश होकर परार्थ की ओर अग्रसर होती है। प्राकृतिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक अनुशास्ति-ये सभी बाह्य हैं, इन्हें जीवन में स्वेच्छा से नहीं; प्रत्युत् उल्लंघन के दुःखप्रद परिणामों से बचने के लिए ही स्वीकार किया जाता है। बाह्य अनुशास्ति मानवीय संकल्प के लिए जो विशिष्ट प्रकार की बाध्यता रखते हैं, वह अंग्रेजी शब्द 'मस्ट'[4] द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है। 'मस्ट' शब्द जिस बाध्यता का द्योतन करता है, उसमें अनिवार्यतः एक अप्रिय विवशता का पुट वर्तमान रहता है। इसीलिए मानवीय नैतिक चेतना में व्याप्त विवशता एवं अनिवार्यता को बाह्य अनुशास्ति के आधार पर समुचित रूप से स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

सूक्ष्म निरीक्षण के उपरांत, निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय नैतिक चेतना की विशेषता अपूर्व है। व्यक्ति सत्य बोलने की, कर्तव्य पालन की तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार की विवशता का अनुभव किसी अप्रिय भय के कारण नहीं करता, वह अनुभूति तो निश्चित ही सुखप्रद होती है। ऐसा प्रतीत होता

---

1. Rogers, 'A Short History of Ethics,' p. 263.
2. Principle of individuation.
3. Sanctions theory. 'प्रतिबंध' शब्द का भी प्रयोग हो सकता है।
4. Must.

है कि व्यक्ति का समग्र व्यक्तित्व नैतिक प्रेरणा तथा नैतिक-संकल्प की मध्यस्थता से अपनी अभिव्यक्ति के लिए व्यग्र है और उसकी पूर्ति के पश्चात् एक अपूर्व शांति एवं संतोष से उसका जीवन पूरित हो जाएगा। अतएव उस प्रेरणा के अनुरूप कार्य सदैव सुख एवं संतोष का कारण होता है और विपरीत कार्य उसी अनुपात में आत्म-ग्लानि एवं पश्चात्ताप का कारण होता है। यदि आदेश बाह्य एवं आकस्मिक होते तो निश्चित ही अनुभव उसके विपरीत होता।

अतएव बाह्य अनुशास्ति सिद्धांत के आधार पर नैतिक चेतना में व्याप्त अनिवार्यता का यथार्थ प्रस्तुतीकरण संभव नहीं। वह केवल बाह्य आरोपित एवं आकस्मिक अनिवार्यता को ही सूचित करता है, जिसके अनुरूप कार्य सर्वदा दुःखप्रद होता है और विपरीत कार्य, यदि दुःखप्रद परिणामों से व्यक्ति बच सकेगा, तो सुखप्रद होता है। स्वामी के लिए कार्य करने वाली दास-वृत्ति नैतिक अनिवार्यता का कभी भी प्रतीक नहीं हो सकती, वह तो विशुद्ध कलात्मक सृजनात्मकता के अधिक निकट प्रतीत होती है। जिस प्रकार कलाकार तूलिका के आधार पर, स्वतंत्रतापूर्वक अपनी कल्पना को मूर्त रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार हमारा नैतिक व्यक्तित्व संकल्पजन्य व्यवहार की मध्यस्थता से अपने में निहित आदर्शों को व्यक्त करता है।

पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन प्रणाली के अंतर्गत कांट के दर्शन में, सर्वप्रथम मानवीय नैतिक चेतना तथा उसमें निहित अनिवार्यता के यथार्थ स्वरूप का परिचय मिलता है। नैतिक चेतना मूल रूप से 'स्व' का अतिक्रमण करने वाली चेतना है। जिस 'स्व' का वह अतिक्रमण करती है, वह मनुष्य का भावात्मक व्यक्तित्व है-वह हमारी मनोदैहिक इकाई है, जो सुख-दुःख के नियम से अनुशासित है और जिस व्यक्तित्व में वह स्थायी रूप से अवस्थित होना चाहती है, वह विशुद्ध बौद्धिक इकाई है। मानवीय व्यक्तित्व के दोनों पक्षों के सतत् विरोध एवं असंगति को कांट ने बड़ी निर्भीकता से स्पष्ट किया है और अपने इस प्रयास में समीक्षकों की दृष्टि में उन्होंने जिस अतिशयता का परिचय दिया है, उसकी चर्चा आगामी अध्याय में की जायेगी। इतना तो निश्चित है कि सुखवाद की अपेक्षा कांट का, नैतिक चेतना का विश्लेषण, सूक्ष्म और सत्य के अधिक निकट है और यदि यह कहा जाय कि जिन दार्शनिकों ने कांट के विचारों को विकसित करने का प्रयास किया है, उन्होंने अंततः उनके विचारों का ही समर्थन किया है, तो इसमें किंचित्मात्र भी अतिशयोक्ति न होगी। किंतु समर्थन की इस प्रक्रिया में उन विचारकों ने कांट के दर्शन के दुरूह पक्षों को ही स्पष्ट नहीं किया, प्रत्युत् उसे अनेक स्थलों पर अंतर्विरोध से भी मुक्त किया है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसीलिए कांट के विचारों के साथ, न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन चिंतकों के विचारों से भी परिचित हों, जिन्होंने उनकी

विचाराधारा के क्रम को संशोधन करने के उपरांत पूर्णता प्रदान की है।

स्थूल सुखवाद का स्वरूप

बेंथम के विचारों के संदर्भ में, एक बात यह महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने सुखों में प्रकार-भेद स्वीकार नहीं किया। समस्त तथाकथित गुणात्मक भेद उनके अनुसार परिमाणात्मक अंतर द्वारा ही समझे जा सकते हैं। बेंथम के लिए कविता और पुष्पिन से प्राप्त सुख मूल्य की दृष्टि से समान ही है।[1] खेल खेलने के उपरांत जिस सुख एवं उल्लास की अनुभूति होती है, और विषम मानसिक प्रक्रिया के उपरांत जो परम संतोष एवं सुख की अनुभूति होती है, उसमें आंतरिक मूल्य की दृष्टि से कोई अंतर नहीं। किंतु जिस गणना-विधि के आधार पर सुखों के सापेक्षिक मूल्य का निर्धारण किया जाता है, उसका विस्तृत विवरण बेंथम में प्राप्त नहीं होता।

वर्तमान संदर्भ में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि सुखों के प्रकार-भेद के तथ्य की सरलता से अवज्ञा नहीं की जा सकती। हमारी सहज नैतिक-बुद्धि इस अंतर को स्पष्ट स्वीकार करती है और मानवीय संकल्पजन्य व्यवहार के स्वरूप के विश्लेषण में इस तथ्य को यथोचित स्थान देती है। निःसंदेह यदि दार्शनिक चिंतन को जीवन के तथ्यों के प्रति समुचित न्याय करना है तब उसे सहज नैतिक बुद्धि द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को समुचित मान्यता देनी ही पड़ेगी। अपने मूल रूप में दार्शनिक चिंतन सहज नैतिक बुद्धि द्वारा प्राप्त निष्कर्षों एवं उसमें निहित धारणाओं को स्पष्ट करने तथा उसे आंतरिक विरोध से मुक्त करने का ही अंतिम प्रयास है, इससे अतिरिक्त अन्य कुछ नही। इससे पृथक, यदि वह अपने लिए कार्य-क्षेत्र का चुनाव करता है तो वह भ्रांतियों एवं अंतर्विरोध के मध्य ऐसा उलझ जायेगा कि उससे मुक्त होना, उसके लिए असंभव होगा।

कार्य की नैतिक विशिष्टता का नियामक परिणाम अथवा प्रेरणा

कार्य का नैतिक औचित्य-अनौचित्य, इस मत के अनुसार, संपूर्णतः उसके परिणाम पर आश्रित है। यदि परिणाम, सामाजिक दृष्टि से हितकर है, कार्य नैतिक दृष्टि से शुभ है अन्यथा नहीं। किंतु उपयोगितावाद के अंतर्गत प्रेरणा के स्वरूप की संपूर्ण अवज्ञा नहीं की गयी है। प्रायः देखने में आता है कि प्रेरणाएँ यदि शुभ हैं तो परिणाम अनिवार्यतः शुभ होते हैं, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से परिणामों को शुभ रखने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति की 'प्रेरणा' भी शुभ रहे। अतएव शुभ प्रेरणा, जीवन में महत्वपूर्ण है, किंतु केवल इसीलिए कि शुभ परिणामों के अवतरण में वह सहायक होती है। स्वतः उसका अपना निजी आंतरिक मूल्य इस दृष्टिकोण के अंतर्गत नगण्य है।

---

1. 'Pushpin is as good as poetry'.

'प्रेरणा' को शुभ बनाने के लिए और परिणामतः परिणामों को नियंत्रित करने के लिए व्यक्ति को दंडित करने की संभावना को भी बेंथम ने स्वीकार किया है। किंतु दंड तभी देना चाहिए, जब वह नितांत अनिवार्य हो, अन्यथा, नहीं; उसे उसी स्थिति में प्रयोग में लाना चाहिये जब सुधार की अन्य सभी विधियाँ असफल हो चुकी हों।

कांट के विचार, इस प्रश्न पर अधिक कठोर हैं, किंतु बेंथम की दृष्टि उदार एवं मानवीय है।

उपयोगिता तथा मिल

बेंथम एवं मिल के विचारों में पर्याप्त सादृश्य है। किंतु मिल के विचारों की अपनी अलग विशेषता है, जिसे समझना आवश्यक है। उन्होंने बेंथम की भाँति मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समर्थन किया है, साथ ही अनेक युक्तियों के आधार पर उसे सुदृढ़ बनाने की चेष्टा भी की है। किंतु उन युक्तियों द्वारा उन्होंने अचेतन रूप से उपयोगितावाद में निहित अनेक ऐसी त्रुटियों को अनावृत्त किया है जिसके कारण उसे स्वीकार करना कठिन हो जाता है। सुविज्ञ समीक्षकों ने इन अपूर्णताओं के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनका वर्णन आगे किया जाएगा।

'सुख' वांछनीय है-वह जीवन का परमशुभ है, इसके समर्थन में मिल ने निम्न युक्ति प्रस्तुत की है :-

"कोई भी वस्तु वांछनीय है, इसका इस तथ्य के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं हो सकता कि, मनुष्य यथार्थ में उस वस्तु की कामना करता है।"

वे पुनः कहते हैं-

"वस्तु दृश्यमान है, इसका केवल एक ही प्रमाण दिया जा सकता है, कि यथार्थ में लोग उसको प्रत्यक्ष करते हैं, शब्द श्रवणीय है, इसका भी केवल एक ही प्रमाण है कि लोग उसका श्रवण करते हैं, इसी प्रकार कोई भी वस्तु वांछनीय है, इसका भी एक ही प्रमाण है कि मनुष्य उसकी कामना करते है।"[1]

ऊपर दी हुई युक्ति मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समर्थन करने में सर्वथा असमर्थ है। उस युक्ति में 'वांछनीय' शब्द का प्रयोग अन्य दो शब्द 'श्रवणीय' एवं

---

1. "There can be no proof that anything is desirable beyond that fact that people actually desire it."
"The only proof capable of being given that an object is visible is that people actually see it; the only proof that sound is audible is that people hear it; the sole evidence that anything is desirable is that people do actually desire it". Mill, 'Utilitarianism', p, 923. 'The English Philosophers from Bacon to Mill' ed. by Burtt.

'दृश्यमान' के साथ समानार्थी के रूप में किया गया है। किंतु दोनों प्रकार के शब्दों में अर्थ की दृष्टि से जो अंतर है, उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती। 'वांछनीय' शब्द का अर्थ होता है 'जिसकी इच्छा या कामना की जानी चाहिये।'[1] जिसकी सहज कामना की जा सकती है', इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। किंतु श्रवणीय एवं दृश्यमान के संदर्भ में उसका यही अर्थ प्रतीत होता है।

वस्तुतः 'वांछनीय' शब्द अनिवार्यतः मूल्य संबंधी विशेष प्रत्यय से संबद्ध है। किंतु अन्य दो शब्द, श्रवणीय एवं दृश्यमान-ऐसे किसी प्रत्यय से संयुक्त नहीं है। दोनों प्रकार के शब्द अँग्रेजी भाषा में ध्वनि की दृष्टि से सादृश्य अवश्य रखते हैं, किंतु 'ध्वनि' की सदृशता, अर्थ की समानता को प्रकाशित नहीं करती। अर्थ की दृष्टि से वे नितांत भिन्न हैं और इसीलिए जो एक के लिए सत्य है वह अनिवार्यतः दूसरे के लिए भी सत्य होगा, यह आवश्यक नहीं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता। किंतु यह समझ कर कि युक्ति अपने उद्देश्य में सफल हो चुकी है, मिल सामान्य सुखवाद के समर्थन में नवीन युक्ति को प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं-

"यदि जिस लक्ष्य का उक्त सिद्धांत समर्थन करता है, वह सिद्धांत एवं व्यवहार-दोनों ही दृष्टियों से व्यक्ति द्वारा स्वीकृत लक्ष्य न होता व्यक्ति की उसके औचित्य के विषय में कोई भी वस्तु विश्वास नहीं दिला सकती थी। सामान्य सुख क्यों वांछनीय है, इसके लिए, इसके अतिरिक्त कोई युक्ति नहीं दी जा सकती कि प्रत्येक व्यक्ति यथासंभव निजी सुख की ही कामना करता है। उपरोक्त तथ्य के

---

1. "When we say that anything is desirable, we do not usually mean merely that it is able to be desired. There is scarcely anything that is not able to be desired. What we mean is rather that it is reasonably to be desired."
Mackenezie, Manual of Ethics, p. 169.
("जब हम कहते हैं कि कोई भी वसतु वांछनीय है हमारा अभिप्राय सामान्यतः यह नहीं होता कि वह एक ऐसी वस्तु है, जिसकी कामना की जा सकती है। शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो, जिसकी इच्छा न की जा सकती हो। वस्तुतः (वर्तमान संदर्भ में) हमारा अभिप्राय एक ऐसी वस्तु से है, जिसकी इच्छा करना न्याय-संगत हैं।")
पुनः एक अन्य विचारक कहते हैं :
'The fact is that desirable does not mean able to be desired' as visible means 'able to be seen' The desirable means simply what ought to be desired or deserves to be desired; just as the detestable means not what can be but what ought to be detested and the damnable what deserves to be damned." Moore, Principia Ethica, p. 67.
("तथ्य यह है कि जिस प्रकार दृश्यमान का अर्थ 'वह जो देखा जा सके' होता है, वांछनीय का अर्थ 'वह जिसकी कामना की जा सके' नहीं होता। वांछनीय का अर्थ होता है 'वह जिसकी इच्छा अपेक्षित अथवा वह जो इच्छा करने योग्य हो', ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार घृणय का अर्थ 'वह जिसकी निंदा की जा सके', नहीं होता, प्रत्युत 'वह जिसकी निंदा की जानी चाहिये' और निंद्य का अर्थ 'वह जो निंदनीय हो'।")

साथ ही यह निष्कर्ष कि सुख ही एक मात्र शुभ है; प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए शुभ है, इसीलिए सामान्य सुख, व्यवित्त के समूह-विशेष के लिए भी शुभ है, निर्विवाद स्थापित हो जाता है।"[1]

मिल द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त तर्क दोषरहित नहीं। वे समझते हैं कि व्यक्ति का निजी सुख एक ऐसी इकाई है जिसका योग संभव है, किंतु वस्तुतः ऐसा संभव नहीं। 'सुख' घटना अथवा परिस्थिति-विशेष के प्रति व्यक्ति की निजी-प्रतिक्रिया होती है और इसीलिए जिस रूप में वह एक के लिए महत्त्व रखती है, दूसरे के लिए नहीं रख सकती। कभी-कभी एक ही घटना एवं स्थिति-विशेष के प्रति एक ही व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न देश-काल में भिन्न होती है। अतएव सुखों का इस प्रकार का योग संभव नहीं, जिस प्रकार की कल्पना मिल की उक्त युक्ति में मिलती है। उनका अन्य शब्दों में, इस प्रकार का योग संभव नहीं कि वे एक समन्वित इकाई का निर्माण कर सकें। अतएव, जिस रूप में, उपयोगितावाद सुखों के समन्वय की कल्पना करता है, और सामूहिक सुख को वर्ग-विशेष के प्रत्येक सदस्य के लिए मान्य ठहराता है, वह अविश्वसनीय है। तर्कीय शब्दावली में इसे संग्रह-दोष[2] कहेंगे, क्योंकि न तो सुखों का योग संभव है और न भावनात्मक स्तर पर वैयक्तिक इकाइयों का ही योग संभव है। मिल दोनों प्रकार के योग की कल्पना करते हैं, किंतु दोनों ही अपनी प्राकृतिक रचना से ऐसी आण्विक इकाइयाँ हैं कि उनके द्वारा सावयविक इकाई का निर्माण संभव नहीं।[3]

उक्त तर्क का द्वितीय दोष द्वितीय भाग में संबंधित है, जिसे मिल ने स्पष्ट नहीं किया, किंतु जो तर्क के पूर्व भाग में निहित है। उसे यदि स्पष्ट किया जाय तो तर्क इस प्रकार होगा-जो कुछ भी व्यक्तियों के समूह के लिए हितकर होगा, वह अनिवार्यतः प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के हित में होगा, जो उस समूह का निर्माण करते हैं।

व्यक्ति से समूह और समूह से व्यक्ति के मध्य इस प्रकार का भावनात्मक आदान-प्रदान तभी संभव है, जब दोनों अभिन्न रूप से संबद्ध हों और अपनी उपस्थिति द्वारा एक समग्र, समन्वित इकाई का निर्माण करें। किंतु, वैसा इस सिद्धांत के अंतर्गत

1. "If the end which the utilitarian doctrine proposes to itself were not, in theory and in practice, acknowledged to be an end, nothing could ever convince any person that it was so. No reason can be given why the general happiness is desirable except that each person, so far as he believes it to be attainable, desires his own happines. This, however, being a fact, we have not only all the proof which the case admits of, but all which it is possible to require, that happiness is a good; that each person's happiness is a good to that person and the general happiness a good to the aggregate of all persons."
   Mill Utilitarianism, Brutt, p. 123.
2. Fallacy of composition.
3. Bradley, 'Ethical Studies', p. 95.

संभव नहीं। व्यष्टि एवं समष्टि के मध्य सावयविक संबंध के तथ्य को विकासवादी तथा आध्यात्मवादी सिद्धांत के समर्थकों ने भलीभाँति स्पष्ट किया है।

उपर्युक्त विचार अप्रासंगिक होते हुए भी महत्वपूर्ण हैं। मिल अपने सुख संबंधी सिद्धांत[1] को अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा करते हैं। उसके अंतर्गत वे उन सभी उपलब्धियों को, जो व्यावहारिक दृष्टि से मूल्यवान हैं, सम्मिलित कर लेते हैं, यथा-संगीत, धन, शक्ति, यश, स्वास्थ्य, सदाचार आदि। ये सभी जीवन मे महत्व रखने वाली वस्तुएँ हैं और सुखवाद के समर्थकों के समक्ष अपवाद रूप में आ सकती हैं। उनके अनुसार सुख-प्राप्ति ही जीवन के लिए संपूर्ण रूप से वांछनीय है, इसके अतिरिक्त कुछ और वांछनीय नहीं। प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर इन सब का जीवन में क्या स्थान है? क्या वास्तव में उपर्युक्त 'उपलब्धियाँ' इस सिद्धांत के समक्ष अपवाद रूप में ही आती हैं?

उपयोगितावाद के लिए ये सभी मूल्यवान हैं; किंतु साधन रूप में ही। सुख, जो जीवन का परम श्रेयस है, उसके साथ अनिवार्य साहचर्य के कारण ये सभी उपलब्धियाँ अत्यधिक प्रिय हो जाती हैं और स्वयं अपने में मूल्यवान हो जाती हैं तथा कालांतर में सुख के अनिवार्य घटक का रूप ग्रहण कर लेती हैं।

वर्तमान संदर्भ में अपने विचार का स्पष्टीकरण करते हुए मिल कहते हैं कि 'सदाचार अन्य उपलब्धियों से भिन्न है। अन्य उपलब्धियों की प्राप्ति व्यक्ति में ईर्ष्या एवं द्वेष का कारण हो सकती हैं, किंतु सदाचार ही एक ऐसी उपलब्धि है, जो अपवाद रूप है। इसीलिए वह सहायक मूल्यों में उच्चपद पर आसीन है ओर एकमात्र ऐसी वस्तु है, जो सब व्यक्तियों की श्रद्धा एवं आस्था प्राप्त करता है। जीवन में, कालांतर से, वह साध्य पर भी आसीन हो सकता है। किंतु मिल को, इस तथ्य की स्वीकृति द्वारा उपयोगितावादी सिद्धांत के समर्थन में, कुछ भी असंगत नहीं प्रतीत होता; किंतु इसके विपरीत उनकी दृष्टि में उक्त स्वीकृति, उपयोगितावादी दृष्टिकोण के समुचित प्रकाशन के लिए वांछनीय है।[2]

सुख के विभिन्न घटकों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं:-

"सुख एक अमूर्त प्रत्यय नहीं। वह एक मूर्त इकाई है और ये सब उसके कतिपय घटक हैं और उपयोगितावादी मानदंड उनके इस रूप का अनुमोदन एवं समर्थन करता है। जीवन नितांत निम्न कोटि का होता और सुख के विभिन्न स्रोतों का उसमें संपूर्णतः अभाव होता, यदि प्रकृति द्वारा उसमें इस प्रकार की व्यवस्था न होती कि मूल रूप से उदासीन किंतु आदिम इच्छाओं के संतोष के लिए साधन

---

1. Principle of felicity.
2. Mill, "Utilitarianism,'-Burtt, 'The English Philosophers from Bacon to Mill", pp. 924-25.

रूप में अथवा साहचर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण वस्तुएँ, कालांतर में स्थायित्व, तीव्रता तथा मानवीय अस्तित्व के क्षणों के विस्तार की दृष्टि से, मूल सुखों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान सुख के स्रोतों के रूप में परिवर्तित न हो पाती।"[1]

अनुशास्ति सिद्धांत में संशोधन

मिल के विचार एक अन्य दृष्टि से भी बेंथम के विचारों से भिन्न हैं। उन्होंने बेंथम द्वारा स्वीकृत चार बाह्य आदेशों के अतिरिक्त आंतरिक आदेश के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। जीवन में जिस नैतिक अनिवार्यता का अनुभव हम करते हैं, उसका केवल बाह्य आदेशों के आधार पर, स्पष्टीकरण संभव नहीं है। वह अनिवार्यता प्रमुख रूप से आंतरिक होती है और यही कारण है कि जब उसके प्रतिकूल कार्य होता है, तब हम अपनी ही दृष्टि में गिर जाते हैं-अपने ही आप संकुचित हो उठते हैं।

आंतरिक आदेश को मिल ने कर्त्तव्य की भावना[2] के रूप में प्रस्तुत किया है। इसकी अवहेलना की ही नहीं जा सकती, क्योंकि इसकी अवहेलना जब भी की जाती है, व्यक्ति का व्यवहार निम्नकोटि का-पशुवत् हो जाता है। तथाकथित 'कर्त्तव्य की भावना', मानव चेतना की अपूर्व विशेषता है। मिल ने आंतरिक प्रेरणा को 'भावना' के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अपने आदेश के अनुसार, मनुष्य को कार्य करने के लिए सदैव प्रोत्साहित करती रहती है। मनुष्य की सामाजिक भावनाओं[3] में सुदृढ़ होने के कारण ही इसका सरलता से अतिक्रमण नहीं हो सकता। इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ये कहते हैं : उन्हीं सामाजिक भावनाओं से 'उसकी उत्पत्ति होती है, उन्हीं से पुष्ट होते हुए जीवन की एक प्रभावशाली शक्ति के रूप में वह विकसित होती है और जीवन के ताने-बाने में बुनी होने के कारण ही वह अनाक्राम्य भी है।'[4]

अनुभवातीतवादियों[5] के विरुद्ध मिल कहते हैं कि उक्त 'नैतिक भावना'-

---

1. "Happiness is not an abstract idea, but a concrete whole; and these are some of it's parts. And the utilitarian standard sanctions and approves their being so. Life would be a poor thing, very ill provided with sources of happiness, if there were not this provision of nature by which things originally indifferent, but conductive to or therwise associated with, the satisfaction of our primitive desires, become in themselves sources of pleasure more valuable than the primitive pleasures both in permanency, in the space of human existence that they are capable of covering, and even in intensity." . Ibid 925.
2. Sentiment of duty.
3. Social feelings of mankind.
4. Being firmly rooted "in the social feelings of mankind, from which it evolves and by which it is nourished till it grows into a potent force of our life, it is ineliminable because it gets woven into the very texture of our life." Mill, 'Utilitarianism from bacon to Mill', burtt, p. 920.
5. Transcendentalists.

अन्य के प्रति कर्त्तव्य की भावना', निश्चित ही 'मानव में सहज एवं जन्मजात नहीं।' वह मूल प्रकृति से 'सहज उत्पत्ति है और कालांतर में सहज ही हो जाती है।'[1]

वे कहते हैं :

"नैतिक भावनाएँ अर्जित हैं, जन्मजात नहीं, किंतु इस कारण वे कुछ कम प्राकृतिक नहीं। मनुष्य के लिए बोलना, चिंतन करना, शहरों का निर्माण करना, भूमि जोतना आदि प्राकृतिक ही हैं, जबकि वस्तुतः ये सब अर्जित-क्षमताएँ ही हैं। नैतिक भावनाएँ, निश्चित ही, इस विशिष्ट अर्थ में कि वे न्यूनाधिक मात्रा में हम सभी में प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान हैं, हमारी मूल प्रकृति का भाग नहीं हैं। अन्य अर्जित क्षमताओं की तरह जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, नैतिक क्षमता यदि हमारी मूल प्रकृति का भाग नहीं तो उससे विकसित सहज उत्पत्ति तो है ही और इन्हीं की भाँति वह न्यूनाधिक मात्रा में स्वतः उत्पन्न होने की और यत्न करने पर विकास के क्रम में पर्यात ऊँचाई प्राप्त करने की योग्यता रखती है।"[2]

अतएव, मिल के लिए नैतिक भावना उपर्युक्त अर्थ में प्राकृतिक ही है। मानव की सामाजिक भावनाओं में सुदृढ़ होने के कारण, उसक अभाव में सामाजिक जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जो मानवीय अस्तित्व की आधारशिला है, जिसके अभाव में उसके जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती तथा जो आद्योपांत एक शक्तिशाली अपरिहार्य शक्ति के रूप में कार्य करती रहती है, उसको स्वीकार करने के उपरांत, उपयोगितावादी सिद्धांत मिल की दृष्टि में, एक ऐसी सुदृढ़ शिला पर अवस्थित हो जाता है कि किसी भी आपत्ति द्वारा उसका अनासीन होना संभव नहीं।

मिल की युक्तियों के आधार पर स्पष्ट है कि मानव की नैतिक भावना उसकी मूल प्रकृति में विद्यमान नहीं है। उसके अनुसार वे सदैव बाह्य एवं आकस्मिक ही रहती हैं और परिस्थितिजन्य विवशता के कारण ही जीवन में स्वीकृत होती हैं। उन भावनाओं के साथ, आंतरिक रूप से संयुक्त होना, व्यक्ति

---

1. "Moral feelings or sentiment of duty is not innate in man. It is a spontaneous growth and tends in due course to become as good as natural." Mill, Uttilitarianism, pp 120, 21. "The English Philosophers from Bacon to Mill', Burtt.
2. "The moral feelings are not innate but acquired but "they are not for that reason the less natural. It is natural to man to speak, to reason, to build cities to cultivate the ground, though these are acquired faculties, The moral feelings are not indeed a part of nature in the sense of being in any preceptive degree present in all of us. Like the other acquired capacities above referred to, the moral faculty, if not a part of our nature, is a natural outgrowth from it, capable like them, in a certain small degree, of springing us simultaneously; and susceptible of being brought by cultivation to a high degree of development". Ibid, p. 919.

के लिए संभव नहीं। अतएव, अन्य चेतन इकाइयों के हितों के साथ तादात्म्य स्थापित करना और उनके लिए उसी तत्परता से प्रयत्नशील होना, जिससे वह निजी हितों के लिए प्रयत्नशील होता है, जीवन भर संभव नही। यही कारण है कि एकत्व का भाव मिल के विचारों में बाह्य एवं आकस्मिक ही रह जाता है और व्यावहारिक दृष्टि से एवं प्रतिबंधों के कारण ही पुष्ट हो पाता है।[1]

मिल में 'कर्तव्य की भावना' का प्रस्तुतीकरण जिस रूप में हुआ है, उसको अंतिम रूप से स्वीकार करना असंभव है। अनुमोदन-अननुमोदन की भावना के रूप में, उसमें किसी प्रकार के स्थायित्व की कल्पना करना संभव नहीं। अन्य भावनाओं की तरह वह भी तरल एवं परिवर्तनीय ही है।

इसके स्वरूप का यथार्थ एवं स्पष्ट विश्लेषण, सर्वप्रथम कांट के दर्शन ही में प्राप्त होता है। तथाकथित 'कर्त्तव्य की भावना' वस्तुतः बौद्धिक अनुमोदन-अननुमोदन ही है, जो नैतिक जीवन में अनुभूत बाध्यता का अंतिम स्रोत है। मानव के लिए उसके अनुरूप कार्य करना आवश्यक है, क्योंकि वह हमारे व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसकी सरलता से अवज्ञा नहीं की जा सकती। इसके आदेशों के प्रति अश्रद्धा व्यक्त करना, अपने यथार्थ व्यक्तित्व एवं उसके हितों के प्रति अश्रद्धा व्यक्त करना होगा, यह संभव भी नहीं और न ही यह वांछनीय भी है। एक भारतीय संत ने इसी सत्य को बड़े प्रभावशाली रूप से व्यक्त किया है 'विश्व में

---

1. "He comes as though instinctively, to be conscious of himself as a being who of course pays regard to others. The good of others becomes to him a thing naturally and necessarily to be attended to like any of the physical conditions of our existence. Now whatever amount of this feeling a person has, he is urged by the strongest motives both of interest and of sympathy to demonstrate it, and to the utmost of his power encourage it in others; and even if he has none of it himself, he is as greatly intrested as any one else that others should have it. consquently, the smallest germs of feelings are laid hold of & nourished by the contagion of sympathy and the influence of education, and a complete web of corroborative association is woven around it, by the powerful agency of external sanctions." Ibid, p. 921.

("सहज ही वह अपने को एक ऐसी इकाई के रूप में पाता है जो अन्य को सम्मान देता है, अन्य का शुभ भी उसके लिए उसी प्रकार प्राकृतिक एवं अनिवार्य रूप से ध्यान देने योग्य हो जाता है, जिस प्रकार उसे अपने दैहिक अस्तित्व के लिए अनिवार्य भौतिक स्थितियों के प्रति सजग रहना पड़ता। स्वयं व्यक्ति–विशेष में वह भावना कितनी भी न्यूनाधिक मात्रा में क्यों न हो, स्वहित एवं सहानुभूति की तीव्रतम प्रेरणा द्वारा वह उसके प्रकाशन के लिए तथा अन्य में उसकी संवृद्धि के लिए प्रेरित रहता है और यदि उसमें उक्त भावना लेशमात्र भी उपस्थित नहीं है, तो भी वह अन्य की भाँति स्वयं भी इस बात में रुचि रखता है कि दूसरे में उसे अनिवार्यतः होनी ही चाहिये। अतएव, भावना के न्यूनतम करणों को पकड़ लिया जाता है तथा शिक्षण सहानुभूति द्वारा उसे पुष्ट किया जाता है और बाह्य अनुशास्ति के आधार पर परस्पर सुदृढ़ करने वाले साहचर्य द्वारा, एक अपूर्व जाल उसके चारों ओर निर्मित हो जाता है।")

व्याप्त नियम संगीन की नोक पर व्यक्ति को धार्मिक बनाता है।[1]

ध्रुवतारे की भाँति, निरंतर उसका हमारे अंदर वास है और इसलिए वह हमें आमूल परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। ग्लानि एवं पश्चात्ताप की भावनाएँ उसकी उपस्थिति की सूचक हैं। उस तात्विक व्यक्तित्व के आदेश के अनुरूप जीवन को नियमित न करने से व्यक्ति अपनी ही दृष्टि में तुच्छ, हेय एवं संकुचित हो उठता है।

सुखों में गुणात्मक भेद

मिल के विचारों के संदर्भ में, जो अंतिम बात महत्त्वपूर्ण है, वह सुखों में प्रकार भेद की स्वीकृति से संबंधित है। वे ऐपिक्यूरस तथा बेंथम के विपरीत सुखों में यथार्थ प्रकार भेद को स्वीकार करते हैं और दैहिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुखों को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं। ऐपिक्यूरस ने भी सुखों में गुणात्मक भेद को स्वीकार किया है और मिल की भाँति वे भी मानसिक सुखों को ही श्रेष्ठ मानते हैं; किन्तु श्रेष्ठता का विश्लेषण करने पर वह आंतरिक गुण पर आश्रित न हो कर परिस्थितिजन्य लाभ पर ही आश्रित प्रतीत होती है। मिल ने ठीक इसके विपरीत, उस उच्च आधारभूत आंतरिक विशेषता की चर्चा की है, जिसके कारण, मानसिक गुणों की श्रेष्ठता स्थापित की जा सकती है। वे कहते हैं-"यह नितांत असंगत है कि जबकि समस्त वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में गुण एवं परिमाण दोनों का ही विचार होता है, सुख का मूल्य निर्धारण केवल परिणाम पर ही आश्रित समझा जाय।"[2]

गुणात्मक श्रेष्ठता के कारण का अन्वेषण करते हुए वे 'योग्य निर्णायकों के निर्णय को मान्यता देते हैं और अंतिम रूप से मनुष्य में निहित गौरव की भावना[3] को स्वीकार करते हैं।

श्रेष्ठ सुखों की वांछनीयता के लिए तर्क प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं, जीवन में प्रायः हम मनुष्यों को उच्च सुखों की अपेक्षा, निम्न सुखों का वरण करते

---

1. "The law makes us religious at bayonet's point".
   S. Ramatirtha, "In Woods of God Realization"
2. "It would be absurd while in estimating all other things, quality is considered as well as quantity, the estimation of pleasures should be supposed to depend on quantity alone." Mill utilitarianism, p. 901.
3. Sense of dignity : "It is better to be a human being dis-satisfied than a pig satisfied; better to be socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig is of a different opinion, it is because they only know their own side of the question. The other party to the comparison knows both sides." Ibid, p. 902.
   ("संतुष्ट शूकर से तो असंतुष्ट मनुष्य होना अधिक उत्तम है तथा बेवकूफ संतुष्ट व्यक्ति की अपेक्षा असंतुष्ट सुकरात होना अधिक श्रेष्ठ हैं। और यदि एक बेवकूफ व्यक्ति अथवा शूकर उससे भिन्न मत रखते हैं तो केवल इसलिए कि उन्हें प्रश्न के एक ही पक्ष का बोध है, दूसरा व्यक्ति दोनों ही पक्षों से परिचित है।")

हुए देखते हैं, हम देखते हैं कि क्रमशः उच्च सुखों में, उनकी आस्था एवं आकांक्षा क्षीण होती जाती है और वे निम्न-स्तर के सुखों की कामना करने लगते हैं। इस आकांक्षा के क्रमिक ह्रास का तथा निम्न सुखों में उनकी बढ़ती आसक्ति का वातावरण की अनुपयुक्तता ही एक कारण है, जो हमारी उच्च सुखों की प्राप्ति की आकांक्षा की सुदृढ़ता एवं विकास के लिए हितकारी नहीं।

वर्तमान संदर्भ में अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं :

"मनुष्य अपनी उच्च अकांक्षाओं को बौद्धिक अभिरुचि की भाँति ही खो देते हैं, क्योंकि उनके उपभोग हेतु न तो उनके पास समय ही है और न ही सुविधा। और वे निम्न सुखों में आसक्त हो जाते हैं, इसलिए नहीं कि स्वेच्छा से वे उन्हें पसंद करते हैं, प्रत्युत् इसलिए कि वे ही उन्हें उपलब्ध हैं अथवा उन्हीं के उपभोग की क्षमता उनमें विद्यमान हैं।"[1]

अतएव श्रेष्ठ सुखों की अभिवृद्धि प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है तथा महानतम मूल्य पर ही, उसकी अवज्ञा की जा सकती है। उसकी अवहेलना उस स्थिति में ही की जा सकती है, जब कि हम उन सभी मूल्यों का एक बार समर्पण कर दें, जिन्हें अभी तक जीवन में महत्वपूर्ण समझते आये हैं।

मिल की सहज बुद्धि, सही दिशा का अनुसरण कर रही थी, किंतु उन्होंने अपनी स्वीकृतियों में निहित, सूक्ष्म सत्यों के अनावरण की चेष्टा नहीं की और इसीलिए समीक्षकों ने उनके मत के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत कीं, जिनकी चर्चा आगामी खंड में की जायेगी।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की समीक्षा

वैयक्तिक एवं सामान्य दोनों प्रकार के मनोवैज्ञानिक सुखवाद की तीव्र आलोचना, गत वर्षों में हुई है। आध्यात्मवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत ब्रैडले तथा ग्रीन और यथार्थवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत मूर तथा रसल के नाम प्रमुख हैं। अपनी पुस्तक 'ऐथिकल स्टडीज' में ब्रैडले ने बड़ी योग्यता से इस वाद की समीक्षा प्रस्तुत की है। उनकी सर्वप्रथम आपत्ति को सुखवाद के विरोधाभास[2] के नाम से ज्ञात है। सिजविक ने सर्वप्रथम आपत्ति को, इस रूप में प्रस्तुत किया था। इस आपत्ति के अनुसार सुख-प्राप्ति का लक्ष्य-जो मनोवैज्ञानिक-सुखवाद के अंतर्गत परमशुभ के रूप में स्वीकृत है, वस्तुतः एक अव्यावहारिक-लक्ष्य है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मानवीय संकल्प,

---

1. "Men lose their high aspirations as they lose their intellectual tastes because they have not time or opportunity for indulging in them; and they addict themselves to inferior pleasures not because they deliberately prefer them, but because they are either the only ones to which they have access or the only ones which they are any longer capable of enjoying." Ibid, p. 903.
2. Paradox of Hedonism.

सचेतन स्तर पर, कभी भी सफलतापूर्वक प्रयत्नशील नहीं हो सकता। अन्य शब्दों में, सुख को, यदि संकल्प के समक्ष वांछनीय लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर भी लें, तब भी मानव के लिए उसे प्राप्त करना कठिन हो जाएगा क्योंकि प्राप्ति के प्रयास के क्षणों में ही, वह क्षितिज की भाँति दूर जाता हुआ प्रतीत होगा।

अतएव, जीवन के प्राप्य के रूप में, यदि इसे स्वीकार करना ही है, तो इसे सचेतन स्तर पर अपरोक्ष रूप से न स्वीकार करके परोक्ष रूप में ही स्वीकार करना हितकर होगा। अपरोक्ष रूप से, जीवन के अन्य साध्यों में से यथा-धन, मान, सम्मान, ज्ञान आदि किसी का भी चयन करके, उसके लिये व्यक्ति को प्रयत्नशील होना चाहिये-सुख तब स्वयंमेव ही हमें प्राप्त हो जायेगा।

अन्य शब्दों में सुख जीवन संबंधी एक विशिष्ट लक्ष्य है, जो अपरोक्ष रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। सुख संबंधी इसी तथ्य को, उसकी अव्यावहारिकता तथा निकृष्टतम प्रकार की सामान्य भ्रांति[1] आदि पदसमूह द्वारा ब्रैडले ने व्यक्त किया है। इस संदर्भ में, अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि कुछ लोगों को यह भ्रांति हो सकती है कि 'सामान्य सुख' के जिस लक्ष्य को सामान्य सुखवाद ने प्रस्तुत किया है, वह व्यावहारिक है और इसी हेतु वरणीय भी, किंतु उनका ऐसा सोचना उचित नहीं। सामान्य सुखवाद के लक्ष्य संबंधी इस प्रश्न पर आपत्ति प्रस्तुत करते हुए, वे कहते हैं कि यदि सीमित स्तर पर व्यक्ति-विशेष के जीवन में हम देखते हैं, उस लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं, तब उसे और अधिक व्यापक रूप देने से, वर्ग-विशेष अथवा समस्त मानवता के लिए अनिवार्य लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने से, किस प्रकार वह यथार्थ हो सकेगा, यह समझ में नहीं आता। वर्ग-विशेष का सुख तथा सामान्य सुख जीवन विषयक ऐसे आदर्श हैं, जिनकी कल्पना तो संभव है, किंतु जीवन के यथार्थ लक्ष्यों के रूप में उन्हें स्वीकार करना, अनेक कठिनाइयों का वरण करना होगा। इस संबंध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"यह स्मरण रखना हमारे हित में होगा और हममें संदेह उत्पन्न करने के लिए भी पर्याप्त है कि व्यक्ति जब निजी सुख के लिए प्रयत्नशील होता है और अपने वैयक्तिक प्रयास में असफल हो जाता है तब हम यह कैसे सुनिश्चित हो सकते हैं कि संपूर्ण चेतन जगत के सुख के लिए प्रयत्नशील मानवता अपने लक्ष्य को अधिक ठोस और यथार्थ धरातल दे पाएगी?"[2]

ब्रैडले की द्वितीय आपत्ति इस बात को स्थापित करना चाहती है कि

---

1. "Coarsest form of vulgar delusion."
2. "It would be well to remember that if the individual when he seeks pleasure fails in his individual aim such a fact ought at least to inspire us with some doubt whether when mankind seeks the pleasure of the sentient world, that end be so much more real and tangible."

Ethical Studies, p. 88.

सुखवाद, नैतिक जगत् से संबंधित तथ्यों के साथ, न्याय करने में सर्वथा असमर्थ है, इसलिए विशिष्ट अर्थों में वह सिद्धांत अनैतिक है। यदि हम अपनी सहज अ-दार्शनिक व्यावहारिक नैतिक बुद्धि से पूछें, जो वाद, मत और सिद्धांतों से पृथक, जीवन से सीधा सरल संबंध रखती है कि इस प्रश्न पर उसका क्या मत है, तो वह निःसंकोच कहेगी कि सुखवाद के समर्थन में, सुख को जीवन के परम शुभ के रूप में स्वीकार करने में, उसे कोई रुचि नहीं। अन्य शब्दों में, सचेतन एवं अचेतन दोनों में से किसी भी स्तर पर सुख-प्राप्ति को जीवन के परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने के लिए वह प्रस्तुत नहीं।

ब्रेडले पुनः कहते हैं :

"भ्रांति से भिन्न किसी अन्य स्थिति में, नैतिक चेतना ने सुखवाद को स्वीकार ही नहीं किया है। और मैं समझता हूँ, यदि यह मान भी लिया जाय कि सुखवाद व्यवहार्य है, तब भी इतना निश्चित है कि सामान्य नैतिक सम्मति, इस सिद्धांत को नैतिकता की समुचित व्याख्या के रूप में स्वीकार करने के विरुद्ध है. .. आप तीव्र विरोध आमंत्रित किये बिना, नैतिक चेतना के समक्ष सुखवाद ध्येय को प्रस्तुत ही नहीं कर सकते।"[1]

अरबन ने भी, इस प्रश्न पर कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि जब भी हमारी सामान्य व्यावहारिक बुद्धि ने मूल्य एवं सुख को अभिन्न माना तथा सुख को जीवन के परम मूल्य के रूप में स्वीकर किया 'उसने अपने को गलत समझा है।'[2] यदि व्यावहारिक नैतिक बुद्धि के निर्णय का हम सूक्ष्म अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह मूल्य को एक ऐसी क्रिया अथवा व्यापार में स्थापित करतीं है, जिसकी सुख की मनःस्थिति अनिवार्य सहचरी है। व्यक्ति की क्रियाशीलता, उसमें निहित संभावनाओं का संपूर्ण विकास, तथा उनसे संबद्ध क्षमताओं में समुचित प्रेरणा को संचरित करना, मूल्य के साधन नहीं प्रत्युत् स्वतः मूल्य हैं।[3]

अपने विचार का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि सुख अथवा सुख

---

1. "Never except on a misunderstanding has the moral consciousness in any case acquiesced in hedonism. And we must say, I think, that, supposing it possible that hedonism could be worked, yet common moral opinion is decided against its being, what it professes to be, a sufficient account of morals-you can not, I think, bring the hedonistic end before the moral consciousnses without a sharp collision."
2. "It has misunderstood itself."
3. Commonsense places value, "in the activity, the functioning of which the pleasurable state is the accompaniment...The functioning, the complete development and energising of our capacities, are not means to value but are the value." Fundamentals of Ethics, p. 84.

से पूरित भाव, हमारे प्रत्येक संकल्पजन्य व्यवहार के अनिवार्य सहवर्ती हैं। इसलिए सुख एवं मूल्य में तादात्म्य स्थापित हो ही नहीं सकता। इस प्रकार का तादात्म्य ठीक उसी प्रकार की भ्रांति पर आश्रित है, जिसके आधार पर विषयनिष्ठ अध्यात्मवादियों[1] ने अपने सिद्धांत का समर्थन किया है। उन्होंने बोध के विषय तथा उस मनःस्थिति को जिसकी मध्यस्थता से उक्त वस्तु का बोध होता है, वस्तुतः एक ही मान लिया था। इस सदृशता को अरबन ने भलीभाँति स्पष्ट किया है।[2]

ब्रैडले ने अत्यन्त ही कवित्वमयी भाषा में, इस संबंध में अपनी द्वितीय आपत्ति को प्रस्तुत किया है-

"अपने उल्लास एवं अवसाद के क्षणों से पृथक, उक्त प्रश्न पर जब हम गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, तब हम निश्चित रूप से अपने तथा दूसरों के लिए भी अपनी समझ से उच्चतम जीवन का-उस जीवन का जिसमें उच्चतम क्रियाशीलता हो, चुनाव करते हैं और उस कल्पना में निश्चित रूप से हम सुख की भावना का भी समावेश करते हैं। किंतु, यदि हमारे समक्ष दो ऐसी संभावनाएँ प्रस्तुत की जाएँ जिनमें एक ओर निम्न क्रियाशीलता हो, सुख अधिक हो, तथा दुःख कम हो और दूसरी ओर उच्च क्रियाशीलता हो, दुःख अधिक हो तथा सुख कम हो, तो हमें निश्चित रूप से द्वितीय का चुनाव करना चाहिये।[3]

यदि सुखवाद के समर्थक, सिद्धांत की नवीन अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए (जो निश्चित ही, प्राचीन की अपेक्षा अधिक उदार और मानवीय हैं,) उस सिद्धांत का नये प्रकार से समर्थन करना चाहते हैं, तो भी ब्रैडले के विचार में, निश्चित है कि नैतिक चेतना का यह नवीन प्रस्तुतीकरण भी हमारी साधारण नैतिक चेतना को स्वीकार्य न होगा। उसका नवीन रूप पुरातन की ही भाँति अनैतिक है, 'अनैतिक' शब्द से वर्तमान संदर्भ में तात्पर्य है-वह जो जीवन के नैतिक तथ्यों के साथ, समुचित न्याय करने में सर्वथा असमर्थ ही न हो प्रत्युत् उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करने वाला हो। नवीन सुखवाद में, सिद्धांत के मूल तत्व तो अपरिवर्तित

---

1. Subjectivists; subjective idealists.
2. "There is no experience of the good or the beautiful without feeling but it does not follow that the essence of the good or the beautiful lies in the feeling. The situation is the same as that which appears in connection with knowledge itself. There is no object known except through states of consciousness of the knower, his sensation and ideas. But it does not follow that either the existence or the character of the object is identical with these states of consciousnes." Fundamental of Ethics, p. 88.
("भावना से पृथक शुभ एवं सुदर की कोई भी अनुमति संभव नहीं, किंतु, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि शुभ एवं सुन्दर का सारतत्व भावना में ही है, स्थिति वही है जो ज्ञान के संदर्भ में व्यक्त होती है। ऐसी कोई ज्ञेय वस्तु नहीं, जिसे चेतना की स्थितियों, संवेदनाओं एवं प्रत्ययों की मध्यस्थता से पृथक जाना जा सके। किंतु, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वस्तु का अस्तित्व अथवा उसकी प्रकृति चेतना की उन स्थितियों से एकरूप है।")

ही रहते हैं, इसलिए आपत्ति के आधारभूत समस्त तत्व इसमें पूर्ववत् हैं। सिद्धांत के इस नये रूप में भी नैतिक व्यवहार सुख-प्राप्ति हेतु सहायक ही हैं। उसे अन्य शब्दों में, साधन रूप में ही महत्वपूर्ण ठहराया गया है। किंतु हमारी सामान्य नैतिक चेतना, इस तथ्य को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है।[1]

सामान्य नैतिक चेतना के मत में, सुख से भिन्न, सभी प्रेरणाएँ उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान हैं। अतएव सुयोग समीक्षक अपने तर्क की पुष्टि में कहते हैं :

"नैतिक चेतना यह नहीं समझती कि वह सुख-प्राप्ति के लिए ही कार्य करती है और जो प्रश्न यहाँ पर विवादास्पद है वह यह नहीं कि जो कुछ भी उक्त चेतना सोचती है तथा जो कुछ भी अनिवार्यतः उसे सोचना है, वह मनोवैज्ञानिक भ्रांति है अथवा नहीं प्रत्युत् यह कि उपयोगितावाद, उसके अनुरूप है अथवा नहीं।"[2]

विशिष्ट युक्तियाँ

उन विशिष्ट युक्तियों का जब हम अध्ययन करते हैं, जिनके आधार पर

---

1. "When in the season neither of our exaltation nor of our depression, we soberly consider the matter, then we choose most certainly for ourselves (and so also for others) what we think the highest life, i. e., the life with the bighest function, and in the life we certainly include the feeling of pleasure, but if the alternative is presented to us of lower functions with less pain and greater pleasures of higher functions with greater pains and less pleasures then we must choose the latter.

"Ethical Studies. p. 91.

2. "Ordinary morality is clear that when it aims at virtue for itself and for others, it has not got its eyes no wages or perquisites, its motives in the sense of the object of its conscious desire is not the anticipated feeling of pleasure. What it has before its mind is an object, an act or an event which is not (for itself atleast) a state of the feeling self in itself or othors...To the moral mind that feeling is an accompaniment or a consequent and it may be thought of as such. But to think of it as more, to propose it as the end to which the act or objective event is the means and nothing but the means, is simply to turn the moral point of view upside down."

Ibid, p. 93.

("सामान्य नैतिकता इस बात पर स्पष्ट हैं कि जब वह सदाचार को अपने तथा अन्य के लिए स्वीकार करता है तब उसकी दृष्टि पारिश्रमिक एवं अनुलाभ पर नहीं रहती; उसके कार्य की प्रेरणा उसकी सचेतन इच्छा के विषय के रूप में सुख की पूर्वकल्पित भावना नहीं रहती। उसके मन के समक्ष उस समय लक्ष्य रूप में कोई ऐसी वस्तु, कार्य एवं घटना ही रहती है जो (कम–से–कम उसके लिए) उसके अपने अथवा दूसरे के भावनात्मक व्यक्तित्व की आंतरिक स्थिति कदापि नहीं... नैतिक मन के लिए तो वह भावना सहयोगी एव परिणाम है और इस रूप में उसे प्रस्तुत भी किया जा सकता है किंतु, उसके विषय में इससे अधिक कुछ सोचना उसे ऐसे उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत करना जिसके लिए कार्य अथवा वस्तुगत घटना साधन है–मात्र साधन, नैतिक जीवन को विपरीत रूप से प्रस्तुत करना होगा।")

समीक्षकों ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विभिन्न पक्षों के विरुद्ध आपत्ति व्यक्त की है, तो निश्चित ही उनके प्रस्तुत विचार सिद्धांत की अपेक्षा कई स्थान पर अधिक उचित प्रतीत होते हैं। प्रथम युक्ति का संबंध, उस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि से है, जिस पर सिद्धांत की स्थापना की गयी है। वैयक्तिक एवं सामान्य-दोनों ही प्रकार का मनोवैज्ञानिक सुखवाद, मानवीय व्यक्तित्व से संबंधित एक विशिष्ट धारणा पर आधारित है, जिसके अनुसार मनुष्य पूर्णतः सुख-दुःख नियम से नियंत्रित होने वाला प्राणी है और इसके अतिरिक्त किसी अन्य नियम का, उस पर इस प्रकार का, कोई अधिकार नहीं; किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि हमारी सामान्य मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के समक्ष, उक्त तथ्य को प्रस्तुत किया जाय, तो वह उसे अपर्याप्त समझते हुए अस्वीकार कर देगी। जीवन में सुख-प्राप्ति से भिन्न प्रेरणाएँ, अधिक सक्रिय एवं बलवती होती है। सुख की अपेक्षा, मनुष्य प्रायः अपनी महत्वाकांक्षा की तुष्टि के लिए धन एवं सम्मान के लिए तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के लिए व्यग्र दिखायी देता है। वस्तुतः वह जीवन में निहित उन सभी संभावनाओं के अनावरण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है, जिनसे उसका जीवन सौम्य एवं पूर्ण होता चला जाता है। अन्य शब्दों में, वह अपने व्यक्तित्व में निहित यथार्थ एवं आदर्श के मध्य अंतर्विरोध से मुक्त होना तथा स्थायी रूप से अपने तात्विक व्यक्तित्व को पाना और उसमें संपूर्णतः अवस्थित होना चाहता है। अपने व्यक्तित्व के इन दो विरोधी तत्वों के संघर्ष के मध्य, वह सदैव उद्विग्न रहता है तथा स्थायी सामंजस्य की स्थिति के अवतरण की कामना करता है, जिसके पश्चात् भविष्य में किसी प्रकार की अपूर्णता एवं अभाव की भावना से वह उत्पीड़ित न हो सके। भगवद्गीता[1] ने इसी आदर्श स्थिति को स्थितिप्रज्ञ की आंतरिक स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया है।

निष्कर्षतः, मनुष्य अस्थायी, परिवर्तनीय सुख की मनःस्थितियों के लिए जीवित नहीं रहता। वह उन मूल्यों, आदर्शों एवं महती लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, जिनकी मध्यस्थता से वह उस आदर्श स्थिति को प्राप्त कर सके, जिसे सामान्य एवं दार्शनिक भाषा में निर्वाण, मोक्ष अथवा कैवल्य की स्थिति कहते हैं। जिस व्यक्तित्व से मुक्ति की वह कामना करता है, वह उसका अपना सीमित संकुचित व्यक्तित्व है, जो अपने लिए नित्य-नयी सीमाओं का निर्माण करता रहता है और चारों ओर के जीवन से प्राकृतिक रूप से संयुक्त होने से, अपने को बरबस रोकता रहता है। वह इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि उस जीवन में प्रवेश तथा एकीकृत होने का उसका जन्मसिद्ध अधिकार है, किंतु अपने क्षीण, संकुचित

1. "The moral consciousness does not think it acts to get pleasure, and the point here at issue is not whether what it believes and must believe is or is not a psychological illusion but whether utilitarianism is in harmony there-with." Ibid, p. 93.
2. देखिये अध्याय - 2, 54-72.

व्यक्तित्व से तादात्म्य स्थापित करने के कारण ही, वह उससे वंचित रहता है। बाइबिल[1] ने इसी तथ्य को दृष्टांततः ऐडम एवं ईव के प्रथम पाप के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें ईश्वरीय आदेश के उल्लंघन के परिणामस्वरूप मानव स्वर्ग के प्राकृतिक सुखों से वंचित हो जाता है तथा जिसकी पुनः प्राप्ति के लिए वह जीवन भर व्यग्र एवं प्रयत्नशील रहता है।

अतएव, एक अनुचित मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर, सुखवादियों ने अपने मत का स्थापन किया है, जिसके कारण उनके विचारों में अनेक भ्रांतियाँ आ गयी हैं। सुख-प्राप्ति का लक्ष्य जीवन में कभी भी इतना महत्व नहीं रखता कि हम केवल उसी के लिए कार्य करने के लिए व्यग्र रहें और किसी अन्य प्राप्य की चिंता न करें। यह सत्य है कि जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब हम केवल सुख के लिए ही कार्य करना चाहते हैं। किंतु, अन्य अवसरों पर तो सुख विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के क्षणों का केवल सहवर्ती ही हो कर आता है।

मूर सुखवादी युक्ति में निहित·भ्रांति का अनावरण अपने ही ढंग से करते हैं। उनके अनुसार सुखवाद 'सुख का प्रत्यय' और 'सुखप्रद प्रत्यय'-दो नितांत भिन्न प्रत्ययों के भेद को स्पष्ट नहीं कर पाता। प्रत्येक प्रत्यय जो वरणीय लक्ष्य के रूप में मानवीय संकल्प द्वारा स्वीकृत होता है, संभाव्य सफलता के पूर्ण विचार के कारण सदैव ही सुखप्रद प्रतीत होता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम सर्वदा सुख-प्राप्ति के लिए ही कार्य करते हैं और सुख ही मानवीय संकल्प का अंतिम लक्ष्य एवं स्थायी प्रेरणा है।

'सुख' एवं 'इच्छा के संबंध का विश्लेषण करते हुए, वे कहते हैं कि इस संबंध की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। सुख, इच्छा की उत्पत्ति का निमित्ति कारण[2] भी हो सकता है। इंजन, ईधन के अभाव में अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता है। यह निश्चित है; अतएव ईंधन, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, इंजन की गति के कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किंतु, इस विशिष्ट अर्थ में, सुख को मानवीय संकल्प के प्रेरक के रूप में, सुखवाद नहीं स्वीकार करता। एक भिन्न अर्थ में भी सुख, हमारी इच्छा एवं संकल्प का प्रेरक हो सकता है। वह उस निर्दिष्ट 'लक्ष्य' एवं 'प्राप्य'[3] के रूप में कार्य कर सकता है, जिसके लिए मानवीय संकल्प प्रयत्नशील रहता है। इसी अर्थ में सुखवाद ने 'सुख' को इच्छा के प्रेरक के रूप में स्वीकार किया है, किंतु, उसे इस रूप में सर्वदा स्वीकार करना संभव नहीं है। ब्रैडले द्वारा दी हुई युक्तियों के संदर्भ में, यह बात स्पष्ट कर दी जा चुकी है। हमारी सामान्य व्यावहारिक चेतना, उसे एकमात्र प्राप्य रूप में-जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं।

1. Holy Bible.
2. Efficient cause.
3. Final cause.

सुखवाद की उक्त भ्रांति के कारण का विश्लेषण करते हुए, मूर कहते हैं कि इस भ्रांति का प्रमुख कारण दोनों ही संदर्भों में एक ही अँग्रेजी शब्द 'बिकॉज'[1] का प्रयोग है। भ्रांति के उद्‌गम का स्पष्टीकरण एक अत्यंत रोचक दृष्टांत के आधार पर करते हुए वे कहते हैं :-

"हमारे विचार में, उसका प्रवेश इस प्रकार होता है। मद्यपान का प्रत्यय मन में सुख की भावना उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण एक ऐसी प्रारंभिक प्रक्रिया का आरंभ हो जाता है, जिसे कामना या इच्छा कहते हैं। अतएव, एक पूर्व प्राप्त सुख के कारण-वह सुख जो मात्र प्रत्यय से उद्‌भूत है, हम मद्यपान की कामना करते हैं, जो इस समय हमें उपलब्ध नहीं। और इस बात को स्वीकार करने के लिए, हम सदैव प्रस्तुत हैं कि प्रत्येक इच्छा तथा चेतन एवं अचेतन मानसिक प्रक्रिया के कारणों में इस प्रकार का यथार्थ सुख सदैव विद्यमान रहता है। मैं उक्त तथ्य को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हूँ। किंतु मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उपयुक्त सिद्धांत हैं, किंतु, प्रत्येक स्थिति में कम-से-कम आपात दृष्टि से यह सर्वथा अनुचित भी नहीं है।"[2]

किंतु, इच्छा की उत्पत्ति एवं स्वरूप के इस विश्लेषण के विपरीत, सुखवादियों का विचार है कि एक अयथार्थ, अविद्यमान सुख का प्रत्यय ही, इच्छा का अनिवार्य कारण होता है।[3] इस विचार को स्वीकार करने में मूर अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। एक अयथार्थ सुख हमारे प्रयासों का अनिवार्य प्रेरक न तो होता है और न ही सदैव हो सकता है। विपरीततः सफलता की प्रत्याशा से संबद्ध यथार्थ सुख ही किन्हीं अर्थों में हमारी क्रियाओं एवं गतिविधियों का निर्धारक हो सकता है।

मूर ने सुखवाद में विद्यमान दोष को 'प्रकृतिवादी दोष' कहा है और उससे उनका तात्पर्य एक ऐसे दोष से है, जिसमें 'मूल्य' को किसी सत् की प्राकृतिक विशिष्टता से एकीकृत कर दिया जाता है। उनके विचार में, जिसे हम नैतिक अर्थ में 'शुभ' एवं 'मूल्य' की संज्ञा देते हैं, उसका इस रूप में प्रस्तुतीकरण उचित नहीं है।

---

1. 'Because'.
2. "My theory is that it enters in this way. The idea of drinking causes a feeling of pleasure in my mind which helps to produce that state of incipient activity, which is called desire. It is, therefore, because of a pleasure which I already have-the pleasure excited by a mere idea that I desire the wine, which I have not. And I am ready to admit that a pleasure of this kind an actual pleasure is always among the causes of every desire, and of every mental activity whether conscious or subconscious. I am ready to admit this. I say I cannot vouch that it is the ture psychological doctrine, but at all events, it is not prima facie quite absurd"
'Principia Ethica', p. 69.
3. "The idea of pleasure not actual is always necessary to cause desire."
Ibid, p. 70.

सुखवाद में स्वार्थसेविता का पुट

उपर्युक्त दोष के अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक सुखवाद में स्वार्थ की बहुलता का दोष भी विद्यमान है। हार्टमन ने सुखवाद की इस विशेषता का विशेष अध्ययन अपनी पुस्तक 'एथिक्स' में प्रस्तुत किया है। उक्त प्रश्न पर उनके समीक्षात्मक निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं, अतएव वर्तमान संदर्भ में उनका प्रस्तुतीकरण अनिवार्य है।

सुखवाद के अनुसार, मानवीय प्रकृति मूल रूप से वैयक्तिक है और उसका अतिक्रमण किन्हीं भी स्थितियों में संभव नहीं है। जब भी मनुष्य अपनी अहंकेंद्रिक प्रकृति के विपरीत कार्य करता हुआ दिखायी देता है, प्रच्छन्न रूप से उसमें सर्वदा, उसके अपने हित एवं सुरक्षा की भावना ही विद्यमान रहती है। अन्य शब्दों में, मानवीय परार्थवृत्ति मूल रूप से स्वार्थवृत्ति की ही पोषक है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य रूप में उसे स्वीकार किया ही नहीं जा सकता।

निःसंदेह उक्त विचार में पर्याप्त तथ्य है। अहं केंद्रिकता मानवीय-प्रकृति की एक अपूर्व और स्थायी विशेषता है। किंतु उसकी प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन इस तथ्य को भी स्थापित करता है कि परार्थवृत्ति उसके जीवन में उतनी ही महत्वपूर्ण एवं मौलिक है, जितनी कि स्वार्थवृत्ति। इसके अतिरिक्त दोनों वृत्तियाँ परस्पर अभिन्न रूप से संबद्ध हैं और उनमें से एक की भी अवज्ञा करना, उसकी मूल प्रकृति के साथ अन्याय करना होगा। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट हो चुका है, हाब्ज में तथा बहुत सीमा तक बेंथम तथा मिल के विचारों में भी, मानव की मूल प्रकृति का अनुचित प्रस्तुतीकरण ही प्राप्त होता है। उन सभी ने, परार्थवृत्ति को अंहकेंद्रिक वृत्ति के पोषक तत्व के रूप में गौण स्थान प्रदान किया है।

मानवीय प्रकृति के, इस स्वरूप को अनुचित ठहराते हुए तथा उसमें कुछ संशोधन का सुझाव देते हुए हार्टमन कहते हैं कि मानव की अहंकेंद्रिक-चेतना सैद्धांतिक रूप से एक 'आविष्कृत तथ्य'[1] मात्र है तथा यथार्थ जीवन में उसके अनुरूप कोई तथ्य दृष्टिगत नहीं होता। वस्तुतः मानव जीवन के इन दोनों पक्षों में एक 'मूल संबद्धता'[2] है और इनको पृथक करना किसी भी स्थिति में वांछनीय नहीं।

द्विपक्षीय संबद्धता परिभाषित

हार्टमन ने मानवीय व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों की संबद्धता के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस अन्योन्य संबद्धता को उन्होंने ज्ञान-मीमांसीय क्षेत्र में स्वीकृत विषयी-विषय[3] संबद्धता से भी अधिक मूल संबद्धता के रूप में प्रस्तुत किया है। मानवीय व्यक्तित्व की उक्त द्विपक्षीय संबद्धता विषयी-

---

1. Artifact.
2. Elemental interwoveness.
3. Subject-object correlativity.

विषय संबद्धता से कई कारणों से भिन्न है। सर्वप्रथम, उसका अस्तित्व 'निम्न संबंधात्मक स्तर'[1] पर है, जहाँ पर भेदों का प्रथक्करण की प्रक्रिया का स्पष्ट प्रारंभ नहीं हुआ है। किंतु, 'संबंधात्मक स्तर'[2] पर भेदों का पार्थक्य इतना स्पष्ट हो जाता है कि वियोजित तत्व निरंतर संघर्ष में आने लगते हैं तथा उनके मध्य स्थायी सामंजस्य की स्थापना करना कठिन हो जाता है। इस संबद्धता की द्वितीय विशेषता अपूर्व है। इसमें सम्मिलित तत्व अपनी मूल प्रकृति में समान होने के कारण उनके मध्य आदान-प्रदान संपूर्ण पारदर्शिता के साथ संभव हो सकता हैं अन्य शब्दों में, दोनों ही संबद्ध इकाइयाँ मानवीय इकाइयाँ हैं। 'अस्मत्' और 'युष्मत्'[3] दोनों ही शब्द मानवीय इकाइयों को सूचित करते हैं, जिनके मध्य उक्त संबंध की कल्पना की जाती है। इस विशिष्ट, तरल, विशुद्ध संबद्धता को हार्टमन 'अन्योन्य-वैयक्तिक संबद्धता'[4] कहते हैं। अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं।

"अस्मत् और युष्मत् का मूल तथ्य मनुष्यों को पृथक् तथा उसी क्षण संयुक्त भी करता है। ऐक्य एवं पार्थक्य दोनों सह-संबंधी हैं। किंतु उनकी संबद्धता ज्ञान-मीमांसीय ज्ञाता-ज्ञेय संबंधी संबद्धता से भिन्न है। दोनों इकाइयाँ, ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों ही हैं। जिस प्रकार मनुष्य कार्य करता है, वस्तुएँ कभी कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार मनुष्य के प्रति मनुष्य ही कार्य करता है, चाहे मध्यस्थ कड़ियों का रूप कुछ भी क्यों न हो।"[5]

मानवीय व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों के मध्य कभी भी संपूर्ण संतुलन नहीं रहता। दोनों पक्षों की शक्ति के अनुपात में निरंतर परिवर्तन होता रहता है-कभी एक पक्ष प्रबल हो जाता है, कभी दूसरा पक्ष। जब एक पक्ष प्रबल हो जाता है, द्वितीय पक्ष शक्ति अभिवृद्धि द्वारा उस अतिरिक्तता को नष्ट करना, तथा स्वयं शक्तिशाली होना चाहता है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। अतएव हार्टमन के विचार में कोई भी सिद्धांत जो मानवीय व्यक्तित्व के एक पक्ष को संपूर्ण मान लेता है, और दूसरे की अवज्ञा करता है, निश्चित ही एकांगी है और इसीलिए असंतोषप्रद भी है। ऐसा मत जीवन की विषमता की उपेक्षा करता है तथा उसे अत्यधिक सरल रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे

1. 'Infra' or 'pre-relational'.
2. Relational level.
3. I & thou.
4. 'Inter personal correlativity.'
5. The fundamental phenomenon of 'I and thou' separates at the same time binds men. Unity and separateness are correlatives to one another. But their correlation is different from the epistemological correlation of subject and object. Both are subject and both are object. As only a man acts and never a personal thing, so it is only a man towards whom one acts, whatever the immediate links may be." Ethics , p. 126.

सिद्धांत के अंतर्गत, जीवन के तथ्यों के साथ न्याय की आशा करना व्यर्थ है। अपने मत की पुष्टि में तथा सुखवाद के खंडन में हार्टमन कहते हैं :

"अपने शैशव काल से ही मनुष्य मानवीय व्यक्तित्वों के संदर्भ में ही अवस्थित रहता है, उसी में वह विकसित होता है तथा उसी में वह अपनी नैतिक चेतना का विकास, सृजन एवं निर्माण करता है। असमत् और युष्मत् की इस प्राकृतिक संबद्धता को विश्रृंखलित नहीं करना है। उन दोनों का एकत्व कितना ही मुश्किल क्यों न हो, किंतु वह ही प्रत्येक 'वाद' का अनिवार्य प्रारंभिक बिंदु हो सकता है।"[1]

अहं केंद्रिकता को, जीवन के तथ्यों के यथार्थ निरूपण के रूप में अस्वीकार करते हुए वे पुनः कहते हैं :

"अपने पृथक अस्तित्व की अनुभूति, सैद्धांतिक आविष्कृत तथ्य मात्र है। नैतिक सत्ता को उसका बोध नहीं है और उस पर आधारित प्रत्येक अंह केंद्रिक मत भी उतना ही अयथार्थ है तथा उससे संबद्ध जितनी भी अनाक्राम्य कठिनाइयाँ हैं वे भी उतनी ही आविष्कृत हैं, जितनी विशुद्ध परार्थवाद से संबद्ध कठिनाइयाँ।"[2]

'अस्मत् एवं युष्मत्' के यथार्थ पारस्परिक संबंध की व्याख्या करते हुए ब्रैडले भी कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं :

"किसी अन्य का व्यक्तित्व, मेरे लिए साधन स्वरूप नहीं अपितु वह हमारे व्यक्तित्व के सारतत्व में विद्यमान तत्व है और यह सारतत्व जो केवल मेरा नहीं वरन् मुझे, उस व्यक्ति को और अन्य सभी व्यक्तित्वों को अपने में सम्मिलित तथा सब का अतिक्रमण करने वाला तत्व है; सभी से श्रेष्ठ है, और सभी के लिए उससे कहीं अधिक विशेष अर्थों में-जिस अर्थ में समग्र सावयविक इकाई अपने में समाविष्ट तत्वों के लिए नियम प्रस्तुत करती है, नियम प्रस्तुत करता है। और यही यथार्थ एवं मूर्त सामान्य, उस नैतिकता को सैद्धांतिक स्तर पर भी संभव तथा तथ्यात्मक स्तर पर यथार्थ बनाता है। इसी तत्व को अंधतः आधुनिक उपयोगितावाद स्वयं ढूँढ़ रहा है, किंतु जिसे प्राप्त करना उसके लिए तब तक संभव नहीं, जब

---

1. "From infancy a human being stands with in the context of human personalities, grows into it, and in it develops and builds up his moral conciousness. The elemental interwoveness of the 'I' and 'thou' is not to be disintegrated. Their unity-however enigmatic-can constitute the only starting point of theory."
2. "The isolated consiousness of oneself is a theoritical artifact. Ethical reality does not know of it and every egoistic theory which is based upon it is equally a forced abstranction. All the insurmountable difficulties, they are just as much man ufactured as those of an isolated altruism." Ibid, p. 126

तक वह उद्देश्य की सुखवादिता का तथा उस मनोविज्ञान विषयक धरातल का- जो कल्पित, अयथार्थ, अनालोचनात्मक तात्विक प्रत्ययों पर आधारित है, संपूर्णतः परित्याग न कर दे।"[1]

उपर्युक्त समीक्षात्मक निष्कर्ष द्वारा उन सभी मतों का खंडन हो जाता है, जिनके अनुसार मानवीय प्रकृति मूल रूप से अहं केंद्रिक है। इस प्रश्न पर हार्टमन के विचार अत्यधिक संतुलित हैं। जिस मत का वे खंडन करते हैं, उसकी विशेषताओं का उन्हें पर्याप्त बोध है और उसके प्रति उनमें समुचित आदर भाव है। अतएव सुखवाद की समीक्षा में, वे उसमें विद्यमान अहं-केंद्रिकता के महत्व पर भी प्रकाश डालते हैं।

अहं केंद्रिकता का महत्व : निमित्त एवं अंतिम मूल्यों का विभेद

जीवन के तथ्यों के निरूपण में अंह केंद्रिकता का एक विशेष स्थान है। इस संबंध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए व कहते हैं :

"वह उस सिद्धांत की एकांगिता में सुधार प्रस्तुत करता है, जो जीवन परार्थवादी पक्ष को ही अधिक महत्व देता है। समस्त परार्थकेंद्रित भावनाएँ एक विशेष अर्थ में मानव की सहज अहं-केंद्रिकता के अनिवार्य संदर्भ को स्वीकार करती हैं। पूर्व व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर ही अन्य के अहं में सहानुभूतिपूर्ण प्रवेश संभव है।"[2]

उक्त पंक्तियाँ स्पष्टतः जीवन में अंह केंद्रिकता के महत्व का प्रतिपादन करती हैं। परार्थमयी भावनाएँ अनिवार्यतः स्वार्थमयी भावनाओं से एक विशिष्ट अर्थ में पुष्ट होती हैं। उनके अभाव में वह धरातल ही विलुप्त हो जायेगा जिस पर परार्थमयी भावनाएँ आधारित हैं; इसीलिए, समुचित दृष्टिकोण के निर्माण में

---

1. 'The others are not mere means to me but are involved in my essence; and this essence of myself; which is not only mine but embraces and stands above both me and this man and the other man, is superior to, and gives a law to us all, in a higher sense than the organism as a whole gives a law to the members. And this concrete and real universal makes the morality, which does exist, possible in theory as well as real in fact. It is this which modern utilitarianism is blindly groping after, but it will not find it till it gives up the hedonism of its end and the basis of its psychology which stands upon uncriticised, violent and unreal metaphysical abstractions."

Ethical Studies, p. 116.

2. "It serves as a corrective to the doctrine which over emphasizes the other aspect of life, viz, altruistic nature of man. All altruistic feelings presup pose in an important sense a reference to the innate egoism of man. All sympathetic participation in the life of the other ego is possible only on a prior self experience."

Ethics, p. 128.

उनकी अवज्ञा नहीं की जा सकती। अस्तु स्वार्थ सेविता का जीवन में निमित्त मूल्य है और उसे इस रूप में ही स्वीकार करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त स्वार्थसेविता का एक आंतरिक मूल्य भी है। आत्म-सुरक्षा की मूल भावना के आधार पर ही जीवन का अस्तित्व तथा उसका पोषण संभव है। इस तथ्य का समुचित प्रस्तुतीकरण विकासवादी सिद्धांत के अंतर्गत मिलता है, किंतु, जीवन के अस्तित्व एवं पोषण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी मूल्यों के क्रम में उसका स्थान निम्न ही है। अतएव, मौलिक एवं आधारभूत होते हुए भी परम शुभ के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन में उसका निश्चित मूल्य एवं स्थान है, किंतु यथार्थ होने के नाते सद्‌गुण[1] का, सदाचार का, स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। वह भवितव्य में सिद्ध होने वाली, नूतन उच्च संभावनाओं की आधारशिला हो सकती है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं प्लेटो के अनुसार यह माध्यमिक मूल्यों की मध्यस्थता से, परम शुभ के अवतरण के लिए धरातल मात्र ही हो सकती है। इसलिए, जीवन में उसका एक निश्चित मूल्य है, पर वह परम शुभ के रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती। वैयक्तिक सुखवाद की और कुछ सीमा तक सामान्य सुखवाद की यही प्रमुख भ्रांति थी। वर्तमान संदर्भ में, अपने विचारों का प्रस्तुतीकरण करते हुए हार्टमन कहते हैं :

"अपने में अहं-केंद्रिकता शुभ है, किंतु, वह 'परम शुभ' कदापि नहीं। यदि प्रकृति ने उसे जीवित इकाइयों का सामान्य नियम न बना दिया होता तो उसे प्रथम निम्नतम 'धर्म' के रूप में स्वीकार किया जा सकता था। किंतु, प्राकृतिक नियम को आदेश में तथा अनिवार्यता को धर्म में परिवर्तित करने का कोई भी कारण नहीं। यह एक ऐसा मूल्य है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति ने स्वयं व्यवस्था की है। किंतु, इस कारण वह मूल्य कहलाने का अपना अधिकार समाप्त नहीं कर देती।"[2]

निष्कर्षतः वे कहते हैं कि प्रत्येक सबल व्यक्तित्व के लिए एक स्वस्थ अहंकेद्रिकता अनिवार्य समझी जानी चाहिये, जिस प्रकार हम शारीरिक स्वास्थ्य को उसके लिए अनिवार्य समझते हैं।[3]

---

1. Virtue. इस संदर्भ में सदवृत्ति एवं 'धर्म' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
2. "In itself egoism is something good, although it is certainly not 'the good'. It might be regarded as the first, the lowest 'virtue', if Nature had not made of it a universal law of the living organism. There is no reason to convert a natural law into a commandment or to make of necessity a virtue. Here is a value, for the realization of which nature has already provided. It does not on that account cease to be a value."
   Ibid, pp. 128-29.
3. "A healthy egoism" is to be appreciated, "as the basis of every strong personality, not otherwise than we appreciate physical health."
   Ibid, p. 129.

इस निम्नतम मूल्य के आधार पर ही मानव क्रमशः उत्तरोत्तर उत्थान की ओर अग्रसर होता है। यद्यपि मानवीय प्रगति के लिए यह सदैव अनिवार्य आधार के रूप में स्वीकृत रहता है, किंतु, विकास की किसी भी स्थिति में इसे 'परम शुभ' का स्थान नहीं दिया जा सकता। इसी तथ्य को उन्होंने अपनी अपूर्व शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है :-

" इसे मूल्यों के परस्पर संबंध के संदर्भ में 'उच्चतम पर निम्न की आध्यात्मिक निर्भरता ही कहेंगे' जो वस्तुतः निम्नतम पर उच्च की यथार्थ अधीनता पर आश्रित है।"

अपने विचार का स्पष्टीकरण करते हुए वे पुनः कहते हैं : "उच्च पर निम्न का आश्रित होना विशुद्ध रूप से मूल्याश्रित है और वह सर्वत्र निम्न पर उच्च की यथार्थ निर्भरता के रूप में व्यंजित होती है।"[1]

अतएव, उक्त युक्तियों के आधार पर, सुखवाद के मूल निष्कर्ष का-कि अहं-केंद्रिकता ही मानवीय मूल्यों की प्रमुख धुरी है, अनौचित्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है और हम यह सोचने के लिए विवश हो जाते हैं कि उक्त आधार पर किस प्रकार मानवीय नैतिक चेतना का समुचित निरूपण संभव है।

इसके पश्चात् हार्टमन, उपयोगितावाद के खंडन के लिए भी कुछ विशिष्ट युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। वे इस प्रकार उक्त वाद के संबंध में प्रश्न करते हैं : क्या यथार्थ में 'उपयोगिता' को हम एक नैतिक प्रत्यय के रूप में स्वीकार कर सकते हैं? क्या परिणाममूलक आचार नीति संभव है? क्या वस्तुतः व्यवहार के मूल्य निर्धारण में 'प्रेरणा' की संपूर्ण अवज्ञा संभव है? क्या मानवीय आचार की नैतिकता के निर्धारण में उसका कोई योग नहीं? ये प्रश्न महत्वपूर्ण हैं और इनके उचित उत्तर पर ही नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या संभव है।

नैतिक कोटि[2] के रूप में 'उपयोगिता'

उपयोगिता को प्रमुख नैतिक कोटि के रूप में स्वीकार करना हार्टमन को मान्य नहीं। इस प्रत्यय के समुचित विश्लेषण के उपरांत वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह एक सापेक्ष प्रत्यय है जिसके अर्थ का यथार्थ अनावरण उसी स्थिति में संभव है, जब हम उसे आंतरिक मूल्य संबंधी किसी प्रत्यय से संबद्ध कर दें। 'उपयोगिता' शब्द का प्रयोग, उस वस्तु की विशेषता को व्यक्त करने के लिए किया

1. "Technically it may be expressed as 'the idealistic depindence in the relation of values of that of the lower upon the higher-which rests upon the actual dependence of the higher upon the lower."...."The dependence of the higher is purely axiological. It reveals itself everywhere in the actual dependence of the higher upon the lower."

Ibid, p. 130.

2. Category. पदार्थ तथा प्रवर्ग शब्दों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

जाता है, जो किसी वस्तु-विशेष अथवा लक्ष्य-विशेष की प्राप्ति में सहायक हो। अन्य शब्दों में, जो मानवीय चेतना द्वारा स्वीकृत किसी 'शुभ' की उपलब्धि हेतु साधन रूप में महत्व रखती हो। यह शुभ स्वयं किसी उच्च शुभ के लिए साधन रूप में महत्वपूर्ण हो सकता है। इस प्रकार उच्च, उच्चतर की मध्यम स्थितियों द्वारा मूल्यों के जगत में हम 'उच्चतम शुभ' तक पहुँच सकते हैं। यह उच्चतम शुभ स्वतः साध्य रूप में महत्वपूर्ण है और किसी उच्चतर शुभ के लिए साधन नहीं बनता। इसे ही नैतिक चिंतन के अंतर्गत 'परम शुभ' अथवा 'परम लक्ष्य' की संज्ञा दी जाती है। इसे ही प्लेटो, कांट तथा अन्य दार्शनिकों ने, मूल्यों के शीर्ष के रूप में स्वीकार किया है और स्पष्ट है कि व्यावहारिक स्तर पर व्यावहारिक कारणों से स्वीकृत शुभ से इसके एकत्व को स्थापित नहीं किया जा सकता।

हार्टमन के अनुसार उपयोगितावाद ने इस शीर्ष मूल्य के महत्व को स्वीकार नहीं किया। यही उसकी सबसे बड़ी भूल है। उनकी दृष्टि में 'उपयोगितावाद की रंगविहीन धूमिलता'[1] में सभी कुछ विलुप्त प्रतीत होता है। 'शुभ एवं उपयोगी की भ्रांति[2] पर उपयोगितावादी तर्क आधारित है। अपने विचारों की पुष्टि में वे कहते हैं : "उपयोगिता एक मध्यस्थता करने वाले मूल्य का स्पष्ट प्रत्यय है; एक आंतरिक मूल्य का अनिवार्य सहवर्ती है। वह एक ऐसा नियम है जो मौलिक एवं यथोचित मूल्यों के जगत से बहिष्कृत है।"[3]

वे पुनः कहते है : "उपयोगिता व्यवहार की एक सामान्य कोटि है और साधन-साध्य के परस्पर संबंध को व्यक्त करती है। अतएव उपयोगिता को उपयोगितावाद में परिवर्तित करना अनुचित है।"[4]

यदि उक्त वाद केवल इतना ही है, तब सुयोग्य समीक्षक के विचारों से हम पूर्णतः सहमत हैं। किंतु यथार्थ में उक्त वाद का यथोचित प्रस्तुतीकरण नहीं है। उपयोगितावाद ने जीवन के परम मूल्य की व्याख्या प्रस्तुत की है, उसने सामान्य सुख को परम साध्य के रूप में स्वीकार किया है, इसमें किसी प्रकार का संदेह संभव नहीं। इस प्रश्न पर हार्टमन की अपेक्षा ब्रैडले के विचार अधिक उचित प्रतीत होते हैं।

परिणाममूलक आचार-नीति

एक अन्य प्रश्न पर वर्तमान संदर्भ में विचार अत्यावश्यक है। मानवीय

---

1. "In the colourless grey of utility".
2. "Banal confusion of the good and the useful".
3. "utility is the exact concept of a mediating value, the necessary correlate of a self value. It is a principle excluded from the realm of values proper and primal."

   Ethics, 141.
4. "Utility" is the universal category of practice the form of the relation between 'means' and 'ends'. Therefore, it is absurd to transform utility into utilitarianism.

   Ibid, p. 141.

व्यवहार के मूल्य निर्धारण में प्रेरणा एवं परिमाण में से कौन-सा तत्व अधिक महत्वपूर्ण है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण ही नहीं विवादास्पद भी हैं?

कांट प्रेरणा की विशुद्धता पर विशेष बल देते हैं। उनकी निश्चित धारणा है कि परिणाम के स्वरूप का इस प्रश्न से कोई संबंध नहीं। वस्तुतः परिणाम को महत्व देने से नैतिक जीवन की विशुद्धता के नष्ट होने का भी भय है। अतएव कार्य की प्रवृत्ति की विशुद्धता को बनाये रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक स्थिति में अनिवार्य है। नैतिक व्यवहार मानवीय व्यक्तित्व की सूक्ष्मतम माँगों के अनुरूप आचरण होता है और इसीलिए उसकी अवज्ञा किसी भी स्थिति में, किन्हीं भी कारणों से वांछनीय नहीं।

किंतु नैतिक विचार के क्षेत्र में उपयोगितावादी दृष्टिकोण अनिवार्यतः परिणामवादी आचार-नीति से संबद्ध है। सुख नैतिक व्यवहार का अनिवार्य सहवर्ती है और व्यवहार विशेष की नैतिकता उसी अनुपात में स्वीकार की जाती है, जिसे अनुपात में सुख की प्राप्ति होती है। किंतु, पूर्व पृष्ठों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारी सामान्य नैतिक चेतना मूल्य निर्धारण के इस मानदंड को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं। परिणामों के सुखप्रद होते हुए भी प्रायः हम व्यवहार को अनैतिक घोषित करते हैं। विपरीततः दुःखप्रद परिणामों के बावजूद भी, कार्य नैतिक दृष्टि से उच्च ठहराये जाते हैं। सामान्य नैतिक चेतना द्वारा प्राप्त निर्णय सुखवाद द्वारा स्वीकृत मानदंड के अनुरूप नहीं होते। इसीलिए सिद्धांत की सत्यता के प्रति संदेह होना स्वाभाविक ही है।

तात्विक युक्ति

सुखवाद के विरुद्ध कुछ समीक्षकों द्वारा सुख की तात्विक प्रकृति से संबद्ध विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके आधार पर यह स्थापित करने की चेष्टा की गयी है कि 'सुख' अपनी प्रकृति के कारण, जीवन के परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन के 'आदर्श' को एक समग्र समन्वित निश्चित इकाई होना चाहिये। किंतु, इस दृष्टि से सुख के स्वरूप का यदि हम अध्ययन करें तो वह सदैव एक परिवर्तनीय अस्थायी मनःस्थिति के रूप में ही प्राप्त होता है। अतएव, जीवन के स्थायी लक्ष्य के रूप में उसे स्वीकार करने का अर्थ, जीवन में एक अनंत नित्य नष्ट होते हुए क्रम को आदर्श के रूप में स्वीकार करना होगा जिसमें कोई भी दो सदस्यों के सह-अस्तित्व की एक क्षण के लिए भी कल्पना नहीं की जा सकती। और, उपयोगितावाद जब 'सामान्य सुख' को जीवन के आदर्श के रूप में प्रस्तुत करता है, तब उसका अभिप्राय किस लक्ष्य-विशेष से है, उसकी कल्पना करना और भी असंभव हो जाता है।

उक्त प्रश्न पर अपने विचारों को व्यक्त करते हुए ब्रैडल कहते हैं कि जीवन

का वरणीय लक्ष्य एक सावयविक इकाई अथवा मूर्त सामान्य[1] ही होना चाहिये। किंतु, 'सुख' की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह समग्र इकाई का रूप नहीं ग्रहण कर सकता। वह सर्वदा एक अनादि क्रम रूप इकाई ही रहती है, जिसकी पूर्ति मृत्यु से पूर्व संभव नहीं और मृत्यु के उपरांत यदि पूर्ति संभव भी हो तो उसका कोई विशेष अर्थ एवं प्रयोजन नहीं रहता।

ब्रैडले मूर्त और अमूर्त दो प्रकार के सामान्य को स्वीकार करते हैं। मूर्त सामान्य, अपने में उपस्थित घटकों, में, इस प्रकार सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट रहता है कि वे सभी तत्व सम्मिलित रूप से एक समग्र इकाई का निर्माण करते है। विपरीततः अमूर्त सामान्य अनादि एवं अनंत है, क्योंकि उसके क्रम के प्रवाह का प्रसार दोनों ओर अनंतता की ओर विस्तृत दिखायी देता है। सुख इस द्वितीय प्रकार का अमूर्त, अयथार्थ, कल्पित सामान्य है। सुखवाद द्वारा स्वीकृत 'सामान्य' के विषय में विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"यथार्थ सामान्य, जिसकी अचेतन रूप से वह खोज करता है अनंत है, क्योंकि वह एक ऐसी मूर्त समग्रता है, जो स्वतः अपने में सिद्ध एवं पूर्ण है। किंतु, अयथार्थ सामान्य एवं अनिश्चित क्रम के विशिष्ट अर्थ में अनंत है। वह एक भावी पूर्णता तथा वर्तमान शाश्वत अपूर्णता की माँग को व्यक्त करता है। वह सदैव ससीम है और इसीलिए वह कभी भी अपनी संपूर्णता में अभिव्यक्त नहीं हो पाता। उसका योग संभव नहीं, क्योंकि अंतिम सुख तक पहुँचने पर भी हम पूर्व की भाँति अपने को लक्ष्य के विशेष निकट नहीं पाते।"[2]

ब्रैडले के अनुसार, मानव जीवन संबंधी, इस लक्ष्य के विषय में तीन संभावनाओं की कल्पना की जा सकती है। सर्वप्रथम, सुख को हम वर्तमान की तात्कालिकता से संबद्ध मान सकते हैं; सुख के इस प्रत्यय के साथ, जीवन संबंधी एक ऐसे स्थायी लक्ष्य की कल्पना, जो उत्तरोत्तर विभिन्न प्रयासों की मध्यस्थता से अभिव्यक्त होता जाता है, सर्वदा के लिए विलुप्त हो जाती है। इस प्रत्यय के अनुसार उक्त आदर्श अनंत असंबद्ध इकाइयों में संपूर्णतः वितरित हो जाता है। बोसांक्वे की भाषा में जीवन विषयक आदर्श अनंत लघु परम में विभक्त हो जाता[3] है, जिसका

1. Concrete universal.
2 "The true universal which unconsciously he seeks is infinite for it is a concrete whole concluded within itself and complete; but the false universal is infinite in the sense of a process ad indefinitum. It is a demand for a would be completeness, with everlasting present incompleteness. It is always finite and so never is realized. The sum is never finished, when the last pleasure is reached we stand no nearer our end than at first".

Ethical Studies, p. 97.

3. "Pulverized into an infinity of tiny absolutes". 'Logic', pp. 279-80.

तात्पर्य है कि लक्ष्य विषयक ये इकाइयाँ आंतरिक संबद्धता से वियुक्त हैं और इसीलिए इनमें कहीं भी किसी प्रकार का आंतरिक सामंजस्य एवं एकता दृष्टिगत नहीं होती।

द्वितीय रूप में, सुख को एक ऐसी इकाई के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसका वास पृथक आणविक इकाइयों में न होकर सुख के आणविक है, क्रम में होता है। किंतु, हम पूर्व खंड में ही स्पष्ट देख चुके हैं कि इस प्रकार का क्रम मृत्यु के पूर्व योज्य नहीं और मृत्योपरांत यदि उसका योग संभव भी हो तो व्यक्ति के लिए उसका कोई महत्व नहीं। अपनी आजीवन अर्जित की हुई पूँजी के उपभोग के लिए और उससे सुख प्राप्ति करने के लिए व्यक्ति स्वयं जीवित नहीं, तो उसके लिए उस योग का क्या महत्व हो सकता है? मृत्यु के पूर्व तो उसे अपना समस्त जीवन मृगतृष्णा की भाँति ही प्रतीत होता है और अंत समय तो उस भ्रम से मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं बचता।

तृतीय प्रकार से हम सुख को एक ऐसे विशिष्ट लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, जिसके लिए नितांत आकस्मिक एवं परोक्ष रूप से ही हम प्रयत्नशील हो सकते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए अपरोक्ष रूप में हम जीवन के सभी लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को स्वीकार कर सकते हैं। वर्तमान संभावना पर अपने विचार को व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं : "एक ऐसे लक्ष्य को स्वीकार करना जिसकी ओर हमें दृष्टि ही नहीं डालनी है, कुछ विचित्र प्रतीत होता है। किंतु, यदि उसकी प्राप्ति के विषय में हम निश्चित होते तो इसकी हमें लेशमात्र भी चिंता न होती; उसे हम प्राप्त कर लेंगे, इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।"[1]

अतएव, उपर्युक्त दी हुई तीनों संभावनाओं के विश्लेषण के अनुसार 'सुख' को किसी भी अर्थ में जीवन के लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव, सुखवाद का खंडन स्वयमेव ही हो जाता है।

साधन-साध्य की एकता का आकस्मिक बाह्य रूप

सुखवाद के अंतर्गत, साधन-साध्य के परस्पर संबंध के आकस्मिक रूप से संबद्ध विचार सुखवाद के विरुद्ध तथा समीक्षकों के पक्ष में हैं। इस सिद्धांत के अनुसार दोनों का परस्पर संबंध केवल 'राय की बात है'[2] इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। साधन-साध्य के मध्य किसी प्रकार का आंतरिक सावयविक-संबंध न होने के कारण साधन का इसमें अपना कोई महत्व एवं स्थान नहीं है। यही कारण है कि मानवीय संकल्प के समक्ष किसी भी साधन के प्रयोग का कोई महत्व नहीं। प्रत्येक साधन उचित है और उसका औचित्य परिस्थिति विशेष की अनुरूपता और

---

1. "It seems strange to have a mark one must not look at but I should not care for that if I were sure to hit. Yet this is what I cannot tell if I shall do. Ethical Studies, p. 100.
2. "Matter of opinion". Ibid, p. 109.

साधन विशेष की सुलभता पर निर्भर करता है। विभिन्न साधनों के मध्य, हम किस विशिष्ट साधन का प्रयोग करेंगे और क्यों करेंगे इसका निर्णय केवल व्यक्तिगत सुविधा के आधार पर ही होता है। अभीष्ट साधन वह है, जो परिस्थिति एवं स्थान-विशेष में व्यक्ति विशेष के लिए अत्यधिक उपयोगी है। अतएव, मानवीय संकल्प के लिए नैतिक-पंचाग[1] किसी प्रकार की अनिवार्य बाध्यता नहीं रखता। उसका स्वरूप आनुभविक है और उसमें वर्णित नियम, अनुभव के आधार पर एकत्र व्यवहारोपयोगी सामान्य सिद्धांत ही हैं, जिनके अनुसरण द्वारा जीवन सफलतापूर्वक व्यतीत किया जा सकता है। किंतु वे अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत नहीं और मानवीय हित की दृष्टि से उनमें सुविधानुसार संशोधन भी किया जा सकता है। अतएव विशिष्ट स्थितियों में और विशिष्ट कारणों से वे अतिक्रमणीय भी हैं।

सर्वप्रथम, कांट के दर्शन में नितांत निर्भीकता के साथ हमें नैतिक नियम के अपवादरहित, निरपेक्ष रूप की व्याख्या मिलती है। मानवीय चेतना में उपस्थित 'नैतिक नियम' मानवीय संकल्प को अनुसरण हेतु निरपेक्ष आदेश देता है। सुखवाद ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार नैतिक चेतना के आदेश 'मात्र नियम हैं'[2] और... "नियम का अपवाद सदैव हो सकता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, न तो वे सिद्धांत हैं और न ही वे सिद्धांत का रूप ग्रहण कर सकते हैं। मैं उनका दास नहीं अपितु वे मेरे दास हैं।"[3]

निष्कर्षतः ब्रैडले कहते हैं कि इस सिद्धांत के अंतर्गत विशुद्ध नैतिकता नष्ट हो जाती है। इसमें तो केवल व्यावहारिक कर्तव्य मीमांसा ही प्राप्त होती है और इसीलिए जीवन के नैतिक तथ्यों के निरूपण में यह सिद्धांत सर्वथा असफल है।

सुख में प्रकार-भेद की स्वीकृति का परिणाम

सुखों में गुणात्मक भेद की स्वीकृति विशेष महत्त्व रखती है। इस संबंध में एक प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्या सुखवाद की परिधि के अंतर्गत, प्रकारात्मक-भेद की स्वीकृति संभव है? सुविज्ञ समीक्षक इस प्रश्न पर भिन्न मत रखते हैं। इनमें से कुछ के अनुसार, प्रकारात्मक भेद की स्वीकृति अनिवार्यतः हमें सुखवाद की परिधि से बाहर ले जाती है। यदि एक विशिष्ट प्रकार का सुख, सुख के परिणाम से पृथक किसी अन्य कारण से मूल्यवान है, तो उसके मूल्य का अंतिम निर्णायक सुख से पृथक वह अन्य विशेषता ही हो सकती है। किंतु, सुख के प्रतिमान के आधार पर मूल्य का अंतिम निर्णायक 'सुख'-सुख का परिणाम ही होना चाहिये। इस दृष्टि से समीक्षकों के मत में मिल की अपेक्षा, बेंथम के विचार अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन

1. Moral almanack.
2. Mere rules.
3. "Its precepts are 'only rules' and rules may always have exceptions, they are not and so far as I see, they can not be made out to be laws. I am not their servant but they are mine.' Ethical Studies, p. 109.

में अधिक संगत हैं। उनमें उस प्रकार का अंतर्विरोध नहीं जो उक्त प्रकारात्मक भेद की स्वीकृति के करण, 'मिल' में मिलता है। उक्त प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए हार्टमन कहते हैं :-

"यदि जीवन में एक भी ऐसा सुख है, जो नैतिक मूल्य के विपरीत अथवा संपूर्णतः मूल्यविहीन मूल्य का मानदंड सुख कदापि नहीं। उसमें विद्यमान कोई अन्य विशिष्टता के मूल्य का निर्धारक हो सकती है अथवा अंतर्विषय ही उसका मानदंड है। इस प्रकार दमन किये हुये नैतिक मूल्य, मानो आत्मोत्कर्षवाद द्वारा अपने दमन के प्रतिशोध के लिए पुनः सजीव एवं सक्रिय हो उठते हैं।"[1]

आत्मोत्कर्षवाद से हार्टमन का तात्पर्य उस सिद्धांत से है, जो सुख अथवा सामाजिक हित को, जीवन के परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है। वे आत्मोत्कर्षवाद के इस आधुनिक रूप से सर्वथा असंतुष्ट हैं और प्लेटो तथा अरस्तु द्वारा प्रस्तुत उसके पूर्व रूप को ही उचित मानते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मोत्कर्षवाद का आधुनिक रूप उस फल के समान है, जो बाह्य निरीक्षण से परिपक्व एवं प्रलोभनीय प्रतीत होता है, किंतु यथार्थ में अपरिपक्व और तत्वतः शून्य है।

सुखवाद का यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें तो उसमें एक ऐसी आंतरिक शून्यता का आभास मिलेगा जो हमारी मूल्यात्मक चेतना को परिक्षीण करने वाली है। वस्तुतः सुखवादी दृष्टिकोण जीवन को मूल्य एवं महत्व से पूर्णतः वियुक्त करनेवाला दृष्टिकोण है और इसीलिए प्रकृति एवं परिणाम दोनों की दृष्टि से अनुचित है। कुछ इसी आशय के विचार हार्टमन ने व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं :-

"उक्त दृष्टिकोण वस्तुतः मूल्य-विषयक बोध को परिक्षणी एवं अवरुद्ध करने वाला है तथा मूल्य की दृष्टि से अपने परम रूप में वह विशुद्ध शून्यवाद ही है। वह मूल्यों के जगत् से संपूर्णतः मन को हटाने वाला और अंततः आनंद से भी दूर हटाने वाला है। इस प्रकार अंत में वह आत्मोत्कर्षवाद को ही गलत समझने का तथा स्वयं अपने उन्मूलन का कारण होता है।"[2]

उक्त प्रश्न पर ब्रैडले के विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। मिल के दर्शन में सुखों के संदर्भ में 'उच्च' शब्द 'वांछनीय' के अर्थ में प्रयुक्त होता है और इस स्वीकृति के परिणामस्वरूप सुखवाद के प्रमुख विचार का सम्पूर्ण समर्पण ही हो जाता है।

1. "If there be happiness that has no ethical value, or is even contrary to all value, then happiness itself is not the standard but something else in it, its quality, its contents. The suppressed moral values revive, they gain dominance, just as if they avenged themselves upon eudaemonism because of its suppression of them." Ethics, p. 144.
2. "It is rather a cramping and impoverishment of the sense of value; and in its extreme form it is, as regards values, pure nihilism. It is a turning away of the mind from the realm of values altogether-and finally even from that of happiness. Thus is leads ultimately to a misunderstanding of eudaemonism itself and to its own obliteration." Ibid, pp. 138-39.

इस प्रश्न पर अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते है :

"यदि परिणाम से पृथक्, निम्न की अपेक्षा उन का चुनाव करना है, तब उस मत का, जो मूल्य के माप को, समस्त चेतन जगत के सुख की अतिरिक्तता पर आश्रित करता है, अंत निश्चित है। आपके इस कथन का कोई अर्थ नहीं कि सुख साध्य रूप हैं, किंतु उनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण हैं। मूल्यांकन एवं तुलना की चर्चा का भी कोई अर्थ नहीं (मिल पृ. 12-17) क्योंकि आपके पास तुलना का कोई माप नहीं, मूल्य निर्धारण का कोई मानदंड नहीं। यदि उच्च सुख का अल्प परिणाम और निम्न सुख का बृहत् परिणाम परस्पर संघर्ष में आते हैं तो आप किस प्रकार दोनों के मध्य चुनाव कर सकेंगे? आपको परिणाम पर ही निर्भर रहना है अन्य किसी पर नहीं। आप परिणाम को अस्वीकार करते हैं, इसलिए आपके लिए निर्णय संभव नहीं। और यदि आप परिणाम के योग को अस्वीकार करते हैं तब आप सुख के अधिकतम परिणाम के सिद्धांत का परित्याग कर देते हैं।"[1]

अपने विचार को एकत्र करते हुए वे पुनः कहते हैं :-

"जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जब तक सुख से भिन्न किसी अन्य तत्व को हम स्वीकार नहीं करते उच्च शब्द का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि संभव है, हम सुख के परिणाम की ओर न भी जायें। किंतु, यदि हम सुख से बाह्य किसी तत्व की ओर जाते हैं, तो हम अधिकतम परिणाम के सिद्धांत का ही समर्पण नहीं करते प्रत्युत हम सुखवाद का ही परित्याग कर देते हैं।"[2]

मूल्य निर्धारण में महत्वपूर्ण, इस बाह्य तत्व को, मिल ने स्वीकार नहीं किया और सुखवाद की परिधि के अंतर्गत यह स्वीकार्य भी नहीं किया। इस तत्व की महत्ता अन्य सिद्धांतों में स्वीकार की गयी है। आगामी अध्याय में विकासवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायेगी।

---

1. "If you are to prefer a higher pleasure to a lower without reference to quantity-then there is an end altogether of the principle which puts the measure in the surplus of pleasure to the whole sentient creation. It is no use saying all pleasures are ends, only some are more ends. It is no use talking of 'estimation' and 'comparision' (Mill, page 12. 17). You have no standard to estimate by no measure to make comparison with. Given a certain small quantity of higher pleasure in collision with a certain large quantity of lower, how can you decide between them ? You must go to quantity or nothing. You decline to go to quantity and hence you can not get any result. But if you refuse to work the sum, you abandon the greatest amount of pleasure principle."

   Ethical Studies, p. 119-120.

2. "Higher, then, as we saw above, has no meaning at all unless we go to something outside pleasure for we may not go to quantity of pleasure. But, if we go outside pleasure, not we give up the greatest amount theory, but we have thrown over hedonism altogether." Ibid, p. 119-120.

अध्याय पाँच

विकासवादी सुखवाद

विकासवादी सुखवाद के प्रमुख प्रवर्तक हैं-हबर्ट स्पेंसर, सैम्युअल अलेक्जेण्डर और लेज़ली स्टीफेन। ये सभी डार्बिन के विकासवादी सिद्धांत से प्रभावित थे और नैतिक क्षेत्र से संबंधित नीति-अनीति के प्रश्न को उन्होंने उसी सिद्धांत के मूल प्रत्ययों के आधार पर सुलझाने की चेष्टा की। डार्विन वैज्ञानिक थे और उनकी प्रमुख रुचि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति एवं विकास के प्रश्न पर आधारित थी। उक्त विषय के अध्ययन द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राकृतिक शक्तियाँ, योग, सामर्थ्यवान, वातावरण से समायोजन स्थापित करने में सफल जातियों के संरक्षण तथा दुर्बल शक्तिहीन जातियों के बहिष्करण में संलग्न हैं। जिस प्रक्रिया द्वारा यह सब सहज रूप से संभव हो जाता है, उसे उन्होंने 'प्राकृतिक चयन'[1] की संज्ञा दी है। इस प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया द्वारा वही जातियाँ अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल रहीं, जिन्हें वातावरण से समायोजन स्थापित करने में सफलता मिली और जो वैसा करने में असमर्थ रहीं, वे प्रकृति की सहज प्रक्रिया द्वारा स्वतः नष्ट हो गयीं।

विकासवादी सिद्धांत ने प्रक्रिया में विद्यमान जातियों के जीवन के संघर्षमय पक्ष को ही यथार्थ और अंतिम रूप में स्वीकार कर लिया और इसीलिए मानव के नैतिक जीवन के निरूपण में भी उन्होंने इसी रूप को प्राथमिकता दी। प्रकृति का जो चित्र उनके समक्ष महत्त्वपूर्ण था, वह उसका संघर्षरत 'रक्तसिंचित'[2] रूप था; और मानव का नैतिक जीवन उस सामान्य प्रकृति के समक्ष अपवाद रूप न था। प्रकृति के अन्य पक्षों की भाँति वह भी उक्त सामान्य प्राकृतिक नियम से संपूर्णतः नियंत्रित था। मानव के नैतिक जीवन की व्याख्या में किसी अन्य श्रेष्ठ नियम की उपस्थिति को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वातावरण से समायोजन स्थापित करने की और अपने जैविक अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने की इस सामान्य वृत्ति को मानव-जीवन के लिए भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण मान लिया और यही वृत्ति मानवीय वृत्तियों एवं व्यवहार की नैतिकता के अंतिम निर्धारक के रूप में भी स्थापित हो गयी। अन्य शब्दों में, उनके मतानुसार, वे सभी आचरण नैतिक थे, जो

---

1. Natural selection.
2. Nature red in tooth and claw.

उक्त जैविक माँग के अनुरूप थे। विपरीततः वे आचरण जो उस माँग की अवज्ञा करने वाले अथवा उसको पूरा करने में असमर्थ थे, वे मूलतः अनैतिक थे।

इस सिद्धांत के अनुसार मानवीय व्यवहार बाह्य उत्तेजना के अनुरूप यंत्रवत् व्यवहार है और पशु स्तरीय जैविक प्रतिक्रियाओं से केवल विषमता में ही भिन्न है। स्पेंसर के अनुसार समस्त प्राकृतिक जगत् में सभी स्तरों पर एक अपूर्व तारतम्यता दृष्टिगत होती है। अतएव, मानवीय व्यवहार, पशुस्तरीय जैविक व्यवहार से, अपनी मूल प्रकृति में भिन्न नहीं है। वह विकास की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त प्रकृति का सर्वाधिक नवीन और विकसित रूप है और इसी कारण अत्यधिक विषम और कुछ अर्थों में उत्कृत्ट भी है। नीति-विज्ञान प्रकृति के इसी नवीनतम रूप की-उसकी आंतरिक प्रकृति एवं उसमें सन्निहित उद्देश्य की मीमांसा करना चाहता है। 'वह' अन्य शब्दों में, "सामान्य व्यवहार के उस रूप से संबद्ध है, जिसे वह विकास की अंतिम स्थितियों में प्राप्त करता है और उस रूप में प्रतिनिधित्व प्रमुख रूप से मानव जाति ही करती है।"[1]

इसमें कोई संदेह नहीं कि जैविक स्तर पर प्रकृति का समस्त व्यवहार वातावरण से समायोजन स्थापित करने की मूल वृत्ति द्वारा ही नियंत्रित होता है। यही उसका यथार्थ और उसका आदर्श रूप भी है। मानव व्यवहार भी, उसी मूल वृत्ति के अधीन होने के कारण, उसके भी यथार्थ और आदर्श दोनों ही रूपों को, उक्त वृत्ति पूर्णतः परिभाषित करती है। जीवन की परिभाषा करते हुए स्पेंसर कहते हैं 'वह आंतरिक संबंधों का बाह्य संबंधों से निरंतर समायोजन है' और वह 'सरूपता से विरूपता की ओर अग्रसर होता है।'[2]

आमूल प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के समर्थन के उपरांत, स्पेंसर सुखवाद के समर्थन की ओर प्रवृत्त होते हैं। उनका तर्क, उनके विचारों को एक नवीन दिशा प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है। प्राकृतिक आचार-नीति की सबसे बड़ी चुनौती निराशावादी दृष्टिकोण में मिलती है। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार जीवन स्वतः निर्मूल निःसार है, और उसे बनाये रखने की वृत्ति निरर्थक है। निराशावादी व्यक्ति, अपने अस्तित्व को बनाये रखने की उत्कट लालसा से नियंत्रित नहीं होता, उसके संरक्षण के प्रति वह उदासीन रहता है।

अतएव, वर्तमान संदर्भ में, प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के समर्थक के समक्ष, सर्वाधिक महत्त्व रखने वाला प्रश्न हैः क्या यथार्थ में जीवन मूल्यहीन है? क्या उसके अस्तित्व को बनाये रखने की अदम्य लालसा निरर्थक एवं अवांछनीय है?

---

1. "It deals with that with form which universal conduct takes during the last stages of its evolution and this stage is represented by the human race."
Rogers, A Short History of Ethics. p, 262.
2. It is "a continuous adjustment of internal relations to external relations" and this tends from "homogeneity to heterogenity."

प्रश्न, अन्य शब्दों में, यह है कि यदि उक्त नैराश्यपूर्ण भाव ही जीवन के प्रति समुचित दृष्टिकोण को व्यक्त करने वाला है, तो प्रकृतिवादी आचार-नीति में निहित जीवन में आस्था एवं विश्वास का समर्थन किस प्रकार संभव है?

उक्त प्रश्न पर विचार करते हुए विकासवादी दृष्टिकोण के समर्थक कहते हैं कि आशावादी एवं निराशवादी, दोनों दृष्टिकोणों में कोई मूल विरोध नहीं है। निराशावादी दृष्टिकोण समग्र जीवन को निःसार एवं निर्मूल नहीं समझता। आशावादी दृष्टिकोण की भाँति ही वह जीवन में आस्था रखता है। किंतु वह यह भी स्वीकार करता है कि जीवन तभी तक मूल्यवान है, जब तक उसमें दुःख की अपेक्षा सुख का आधिक्य बना रहता है। अतएव, जीवन संपूर्णतः त्याज्य नहीं, वह उसी समय तक वांछनीय है, जब तक उसके द्वारा हमें सुख की सतत् प्राप्ति होती रहती है। प्राकृतिक आचार-नीति को उसके समर्थकों द्वारा जो यह नवीन मोड़ दिया गया है, वह अत्यंत रुचिकर है। वस्तुतः यदि उक्त नीति का हम सूक्ष्म अध्ययन करें, तो हमें स्पष्ट विदित हो जायेगा कि उक्त मोड़ द्वारा जीवन के प्रति, पूर्व-स्वीकृत निरपेक्ष आस्था के भाव का, उन्होंने शत-प्रतिशत समर्पण कर दिया है। इस स्वीकृति के साथ यदि उनके विचारों का पुनः अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि 'जीवन' उनके लिए साध्य में विद्यमान तत्वों में अनिवार्य तत्व रूप में ही महत्त्वपूर्ण है। उसका अपना कोई आंतरिक मूल्य नहीं है।

निष्कर्षतः इतना निश्चित है कि जिस दृढ़ विश्वास के साथ, युक्ति के प्रथम भाग में, स्पेंसर चलते हैं वह अंत तक कायम नहीं रहता। युक्ति के प्रथम भाग में वे जीवन के साध्य मूल्य को स्पष्ट स्वीकार करते हैं।

स्पेंसर ने, जैविक स्तर में प्रकारात्मक भेद को स्वीकार किया है। किंतु, प्रकार भेद की उक्त स्वीकृति की, जब हम व्याख्या करते हैं; तब अंतिम रूप से वह 'परिमाण' पर ही आधारित प्रतीत होती है।

कर्त्तव्य विषयक स्थायीभाव[1]

मानवीय चेतना की यथार्थ प्रकृति का अन्वेषण करते हुए स्पेंसर कहते हैं कि उसमें एक अपूर्व प्रकार की अनिवार्यता, एक आंतरिक बाध्यता विद्यमान है। हम सामान्यतः अनुभव करते हैं कि विशिष्ट प्रकार की भावनाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ ही मानवीय संकल्प के लिए निश्चित अनिवार्यता रखती हैं। उनकी माँगों को हमें पूरा करना ही चाहिये। मानवीय चेतना की अबाध, अनाक्राम्य अनिवार्यता को नैतिक विचार के क्षेत्र में अँग्रेजी शब्द 'आट' द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी अनिवार्यता को कांट ने मानवीय चेतना में व्याप्त निरपेक्ष आदेश के रूप में प्रस्तुत किया है। किंतु, अन्य प्रकार की भावनाओं एवं प्रतिक्रियाओं के लिए, हम किसी प्रकार की

1. Sentiment of dutty.कर्त्तव्य-भावना शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।

आंतरिक बाध्यता का अनुभव नहीं करते। इसी बाध्यता को स्पेंसर 'कर्तव्य की भावना' कहते हैं।

अन्य भावनाओं की भाँति उक्त 'स्थायीभाव' केवल एक भावना नहीं, जैसा कि शब्द से व्यक्त होता है। वह तो नैतिक अनुमोदन का प्रतीक है, जिसके द्वारा भावनाओं का सापेक्षिक मूल्य ज्ञात होता है। सहानुभूति, उदारता, सत्यता जीवन की उदात्त भावनाएँ हैं, जिन्हें नैतिक अनुमोदन प्राप्त है। ठीक इसके विपरीत लोभ, घृणा, मोह इत्यादि ये सभी वर्जित भावनाएँ हैं, जिन्हें उक्त अनुमोदन नहीं प्राप्त है। अन्य शब्दों में, नैतिक स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि उक्त भावनाएँ जैविक उद्देश्य की पूर्ति में निमित्त मूल्य रखती हैं।

उनके विषय में विचार व्यक्त करते हुए रॉर्जस कहते हैं :

"कर्तव्य बोध अथवा नैतिक अनिवार्यता, एक विशिष्ट प्रतिनिधि-भावना मात्र नहीं है। उन सभी प्रतिनिधित्व करने वाली भावनाओं के साथ, प्रत्यय रूप में वह संबद्ध है, जिनमें अधिकार एवं अनिवार्यता के दोनों ही तत्व विद्यमान हैं। उवत अनिवार्यता की भावना, अतिक्रमण के प्राकृतिक परिणामों की पूर्व-कल्पना से उत्पन्न और वैधानिक दंड के संबद्ध प्रत्ययों से पुष्ट होती है।"[1]

अतएव जीव के व्यापक हित की दृष्टि से, उसकी तात्कालिक वृत्तियों एवं प्रेरणाओं को नियंत्रित करती हुई वह 'भावना' प्रमुख रूप से शैक्षणिक-शक्ति एवं नियामक रूप में कार्य करती हुई, दृष्टिगत होती है। नैतिक बाध्यता की प्रकृति के निरूपण में, स्पेंसर और मिल के विचारों में पर्याप्त सादृश्य है। उक्त 'भावना' तात्कालिक अभिव्यक्ति एवं संतुष्टि के लिए प्रयत्नशील संवेगों एवं भावनाओं पर नियंत्रण रखने की सतत् चेष्टा करती है। इस आंतरिक अनुशासन के अतिरिक्त स्पेंसर उन समस्त बाह्य अनुशासनों को भी स्वीकार करते है, जिन्हें उपयोगितावाद के समर्थक बेंथम और मिल स्वीकार करते हैं।

विकासवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की विशेषताएँ एवं विविध व्यापार जैविक माँगों के अनुरूप उत्पन्न होते हैं और जब विकास की दृष्टि से उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है तो वे स्वतः विलुप्त हो जाते हैं। 'कर्तव्य-भावना' के संदर्भ में भी स्पेंसर के विचार, उक्त सामान्य विश्वास से अनुप्राणित हैं। 'कर्तव्य भावना' भी विकास की वर्तमान स्थिति में उपयोगी है। उसका आविर्भाव, विशिष्ट जैविक

1. "The sense of duty or moral obligation is not an isolated representative feeling. It is the idea attached to all representative feelings that possess the two elements of authority and coerivencess. The sense of compulsion proceeds from an anticipation of the natura consequences of transgression and is increased by the associated ideas of legal penalities." A Short History of Ethics, p. 265.

उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही हुआ है और मानवीय विकास की आगामी स्थितियों में, जब उसके योग का महत्त्व समाप्त हो जायेगा, वह अपने आप विलुप्त हो जायेगी। विकास की वर्तमान स्थिति में वह नितांत उपयोगी है और इसीलिए अनाक्राम्य भी, किंतु अपने मूल रूप में वह मानवीय चेतना की अस्थायी किंतु अनिवार्य विशेषता है।

स्पेंसर का विश्वास है, कि विकास की वर्तमान स्थिति प्रमुख रूप से प्राकृतिक वृत्तियों एवं बौद्धिक वृत्तियों के मध्य निरंतर संघर्ष की स्थिति है। बौद्धिक वृत्ति जीवन के अधिक व्यापक एवं गहन, जैविक लक्ष्यों एवं हितों की दृष्टि से लाभकारी है। विकास के क्रम में, भविष्य में अवतरित होने वाली स्थिति की कल्पना करते हुए स्पेंसर कहते हैं कि भविष्य में तात्कालिक एवं स्थायी, दोनों प्रकार के हितों में क्रमशः सामंजस्य की स्थापना हो जायेगी और उनका वर्तमान विरोध नष्ट हो जायेगा। जैविक दृष्टि से लाभकारी, बौद्धिक वृत्ति क्रमशः पुष्ट होती जायेगी और आचार की मध्यस्थता से उसी सहजता के साथ व्यक्त हो सकेगी, जिस सहजता से पूर्ण विकसित पुष्प से सुरभि की अभिव्यक्ति होती है।

वर्तमान संदर्भ में स्पेंसर-सापेक्ष एवं निरपेक्ष-दो प्रकार की आचार नीति की कल्पना करते हैं। सापेक्ष नीति का संबंध, विकास के क्रम में विकसित होती हुई विभिन्न स्थितियों से है। प्रत्येक स्थिति का संबंध विशिष्ट आचार नीति से है और जो आचार नीति एक विशिष्ट स्थिति के लिए महत्त्व रखती है, वह अनिवार्यतः अन्य स्थिति के लिए महत्त्व नहीं रखती। किंतु निरपेक्ष आचार नीति का संबंध, विकास की उस चरम परिणति से है, जब व्यक्ति एवं उसके वातावरण के मध्य, पूर्ण सामंजस्य की स्थापना हो जायेगी।

विकास की प्रक्रिया के स्वरूप एवं उसकी दिशा के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि प्राकृतिक शक्तियाँ स्थायी सामंजस्य की आदर्श स्थिति के अवतरण के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं, वे व्यक्ति तथा वातावरण के वर्तमान विरोध को नष्ट करना और एक स्थायी रूप से मंगलकारी सामाजिक स्थिति को स्थापित करना चाहती हैं।

स्पेंसर में सामाजिक दृष्टिकोण का रूप

स्पेंसर के अनुसार प्रकृति, प्रत्येक स्तर पर जाति एवं वर्ग की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील दिखायी देती है, व्यक्ति के अस्तित्व एवं उसकी सुरक्षा के लिए वह व्यग्र नहीं है। अतएव ऐसी प्रतीत होता है कि स्पेंसर, व्यक्ति की अपेक्षा 'वर्ग' एवं 'जाति' को अधिक महत्त्व देना चाहते हैं। जीवन के सामाजिक पक्ष की महत्ता की, उनकी स्वीकृति किन्ही स्थलों पर, मार्क्स के विचारों से सादृश्य रखती प्रतीत

होती है। मार्क्स भी व्यक्ति की अपेक्षा, सामूहिक-जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियों को, विशेष रूप से 'राज्य' को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं।

स्पेंसर के विचार का एक दूसरा पक्ष भी है। निःसंदेह, विश्व के विकास की व्यापक योजना की तुलना में व्यक्ति की अपनी इकाई अत्यंत संकुचित एवं मूल्यहीन प्रतीत होती हैं। किंतु समष्टि एवं उसके हितों के प्रत्यय का, यदि हम विश्लेषण करें, तो वैयक्तिक इकाइयों की महत्ता स्वयं स्पष्ट हो जायेगी। व्यक्ति की मध्यस्थता से ही जाति एवं वर्ग की सुरक्षा संभव है, क्योंकि वैयक्तिक इकाइयों द्वारा ही उसका निर्माण, विकास एवं भावी अस्तित्व संभव हो सका है। अतएव अंतिम दृष्टि से व्यक्ति एवं उसका हित ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों के मध्य अनिवार्य संबंध है। इसलिए यदि हम वर्ग एवं जाति को पुष्ट और सक्रिय रखना चाहते हैं तो व्यक्ति को सुरक्षित रखना उसके विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील होना अनिवार्य है। इस दृष्टि से स्पेंसर वैयक्तिक एवं जातिगत दोनों हितों के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए कहते हैं : "प्रकृति के यथार्थ विकास क्रम के अध्ययन की दृष्टि से विशुद्ध स्वार्थवाद एवं परार्थवाद दोनों हितों के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए कहते हैं : "प्रकृति के यथार्थ विकास क्रम के अध्ययन की दृष्टि से विशुद्ध स्वार्थवाद एवं परार्थवाद दोनों ही अनुचित हैं। परार्थवाद एवं स्वार्थवाद के मध्य सामंजस्य शनैः-शनैः स्थापित होता जा रहा है।"[1]

स्वार्थवाद एवं परार्थवाद के समर्थन हेतु युक्तियाँ

स्वार्थवाद एवं परार्थवाद के मध्य विकसित होते हुए सामंजस्य की पुष्टि में युक्ति प्रस्तुत करते हुए स्पेंसर कहते हैं कि विश्व की सामूहिक शक्तियाँ इस चरम परिणति की ओर अग्रसर हो रही हैं। प्रकृति स्वयं वैयक्तिक एवं जातिगत माँगों में संतुलन बनाने का प्रयत्न कर रही हैं। समाज एवं राज्य, व्यक्ति के संदर्भ में व्यापक इकाइयाँ हैं, जिनके साथ विकसित होता हुआ सामंजस्य, उसके अपने विकास का प्रतीक है। मनुष्य उन बृहत इकाइयों की अनिवार्य सदस्यता ग्रहण किये हुए है और उनसे मुक्ति पाना, उसके लिए संपूर्णतः असंभव है। अतएव, अपने वैयक्तिक अस्तित्व की दृष्टि से उनके साथ समन्वित होना ही उसके लिए हितकारी है। दोनों का संबंध अंतरंग एवं अभिन्न है और इसलिए दोनों का विकास अन्योन्याश्रित है। एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व एवं संवृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती।

स्वार्थवाद की महत्ता के समर्थन में, वे कई युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम, किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए, जो निजी हितों के प्रति सर्वथा उदासीन है और जिसने उनकी कभी भी चिंता नहीं की-दूसरों के हित के लिए प्रयत्नशील

1. "Pure egoism and pure altruism are both illegitimate. A compromise between altruism and egoism has been slowly establishing itself."

होना असंभव है। सबसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण सेवा व्यक्ति की 'स्व' के प्रति होती है, जिसकी अवज्ञा करना, उसके अपने स्थायी हितों की दृष्टि से वांछनीय नहीं है। यदि व्यक्ति में अपने हितों की सुरक्षा की क्षमता विद्यमान है, तब वह ही क्षमता परिपक्व एवं परिष्कृत हो कर लोक-हितैषिता में परिणत हो जाती है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति निष्क्रिय एवं आलसी हो कर स्वयं अपने हितों की सुरक्षा में असमर्थ एवं उसके प्रति उदासीन है, तो वह किस प्रकार अन्य के हितों के लिए निष्ठा रख सकता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

द्वितीय युक्ति, उसके पक्ष में देते हुए वे कहते हैं कि किसी भी व्यक्ति में, परोपकार वृत्ति के पोषण द्वारा उससे लाभान्वित होने वाले व्यक्ति के अंदर अनिवार्यतः स्वार्थमयी वृत्ति एवं निष्क्रियता का पोषण होता है, जो उसके अपने हित में वांछनीय नहीं और जो कालांतर में उसके लिए घातक सिद्ध हो सकती है। अतएव अनुदान एवं परोपकार वृत्ति पर, समाज एवं उसके सदस्यों के व्यापक हित की दृष्टि से, पर्याप्त नियंत्रण होना चाहिये। उसकी पुष्टि निश्चित सीमा के अंदर ही होनी चाहिये, क्योंकि दूसरों की परोपकार-वृत्ति एवं लोकहितैषिता से लाभन्वित होने वाला व्यक्ति एवं वर्ग शीघ्र ही पराश्रयी हो जाता है और समाज एवं स्वयं की दृष्टि से पूर्णरूपेण निरर्थक हो जाता है जिससे उसका अपना अकल्याण तो होता ही है, समाज का भी निश्चित अहित होने की संभावना होती है-उसकी कुंठा समाज को भी कुंठित करने की सामर्थ्य रखती है।

तृतीय युक्ति जो स्पेंसर उसके पक्ष में प्रस्तुत करते हैं, वह यह कि परोपकार वृत्ति का व्यक्ति-विशेष के जीवन में असंतुलित विकास, जीवन तथा उसके उद्देश्यों के प्रति उसे उदासीन बना देता है, जिसके कारण उसकी जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है और जीवन के विश्वव्यापी संघर्ष के मध्य अपने अस्तित्व को बनाये रखने की क्षमता का ह्रास क्रमशः होता जाता है। उसकी जैविक इकाई की सुरक्षा एवं विकास की दृष्टि से यह स्थिति नितांत संकटमय है।

प्रश्न के द्वितीय पक्ष पर विचार व्यक्त करते हुए स्पेंसर कहते हैं कि विशुद्ध स्वार्थ वृत्ति का पोषण भी निश्चित सीमा के बाहर वांछनीय नहीं। इसलिए संतुलन बनाये रखने के लिए लोकहितैषिता का भी पर्याप्त मात्रा में पोषण होना चाहिये।

परोपकार वृत्ति के पोषण की महत्ता का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि उसका पोषण व्यक्ति के व्यापक हितों की दृष्टि से अनिवार्य है। लोभी, स्वार्थी हाथ[1] की कथा सर्वविदित है। यदि एक निश्चित सीमा के बाहर स्वार्थवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाय तो, वह स्वयं लोभी, स्वार्थी व्यक्ति के लिए कालांतर में घातक सिद्ध होती है। अतएव प्रकृति स्वयं मनुष्य को संयम का, आत्म-नियंत्रण

1. S. Ramatirtha, In woods of God Realization.

का और दूसरों के साथ अपनी उपलब्धियों को सम्मिलित रूप से स्वीकार करने का अमूल्य पाठ पढ़ाती है।

पुनः वे कहते हैं, व्यक्ति के अपने हित परस्पर एक-दूसरे से पृथक् नहीं। वे अभिन्न रूप से संबद्ध हैं और इसीलिए यदि आसक्तिवश वे अपने को एक-दूसरे से पृथक् कर लेते हैं तो निश्चित है कि भविष्य में वे स्वयं दुःखी होंगे और निरंतर अपने को ऐसी कठिनाइयों से आवृत्त पाएँगे जिनसे मुक्ति का उनके पास कोई उपाय नहीं होगा। जीवन में अधिक समय तक कोई भी व्यक्ति राबिन्सन क्रूसो हो कर जीवित नहीं रह सकता। हमारे सम्मिलित जीवन की सभी संस्थायें-परिवार, समाज एवं राज्य मानव की मूल सामाजिक प्रकृति के विषय में स्पष्ट घोषणा करती हैं। मनुष्य की प्रकृति आणुविक एवं स्थायी रूप से वियोज्य नहीं।

उक्त प्रश्न पर स्पेंसर, बेंथम और मिल से भिन्न मत रखते हैं। बेंथम तथा मिल सामाजिक जीवन में तथा सामाजिक लक्ष्यों की वांछनीयता में विश्वास रखते हुए भी मानव प्रकृति को मूल रूप से आणुविक और विशिष्ट ही मानते हैं। उनके और हाब्स के विचारों में पर्याप्त साम्य है और इसी कारण उनके विचार में असंगति आ गयी है, जिसके विषय में पिछले अध्याय में पर्याप्त कहा जा चुका है। किंतु, स्पेंसर ने स्वार्थवादी एवं परार्थवादी दोनों ही वृत्तियों को समान रूप से मूल एवं प्राथमिक माना है और इसीलिए उनके मत में स्थायी रूप से दोनों में से किसी एक की भी अवज्ञा संभव नहीं। दोनों ही अपनी दृष्टियों से अपने स्थान पर अमूल्य हैं और उनका प्रत्यक्ष विरोध बाह्य, आकस्मिक एवं अस्थायी है।

पुनः स्पेंसर कहते हैं यदि उक्त कारणों से नहीं तो कम-से-कम परोपकार वृत्ति से संबद्ध विशिष्ट सुखों के कारण इसका महत्त्व सदैव रहेगा। अतएव वैयक्तिक एवं सामाजिक, स्वार्थवादी एवं परार्थवादी वृत्तियों के समन्वय के, लिए व्यक्ति को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। किंतु, इस विषय में यदि प्रारंभिक सफलता न मिले तो भी व्यक्ति को निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि विश्व की सामूहिक शक्तियाँ उक्त सामंजस्य स्थापना के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं। सामंजस्य स्थापित होना ही है, इसमें कोई संदेह नहीं।

निरपेक्ष एवं सापेक्ष आचार-नीति

निरपेक्ष एवं सापेक्ष आचार नीति की स्वीकृति, स्पेंसर के विचारों की विशिष्टता है। सापेक्ष आचार-नीति से उनका अभिप्राय एक ऐसी आचार-नीति से है, जो देश-काल की निश्चित सीमा के अंतर्गत ही व्यक्ति के लिए महत्त्व रखती है। विकास की वर्तमान अपूर्ण स्थिति-विशेष में ही वह वैध है और विकास की समान अपूर्ण स्थितियों में उसमें परिस्थिति द्वारा अनुकूल परिवर्तन की संभावना को

उन्होंने स्वीकार किया है। इसके विपरीत निरपेक्ष-आचार-नीति उस संपूर्णतः विकसित पूर्ण सामंजस्य की स्थिति से संबद्ध है, जिसकी ओर विश्व की शक्तियाँ प्रयत्नशील हैं। उक्त स्थिति, पूर्ण परिपक्वता की स्थिति है और नैतिक व्यवहार जो वर्तमान अपूर्ण स्थिति, पूर्ण परिपक्वता की स्थिति है और नैतिक व्यवहार जो वर्तमान अपूर्ण स्थिति में पर्याप्त संघर्ष एवं विरोध के उपरांत व्यक्त हो पाता है, उस स्थिति में नितांत सहजता के साथ व्यक्त हो सकेगा।

उक्त आदर्श, मंगलमयी, सामंजस्यपूर्ण स्थिति की जो कल्पना हमें स्पेंसर मे मिलती है, उसकी पर्याप्त समानता कांट के 'साध्यों के साम्राज्य' प्रत्यय से है। साध्यों के साम्राज्य की सदस्यता ग्रहण करने वाली प्रत्येक चेतन इकाई परस्पर सामंजस्य की स्थिति में होगी, प्रत्येक स्वतः नियंत्रित एवं संतुलित जीवन व्यतीत करने वाली होगी, और उसका आचार उच्च कोटि का होगा, जिसमें प्रत्येक इकाई एक-दूसरे की मर्यादा एवं स्वाभिमान की संरक्षिका तथा दूसरों से भी उसी प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखने वाली होगी।

श्री अरविंद ने भी अराजकता की स्थिति[1] के प्रत्यय में, एक ऐसी ही आदर्श, उत्तरदायित्वयुक्त, नियमविहीन आदर्श स्थिति की कल्पना की है, जिसमें बाह्य नियंत्रण का संपूर्णतः अभाव है। बाह्य नियंत्रण का अभाव, उस स्थिति में इसलिए नहीं है कि वहाँ अनुशासनहीनता एवं पूर्ण अराजकता है, प्रत्युत् इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति का आचरण स्वतः नियमवत् है और उसके लिए बाह्य प्रतिबंध की कोई आवश्यकता नहीं। अरविंद में, वह एक ऐसी संपूर्ण स्थिति की कल्पना है, जिसमें व्यक्ति ने बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता का ही पूर्णतः अतिक्रमण कर लिया है।

ऐसी आदर्श स्थिति का यथार्थ में अवतरण कब होगा, इस विषय में निश्चितता से कुछ कहना कठिन है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञता का दावा नहीं कर सकता। किंतु, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं एवं प्रकृति के विकास के क्रम के अध्ययन के आधार पर, इस प्रकार की संभावना में विश्वास किया जा सकता है। विकास की प्रारंभिक स्थितियों में, उन सभी क्षेत्रों में जहाँ नियंत्रण एवं संयम की आवश्यकता होती है, व्यक्ति को सदैव बाह्य नियंत्रण के अधीन रह कर ही कार्य करना होता है। किंतु क्रमशः कालांतर में वह आवश्यकता क्षीण होती जाती है और विकास की परिपक्व स्थिति में तो उसका पूर्णतः अतिक्रमण हो जाता है। बाह्य नियंत्रण का स्थान आंतरिक नियंत्रण ले लेता है, क्योंकि व्यक्ति पर संयम एवं नियंत्रणपूर्ण व्यवहार की महत्ता स्पष्ट हो जाती है और वह आंतरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वतः नियमवत् कार्य करने लगता है। पुनः जब आंतरिक प्रेरणा के अधीन कार्य करते हुए, संयमित व्यवहार

---

1. 'Anarchy' नियमविहीनता शब्द का भी वर्तमान संदर्भ में प्रयोग किया जा सकता है।

स्वाभाविक हो जाता है, आंतरिक बाध्यता की अनुभूति भी क्रमशः विलुप्त हो जाती है और व्यक्ति के आचरण की मध्यस्थता से 'शुभता' उसी सहजता से प्रसारित होने लगती है, जैसे पूर्ण विकसित पुष्प से सुरभि प्रसारित होती है।

लेज़ली स्टीफेन

लेज़ली स्टीफेन के विचारों के अध्ययन के उपरांत स्पष्ट हो जाता है कि स्पेंसर के विचारों से प्रभावित होने के बावजूद भी, वह अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता भी रखते हैं। वे व्यक्ति एवं समाज के आंतरिक संबंध को स्वीकार करते हैं और उसी आधारभूत स्वीकृति के आधार पर अपनी आचार-नीति को विकसित करते हैं।

स्पेंसर के अनुसार, अंतिम दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज के परस्पर संबद्ध होते हुए भी वैयक्तिक इकाई ही उन दोनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। किंतु, स्टीफेन ने दोनों की अनिवार्य सावयविक संबद्धता पर उनकी समग्रता पर विशेष बल दिया है। सावयविक संबद्धता के प्रत्यय के अंतर्गत समाज की समग्रता से पृथक् व्यक्ति का न अपना कोई अस्तित्व है और न ही महत्त्व। व्यक्ति, समाज पर संपूर्णतः आश्रित है, उससे पृथक् उसके जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

स्टीफेन के अनुसार व्यक्ति के जीवन का यही एकमात्र सत्य है कि वह उत्तरोत्तर समाज के सम्मिलित जीवन में प्रविष्ट हो सकने की, उससे अपना सामंजस्य स्थापित कर सकने की तथा समाज के व्यापक हितों के लिए अपने सीमित हितों के त्याग की अपूर्व क्षमता रखता है और ऐसा करना उसके लिए वांछनीय भी है। अन्य शब्दों में, विशुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से सामाजिक इकाई एवं उसके हितों से पृथक् व्यक्ति के हितों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वह वस्तुतः एक अयथार्थ, भ्रांतिपूर्ण प्रत्यय है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह उस सम्मिलित जीवन की सुरक्षा एवं संवृद्धि के लिए अपना शत्-प्रति-शत् योगदान दे। अस्तु, सामाजिक जीवन का स्वास्थ्य ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है और क्योंकि स्पेंसर की भाँति स्टीफेन भी सुखवाद के समर्थक हैं, इसलिए उनका विश्वास है कि अंतिम रूप से स्वास्थ्य एवं सुख, जीवन के दोनों लक्ष्यों के मध्य, एक मूलभूत आंतरिक-साम्य की स्थापना होनी ही चाहिये।

नैतिकता को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं :

"नैतिकता सामाजिक कल्याण की अनिवार्य स्थितियों की अभिव्यक्ति है और दूरदर्शिता से पृथक्, वह उन स्थितियों की ओर संकेत करती है, जो सामाजिक एकता को स्पष्ट प्रभावित करने वाली हैं। अर्थात् नैतिकता, समाज की उन संरक्षक वृत्तियों का और संभवतः उन वृत्तियों का योग है, जो सामाजिक-हित की अपेक्षा

रखती है।"[1]

नैतिकता तथा नैतिक नियमों के स्वरूप की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि इनका अनिवार्य संबंध मानव की तथा समाज की, जिसकी वह सदस्यता ग्रहण किये है, मूलभूत संरक्षक वृतियों से है। अतएव अन्य नियमों की अपेक्षा, नैतिक नियम मानवीय संकल्प के लिए एक विशिष्ट प्रकार की अनिवार्यता रखते हैं और यदि व्यक्ति को अपने अस्तित्व को बनाये रहना है, तो उसे उन नियमों को अनिवार्यतः स्वीकार करना है-उनके अनुरूप उसे आचरण करना है, क्योंकि वह अन्य व्यक्तियों के और अंतिम रूप से समाज के साथ अभिन्न-रूप से आंतरिक संबंधों द्वारा संयुक्त है। उन सबका संबंध अन्योन्याश्रित होने के कारण, अस्तित्व की स्थितियाँ सभी के लिए समान हैं और इसलिए समान रूप से वे नियम महत्त्वपूर्ण भी हैं।

मानवीय प्रकृति के लिए वे नियम मूल एवं प्राथमिक हैं और इसलिए विशिष्ट अर्थ में सामान्य भी हैं। वे नियम, मानव की, उस विशिष्ट प्रकृति से संबद्ध हैं, जिसके द्वारा वह संपूर्ण मानव जाति से ही नहीं, प्रत्युत् निम्नस्तरीय समस्त जैविक जीवन से संयुक्त है। उसकी अन्य विशेषताओं एवं अभिरुचियों का, यथा-कलात्मक रुचि, व्यावहारिक कौशल एवं शैक्षणिक प्रवृत्ति का, उसके नैतिक जीवन से कोई संबंध नहीं।

नैतिक नियमों के संदर्भ में, 'सामान्य' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है। 'सामान्य' शब्द से स्टीफेन का तात्पर्य, उस नियम से नहीं है, जो प्रत्येक देश-काल में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्यतः मान्य हो। नैतिक नियम, मानव के विकास की एक विशेष स्थिति में ही मान्य होते हैं और वे इसलिए मान्य होते हैं कि जैविक इकाई के विकास की उक्त स्थिति में, उसके अस्तित्व एवं हित दोनों ही दृष्टि से नितांत आवश्यक होते हैं। वे सापेक्ष सामान्य होते हैं और बदलती हुई आंतरिक स्थिति के साथ उन नियमों में भी स्वतः परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही हैं।

कांट के नैतिक नियम के संदर्भ में, 'सामान्य' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया है। नैतिक नियम का उद्भव, मानव की बौद्धिक प्रकृति से हुआ है और इसलिए वह अपवादरहित और अनाक्राम्य है, अतः वह निरपेक्ष रूप से सामान्य है।

नैतिक नियमों की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए स्टीफेन पुनः कहते हैं कि इन मूलभूत नैतिक नियमों का विकास अ-नैतिक तत्वों से हुआ है। सहज-प्रवृत्तिक स्तर पर, आत्मबोध के आविर्भाव के पूर्व, इनके अनुरूप प्रकृति के क्षेत्र में,

---

1. 'Morality is a statement of the conditions of social welfare; and morality, as distinguished from prodence, refers to those conditions which imply a direct action upon the social union. In other words, morality is the sum of the preservative instincts of a society and presumably of those which imply a desire for the good of the society itself."

The Science of Ethics, p. 208.

निरंतर कार्य होता रहा है। किंतु, यथार्थ में नैतिक जीवन का प्रारंभ आत्मबोध के आविर्भाव के साथ ही होता है और उसके आगमन को पश्चात् जैविक लक्ष्यों की पूर्ति सचेतन स्तर पर संकल्प की मध्यस्थता से होने लगती है।

स्टीफेन दो प्रकार की नैतिकता में स्पष्ट भेद करते हैं। प्रथम, सहज प्रवृत्तिक स्वतः निःसृत सदाचार जिसमें उद्देश्यों की प्राप्ति अचेतन रूप से होती रहती है और द्वितीय विशुद्ध नैतिकता जो सचेतन रूप से संकल्प की मध्यस्थता से जैविक लक्ष्यों का स्वेच्छा से चुनाव करती है और उनकी पूर्ति के लिए यथोचित चेष्टा करती है। जब तक प्राकृतिक क्षेत्र में, जैविक लक्ष्यों की पूर्ति सहज रूप से होती रहती है और विकास के क्रम में आत्मबोध का आविर्भाव नहीं होता, यथार्थ नैतिक जीवन का प्रारंभ ही नहीं होता। वह नैतिकता का आभास मात्र ही है। प्रकृति के लिए विशुद्ध नैतिक जीवन का प्रारंभ उस समय होता है, जब चेतन में पर्याप्त मात्रा में स्वतंत्र चुनाव की क्षमता विकसित हो जाती है और वह वैयक्तिक एवं सामाजिक हित की दृष्टि से स्वतः विवेकयुक्त आचरण में अभिव्यक्त होने लगती है।

वर्तमान विषय पर स्टीफेन के विचार अत्यंत रोचक हैं और कांट के विचारों का स्मरण कराते हैं। कांट का भी उक्त प्रश्न पर स्पष्ट मत है कि विशुद्ध नैतिकता का आविर्भाव जीव की सहज प्रवृत्तिक ओर बौद्धिक माँगों के मध्य संघर्ष के प्रारंभ के साथ ही होता है। जब तक जीवन में सहज साम्य-स्थिति रहती है, जीवन में आभासित नैतिकता का ही अस्तित्व रहता है। किंतु जितना ही दोनों माँगों के बीच प्रबल विरोध होगा तथा सघन होगा, उतना ही नैतिक जीवन निर्मल एवं उत्कृष्ट माना जायेगा, यदि वह सहज प्रवृत्तिक जीवन पर आधिपत्य स्थापित करने में सफल हो जाता है।

दोनों चिंतकों के विचारों के निषेधात्मक पक्ष की इस आकस्मिक सदृशता के बाद भी, दोनों की नैतिकता की परिभाषा भिन्न है। कांट के अनुसार, आविर्भाव के प्रारंभ से ही बौद्धिक तत्व की माँग सहज प्रवृत्तिक पक्ष की माँग का विरोध करती हुई दृष्टिगत होती है। दोनों में किसी भी स्थिति में सहज-साम्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती और ज्यों-ज्यों विकास की स्थिति में परिवर्तन आता जाता है संघर्ष और तनाव की स्थिति विषम होती जाती है। किंतु स्टीफेन के विचार में, नैतिक जीवन की माँगों का उद्‌भव, मनुष्य की वही स्थायी जैविक रचना है, जिससे सहज प्रवृत्तिक जीवन की और उसकी माँगों की उत्पत्ति होती है। दोनों वृत्तियों का उद्‌भव और विकास एक ही मूल प्रकृति से होने के कारण दोनों के स्थायी उद्देश्यों में सहज तारतम्यता है। यही कारण है कि मानव अपने व्यक्तित्व के सहज प्रवृत्तिक पक्ष का पूर्णतः अतिक्रमण नहीं कर सकता। जीवन के सहज प्रवृत्तिक एवं बौद्धिक दोनों ही पक्ष मानव विकास की पूर्व और पश्चात् कीं दो स्थितियों का द्योतन करते हैं

और सामाजिक विकास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए, यह कहना कठिन हो जायेगा कि पूर्व स्थिति का अंत और नवीन का प्रारंभ कब हुआ। विकास के क्रम में सहज प्रवृत्तिक पक्ष का स्थान क्रमशः नैतिक पक्ष ने इसलिए लिया कि जैविक विकास की आगामी स्थितियों की दृष्टि से, वह अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। निष्कर्षतः स्टीफेन के अनुसार दोनों ही पक्ष जैविक उद्देश्य की दृष्टि से सहयोगी एवं पूरक हैं। प्रकृति के अंचल में, विकास की दृष्टि से, जब जिस तत्व की आवश्यकता प्रतीत हुई, उसका सहज रूप से आविर्भाव हुआ और जब स्वतः नूतन संभावनाओं के आविर्भाव के साथ पुराने तत्वों की उपयोगिता समाप्त हो गई, तो वे सहज प्रक्रिया द्वारा स्वयमेव नष्ट हो गये। नूतन का आविर्भाव और पुरातन का अंत-जैविक लक्ष्य की पूर्ति हेतु दोनों ही अनिवार्य हैं।

विपरीततः कांट के विचारों में, दोनों पक्ष के सहयोगी और पूरक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रारंभ से ही दोनों तत्व विरोधी हैं। सहज प्रवृत्तिक स्तर की माँगें, सदैव मानव की उच्च महत्त्वाकांक्षाओं के विपरीत दिशा में कार्य करने में अभ्यस्त हैं-वे उनके लिए शाश्वत चुनौती रूप हैं।

नैतिक नियमों के स्वरूप का अन्वेषण करते हुए स्टीफेन कहते हैं कि ये नियम कृत्रिम, मानव निर्मित नियमों से भिन्न हैं। नैतिक नियमों का उद्‌भव, जैसा पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है, मानव की मूल, स्थायी, जैविक प्रकृति से होता है। अतएव वे स्थायी और विशिष्ट अर्थों में अनाक्राम्य भी होते हैं। किंतु, मनुष्य द्वारा निर्मित नियम प्रमुख रूप से उसकी वैयक्तिक-चारित्रिक रचना एवं परिस्थितिगत विशेषताओं से नियंत्रित होते हैं, इसीलिए वे आकस्मिक और कृत्रिम होते हैं और नैतिक नियमों की अपेक्षा कम स्थायी और परिवर्तनीय होते हैं। नैतिक नियम 'तार्किक अनिवार्यता'[1] की भाँति अनाक्राम्य हैं। आकस्मिक परिवर्तनों से वे अप्रभावित रहते हैं। इनमें जब भी परिवर्तन आता है, जीव की स्थायी आंतरिक रचना में परिवर्तन के कारण ही आता है। इन नियमों के संदर्भ में स्टीफेन जब 'शाश्वत', 'अबाध', 'अनिच्छित, आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं, तो विशिष्ट अर्थ के साथ ही करते हैं। इन शब्दों का अर्थ उनके विकासवादी सिद्धांत के आधारभूत मूल विश्वास की पृष्ठभूमि में ही स्पष्ट होता है; नैतिक नियम, मनुष्य की वर्तमान जैविक रचना के संदर्भ में ही सापेक्ष रूप से शाश्वत, अबाध और अनाक्राम्य हैं। उसकी जैविक रचना में परिवर्तन के साथ ही अनिवार्यतः इनमें भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। उस नवीन परिवर्तित स्थिति में ये नैतिक नियम स्वतः ही अपना शाश्वत और अनाक्राम्य रूप खो देते हैं। ये निरपेक्ष रूप से अनाक्राम्य हैं, ऐसा स्टीफेन ने कभी स्वीकार नहीं किया। वे कहते हैं :-

---

1. Logical necessities.

"अनंतता एवं अपरिवर्तनीयता से हमारा अभिप्राय यह कभी नहीं हो सकता कि नैतिक नियम तब भी अपरिवर्तित रहेंगे जबकि वे स्थितियाँ जिन पर वे निर्भर हैं, परिवर्तित कर दी जायें।"[1]

वे पुनः कहते हैं :-

"यद्यपि अस्तित्व की स्थितियों के स्थायित्व के विषय में,, भिन्न मत हो सकते हैं तथापि नैतिकता उतनी ही स्थायी है, जितनी कि अस्तित्व की स्थितियाँ स्थायी हैं। वर्तमान में, हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि गहनतम जैविक वृत्तियों के स्थायित्व के अनुपात में कोई भी परिवर्तन, उस परिवर्तन की अपेक्षा जो उनमें विशिष्ट स्थितियों के अंतर्गत आता है, अल्प ही होगा। इससे एक कदम आगे भी जाया जा सकता है। हम यह कह सकते हैं कि जो भी परिवर्तन होने वाले हैं, उन्हें आकस्मिक नहीं अपितु विकास की प्रक्रिया के अनुरूप ही होना चाहिये।"[2]

अन्य शब्दों में, इन नियमों में क्रमिक और अत्यधिक मंद परिवर्तन ही होना चाहिये। नैतिक नियमों की एक अन्य विशेषता भी है। वह बाह्य न होकर आंतरिक ही होते हैं। उनकी तथा उनमें निहित बाध्यता की अभिव्यक्ति 'ऐसा कीजिये' के रूप में न होकर 'ऐसा होना है' के रूप में होना चाहिये। वस्तुतः नैतिक नियम मानवीय संकल्प की मध्यस्थता से मनुष्य की आंतरिक-प्रकृति को आमूल परिवर्तन इस प्रकार करना चाहते हैं कि उसके द्वारा व्यक्ति का अपना तथा उस समाज का हित सुरक्षित रह सके जिसकी वह अनिवार्य सदस्यता ग्रहण किये है। अतएव मानवीय संकल्प की आंतरिक प्रेरणा के रूप में उनकी स्वीकृति ही यथार्थ है। और, मानवीय संकल्प, जब उनके अनुरूप कार्य करने का निश्चय लेता है तो यह समझ कर कि उसमें ही उनका अपना हित सर्वाधिक सुरक्षित है। इसी तथ्य को नैतिक विचार के क्षेत्र में प्रतीकात्मक रूप से अंग्रेजी शब्द 'ऑट' द्वारा व्यक्त किया गया है और 'मस्ट' शब्द से उसकी पृथकता को भी स्पष्ट किया गया है।

इन नियमों के आधार पर, संपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व का इस प्रकार क्रमशः संगठन होता है कि वैयक्तिक एवं सामान्य हितों में सामंजस्य स्थापित होता जाता

1. "We can not mean by eternity or immutability that the moral law will remain unaltered even if the condition upon which it depends be altered." The Science of Ethics, p. 146.
2. The morality then is as permanent as the condition of existence, though there may be a dispute as to the permanence of those conditions... At present we may say that any change must be relatively small in proportion to the permanence of the deepest organic instincts as compared with their modifiction under particular conditions. But we may also go one step further. The variation, we may say, whatever it is must correspond to a process of evolution not to what could be called arbitrary modification." Ibid, p. 147.

है और क्योंकि ये नियम मानव की आंतरिक रचना में आमूल परिवर्तन लाते हैं और उक्त परिवर्तन जीवन में निहित उच्च आकांक्षाओं के अनुकूल है, यह उचित ही है कि उसके रूप को 'ऐसा कीजिये'[1] के रूप में न व्यक्त करके 'ऐसा होना है'[2] के रूप में ही व्यक्त किया जाये। यह भी सत्य है कि उक्त नियम नैतिक विकास की प्रारंभिक स्थितियों में बाह्य निर्देश के रूप में ही व्यंजित होते हैं। उनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'ऐसा कीजिये' द्वारा ही की जाती है। किंतु उसके इस रूप को ही यदि हम अंतिम मान लें तो निश्चित है कि शीघ्र ही हम अपने को आंतरिक विरोध की स्थिति में और भ्रांतियों से आवृत्त पायेंगे, जिनसे मुक्त होना कठिन हो जायेगा। जीवन अत्यधिक विषम है और उन समस्त नियमों को परिभाषित करना जिसके आधार पर उसका सफल नियमन संभव है, किसी सीमित बुद्धि के लिए असंभव है। अतएव जीवन के समस्त पक्षों के साथ यदि हमें न्याय करना है और उसे सफलतापूर्वक नियंत्रित करना है, तो हमारे लिए मानव की चारित्रिक विशेषताओं के भावी स्वरूप का चित्र स्पष्ट होना नितांत आवश्यक है। इसी तथ्य को प्रतीकात्मक रूप से 'ऐसा होना है' पद-समूह द्वारा व्यक्त किया गया है।

मानवीय चरित्र की एक ही विशिष्टता, विभिन्न परिस्थितियों में इस प्रकार व्यंजित हो सकती है कि उसके विविध रूपों में कोई विरोध न हो। उदाहरणार्थ, साहस की अभिव्यक्ति युद्धभूमि में भी हो सकती है तथा तीव्र उत्तेजना की स्थिति में संतुलन बनाये रखने में भी हो सकती है।

इसी सत्य को स्टीफेन ने एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। एक वृत्त को अंकित करने की दो विधियाँ हो सकती हैं, उसकी परिधि को अंकित करके अथवा उसके केंद्र को निर्धारित करके। निसंदेह द्वितीय विधि अधिक उपयुक्त है, क्योंकि जब केंद्र निर्धारित हो जाता है, तो वृत्त स्वयमेव अंकित हो जाता है। किंतु यदि हम परिधि को केंद्र निर्धारित करने के पूर्व अंकित करना चाहेंगे तो एक से अधिक वृत्त अंकित होने की संभावना है, जो एक-दूसरे को कई बिंदुओं पर काट सकते हैं। अतएव यदि मानवीय आचार के निर्देशन के विषय में स्पष्टतः कुछ कहना है, तो हमें उन चारित्रिक विशेषताओं को अनावृत्त करना चाहिये, जिसे विकास की आगामी स्थितियों में वांछनीय समझा जाता है। जीवन अत्यधिक विषम है और आचार नीति से संबद्ध, उन अनंत नियमों का स्पष्टीकरण करना जो जीवन के विषय में बाह्य निर्देश देते हैं, व्यावहारिक दृष्टि से असंभव है।

पुनः स्टीफेन कहते हैं कि विश्व की शक्तियाँ नैतिक विकास के क्षेत्र में जिस दिशा की ओर अग्रसर हो रही हैं, वह पर्याप्त स्पष्ट है। वे बाह्य आदेश से

---

1. 'Do this'.
2. 'Be this'.

नियंत्रित नैतिकता का क्रमशः अतिक्रमण कर रही हैं और आंतरिक प्रेरणाओं के अनुरूप अपने को ढालने की चेष्टा कर रही हैं, ताकि भविष्य में वैयक्तिक एवं सामाजिक हितों में पूर्ण सामंजस्य की स्थापना हो सके और जैविक लक्ष्य सुरक्षित रह सके। इसी तथ्य को स्टीफेन ने यह कह कर व्यक्त किया है कि नैतिक नियमों का स्वरूप मूलतः आंतरिक है और वे उचित प्रकार से 'ऐसा कीजिये' के रूप में व्यक्त नहीं किये जा सकते।

स्टीफेन के विचार, उनके मूल विश्वास से संबद्ध है कि मनुष्य और समाज का संबंध बाह्य एवं आकस्मिक न हो कर आंतरिक है। विश्व में व्याप्त विकास की प्रक्रिया ही उक्त विश्वास का मूल आधार है। इसके अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट है कि व्यक्ति और जाति के हितों में कोई असंबद्धता एवं विरोध नहीं अपितु वे अन्योन्याश्रित हैं और उनका पार्थक्य किसी भी यथार्थ एवं काल्पनिक स्थिति में संभव नहीं। मिल तथा बेंथम से उनका विचार नितांत भिन्न है।

विशिष्ट नैतिक गुण

विभिन्न नैतिक गुण एवं विशेषताओं की चर्चा करते हुए, स्टीफेन उन्हें एक विशेष क्रम में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें स्वकेंद्रिक विशेषताएँ निम्नतम हैं, क्योंकि वे वैयक्तिक दृष्टिकोण का अतिक्रमण करने में असमर्थ हैं। उच्च गुणों के अंतर्गत, वे सभी विशेषताएँ सम्मिलित हैं, जो सामान्यतः समाज एवं उसके हितों के संरक्षण में संलग्न हैं। हमारा संपूर्ण नैतिक जीवन विशेष अर्थ में इन्हीं परोपकारी वृत्तियों में केंद्रित हैं और ये अंतिम रूप से प्राकृतिक सहानुभूति में केंद्रित हैं। सहानुभूति की मूल वृत्ति मानव एवं समाज में विकसित होती हुई बौद्धिक शक्ति का सूचक है।

साहस[1] : स्टीफेन के विश्लेषण के अनुसार, नैतिक विशिष्टताओं के क्रम में जिस गुण को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है, वह 'साहस' है। इस गुण के विभिन्न रूपों एवं अभिव्यक्तियों की विस्तृत चर्चा स्टीफेन ने की है। और जीवन के अस्तित्व एवं संरक्षण की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। सर्वप्रथम साहस का वह सहज, प्राकृतिक रूप है, जो परिणामों की चिंता किये बिना ही व्यक्ति को कार्य-क्षेत्र में उतर आने के लिए प्रेरित करता है। उस गुण के समक्ष, यथार्थ जीवन की संकटकालीन स्थितियाँ कितनी भी विषम क्यों न हों, कार्य के लिए उसे हतोत्साहित करने के लिए पर्याप्त नहीं होतीं। विपरीततः जितनी ही विषम स्थिति होगी उतनी ही तीव्र कार्य करने की प्रेरणा का व्यक्ति अनुभव करेगा।

किंतु विकास के क्रम में 'साहस' की अभिव्यक्ति के इस प्राथमिक रूप में परिवर्तन होता जाता है। व्यक्ति में विवेक का उद्भव होता है और कार्य करने

---

1. Courage.

के पूर्व कार्य के स्वरूप एवं उसके परिणामों का चिंतन वह भलीभाँति कर लेता है। 'साहस' के रूप में भी अनिवार्यतः परिवर्तन हो जाता है। वह विशुद्ध दैहिक स्तर की अभिव्यक्ति न हो कर उत्तरोत्तर मानसिक विशेषता के रूप में व्यक्त होने लगती है। कठिन-से-कठिन स्थिति में मानसिक संतुलन बनाये रखना, व्यक्ति में उसकी उपस्थिति का निश्चित सूचक है।

जिस व्यक्ति में पर्याप्त मात्रा में संतुलन होता है, वह अविवेक युक्त कार्य में कभी प्रविष्ट नहीं होता। वह कार्य के पूर्व परिस्थिति विशेष का सूक्ष्म निरीक्षण करता है, मानसिक स्तर पर कार्य विधि एवं उसके परिणामों को समझ लेता है और यदि वे उचित प्रतीत होते हैं तो कार्य क्षेत्र में प्रविष्ट होता है, अन्यथा नहीं।

निःसंदेह उक्त मानसिक विशेषता, साहस की स्थूल दैहिक अभिव्यक्ति की अपेक्षा जैविक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए अधिक उपयोगी होती है और इसीलिए उसी अनुपात में वह महत्त्वपूर्ण भी है।

'साहस' की विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए, स्टीफेन कहते हैं कि स्वतः अपने में साहस एवं शौर्य नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'साहस' की अभिव्यक्ति के प्रति प्रशंसा का भाव तो अवश्य व्यक्त होता है, किंतु उसके प्रति उस आस्था की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो नैतिक अनुमोदन के साथ अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। जब 'साहस' उदार उद्देश्यों की पूर्ति की ओर प्रवृत्त होता है, तभी नैतिक विशेषता का उसमें आविर्भाव होता है, अन्यथा नहीं। अतएव जिस प्रकार 'स्फटिक'[1] स्वयं रंगविहीन होता है, किंतु जिस भी पृष्ठभूमि के समक्ष आता है अपने को उसी रंग में अभिरंजित कर लेता है, उसी प्रकार 'साहस' स्वतः नैतिक गुण शून्य है, किंतु जिस भी परिस्थितियों में व्यक्त होता है, उसी के अनुरूप गुण विकसित कर लेता है।

अतः 'साहस' को हम नैतिक जीवन की अनिवार्य स्थितियों में सम्मिलित कर सकते हैं किंतु नैतिक विशेषता के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। पुनः अपने विशुद्ध, परिपक्व, अत्यधिक समुन्नत रूप में भी उसकी मध्यस्थता से समाज की अपेक्षा व्यक्ति का हित ही अधिक महत्त्व रखता है। सामाजिक हित की, यदि पूर्ति भी होती है तो परोक्ष रूप से ही होती है। 'साहस' व्यावहारिक विशेषताओं के अंतर्गत सर्वाधिक महत्त्व रखने वाली विशेषता है, किंतु निश्चित ही विशुद्ध नैतिक विशेषताओं के मध्य उसे स्थान नहीं दिया जा सकता।

मिताचार[2] : उन्नत गुणों में 'संयम' का द्वितीय स्थान है। उसे गुणों के क्रम में 'दूरदर्शिता' के पश्चात् और सद्‌वृत्ति के पूर्व स्थान प्राप्त है। 'संयम' के विभिन्न रूपों

1. Crystal.
2. Temperance. संयम का भी प्रयोग हुआ है।

में 'सतीत्व' ही नैतिकता की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व रखने वाला है-क्योंकि उसके परिणाम लोकहित को प्रभावित करने वाले हैं। समाज की संरक्षण वृत्ति का वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में पोषण करता है और यदि समाज से उक्त गुण विलुप्त हो जाये तो समाज के कालांतर में क्षीण और अव्यवस्थित होने की निश्चित संभावना है।

विकास के क्रम के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त विशिष्टता दो दिशाओं में विकसित हो रही है। उसका कार्य क्षेत्र क्रमशः अधिक व्यापक होता जा रहा है और अपने परिवेश में वह बौद्धिक, भावनात्मक और दैहित सभी स्तरों पर समाविष्ट करती जा रही है। इन सभी में संयम का अभाव अवांछनीय है। द्वितीय, उसके स्वरूप में आमूल परिवर्तन आता जा रहा है। अपनी प्राथमिक स्थूल शारीरिक अभिव्यक्ति की अपेक्षा वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जा रही है और उत्तरोत्तर मानवीय चरित्र एवं प्रकृतिगत विशेषताओं के रूप में अभिव्यक्त होती जा रही है। विशुद्ध शारीरिक स्तर पर अपने को नियंत्रित रखने की क्षमता पर्याप्त नहीं और न ही उसकी अभिव्यक्ति के उन्नत-रूपों में उसकी गणना ही की जा सकती है। शारीरिक प्रक्रिया की अपेक्षा मानसिक उत्तेजना, यथा-वासना, अधिक अवांछनीय एवं निंदनीय ठहरायी जाती है।

पुनः स्टीफेन कहते हैं कि केवल अपने अरुचिकर परिणामों के कारण ही असंयम नैतिक दृष्टि से अननुमोदित नहीं। यदि समाज एवं व्यक्ति को असंयम से प्राप्त हानियों की गणना कर भी ली जाये, तो भी उसके आधार पर असंयमी व्यक्ति के प्रति मन में जो निःसीम अनादर एवं वितृष्णा की भावना का उद्रेक होता है, उसे स्पष्ट न किया जा सकेगा। असंयम के प्रति उक्त भावना की अनुभूति एक सूक्ष्म, संवेदनशील, भावनात्मक एवं बौद्धिक व्यक्तित्व द्वारा ही संभव है। अन्य शब्दों में, उसकी अनुभूति के लिए एक पूर्णतः नवीन व्यक्तित्त्व की जो आदिम मानवीय व्यक्तित्त्व से मूलतः भिन्न है, आवश्यकता है।

अपने कथन की पुष्टि में वे कहते हैं कि असंयम के संपूर्ण विषम पणिामों को एक असंयमी व्यक्ति के समक्ष रख दीजिये और उसमें किंचित् मात्र भी उसके प्रति अरुचि उत्पन्न न होगी। विकसित होते हुए नवीन व्यक्तित्व की उक्त अनुभूति एक अपूर्व विशेषता है। और परिणाममूलक आचार नीति, जो नैतिक-अनैतिक के निर्णय में एकमात्र परिणाम को ही महत्त्व देती है, उसके साथ न्याय करने में सर्वथा असमर्थ है।

उक्त प्रश्न पर अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए स्टीफेन स्वयं कहते हैं :

"वस्तुतः अत्याहारी व्यक्ति के लिए मन में जिस स्थायी भाव की उत्पत्ति

होती है, उसमें एक ऐसा तत्व सम्मिलित है, जिसकी गणना न तो अत्याहार में निहित अविवेक और न ही उस सामान्य अशक्तीकरण के आधार पर की जा सकती है, जो उसका सर्वाधिक स्पष्ट परिणाम हो सकता है।"[1]

"जहाँ भी इस प्रकार की आंतरिक अनुभूति का अस्तित्व होता है, उसका स्पष्टीकरण उक्त प्रकार से परिणामों के केवल योग के आधार पर ही नहीं किया जा सकता है।"[2]

वे पुनः कहते हैं :

"उच्च प्रकार के चरित्र का अनिवार्य अंग होने के कारण ही वह भावना उपयोगी है....उक्त संवेदनशक्ति से मुक्त होने के लिए आपको चारित्रक प्रकृति के स्तर को ही निम्न करना होगा अथवा परिणाम के बोध को ही नष्ट करना होगा।"[3]

स्टीफेन द्वारा 'उपयोगिता' के प्रत्यय में पर्याप्त संशोधन किया गया है। बाह्य परिणामों के आधार पर ही 'उपयोगिता' का निर्धारण नहीं किया जा सकता। ये महत्त्वपूर्ण अवश्य हैं किंतु सीमित अर्थ में ही। नैतिक दृष्टि से तो सूक्ष्म परिष्कृत संवेदन शक्ति एवं बुद्धि का विकास ही आवश्यक है, जो मानवीय प्रकृति को और उसकी मध्यस्थता से संपूर्ण सामाजिक जीवन को, जिसकी वह सदस्यता ग्रहण किये है आमूल रूप से परिवर्तित करने की क्षमता रखता है।

स्टीफेन के विचारों में, यह महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है, किंतु इसमें निहित अनिवार्य सत्यों को अनावृत्त करने की उन्होंने चेष्टा नहीं की।

सत्यता[4]: संयम के उपरांत 'सत्यता' का स्थान है। इस गुण में सर्वप्रथम एक ऐसी विशिष्टता प्रतीत होती है जो स्वतः मूल्यवान है। वह "स्वस्थतम सामाजिक स्थितियों का अत्यधिक परिपक्व फल है।"[5] उसकी तुलना जीवन की कोई भी विशेषता नहीं कर सकती और अपने पूर्ण विकसित रूप में वह मानवीय जीवन की समग्रता को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखती है। सत्यवादी विश्वसनीय व्यक्ति की प्रशंसा

---

1. "As a matter of fact, the sentiment actually entertained of the gluttonous man includes an element which is not measurable by the estimate of the imprudence implied in gluttony, nor of the general incapacitation which may be the most conspicuous result."
The Science of Ethics, p. 192.
2. "Wherever such an intrinsic feeling exists, it cannot be justified by summing up the consequences in the manner described. Ibid, 192.
3. It is "useful in the sense of being a necessary part of the higher type of character"...."To get rid of the sensibility you must lower the whole tone of the character or destroy the perception of consequence". Ibid, p. 193.
4. Truth.
5. "The ripest fruit of the healthiest social conditions."
The Science Of Ethics, p. 198.

करते हुए वे कहते हैं :

उस व्यक्तित्व में "भावनाओं एवं संवेगों के दमन की कल्पना नहीं की जा सकती प्रत्युत् उसमें उन सभी गुणों के सौम्य विकास की कल्पना की जाती है जिस पर समाज आधारित है; उच्चतम अर्थ में विश्वसनीय व्यक्ति के अंदर एक ऐसा स्वाभिमान विद्यमान है, जिसके कारण झूठ बोलना उसके लिए असंभव है; वह स्वस्थतम् सामाजिक स्थितियों का अत्यधिक परिपक्व फल एवं अंतिम परिणाम है।"[1]

पूर्व गुणों के समान इस विशेषता की अभिव्यक्ति में भी स्टीफेन विकास की दो स्थितियों को स्पष्ट स्वीकार करते हैं। प्रथम रूप में जो व्यक्ति सत्यवादी है, वह गणन यंत्र से किसी प्रकार भिन्न नहीं और सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसे व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं। वह मानव जाति के लिए किसी रूप में हितकर नहीं। किंतु अपने यथार्थ पूर्ण विकसित रूप में सत्यवादिता, विश्वसनीयता का ही पर्याय है और विश्वसनीय व्यक्ति, सामाजिक कार्य दक्षता की दृष्टि से, सर्वाधिक योग्य है।

किंतु स्टीफेन के मत में विश्वसनीय, सत्यवादी व्यक्ति 'स्वस्थतम सामाजिक स्थितियों का सर्वाधिक परिपक्व फल' ही है। वह उन स्थितियों का स्रष्टा एवं नियंता नहीं है। मानव जीवन का वह स्वरूप,जब वह उन स्थितियों का जिनके मध्य वह अपनी कार्य क्षमता विकसित करता है, स्वयं नियामक बन जाता है, उसका सर्वोत्कृष्ट रूप है। नैतिक जीवन की गरिमा की संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए, नैतिक चिंतन को यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण कदम अनिवार्यतः उठाना ही है। इसकी सर्वप्रथम स्पष्ट झलक पाश्चात्य विचार क्षेत्र में, हमें कांट में मिलती है और उसका पूर्ण विकसित रूप हमें अध्यात्मवादी हेगेल तथा उसके अनुयायी-ग्रीन, ब्रेडले आदि में मिलता है।

सामाजिक गुण

इसके उपरांत स्टीफेन न्याय[2] एवं लोक हितैषिता[3] दो विशिष्टताओं का वर्णन करते हैं, जो सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और गुणों के क्रम में शीर्ष पर हैं। 'न्याय' मानव में विकसित बौद्धिक क्षमता के चरम रूप का प्रतीक है। वह 'पर्याप्त कारणता के सिद्धांत'[4] की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। जीवन में जो कुछ

---

1. "So far from implying any suppression of passions or the emotions as such it implies the cultivation of all the qualities by which society is held together so that the man who is trustworthy in the highest sense, who has in all cases a self respect which makes it impossible for him to lie, is the final outcome, the ripest fruit of the healthiest social coditions."
Ibid, p. 198.
2. Justice.
3. Benevolence.
4. principle of sufficient reason.

भी किया जाता है, प्रत्येक का पर्याप्त कारण होना चाहिये। इस प्रकार पर्याप्त कारण को ले कर कार्य करना, सामान्य दृष्टिकोण से अथवा सामाजिक हित की दृष्टि से कार्य करना होता है ओर इसी की अभिव्यक्ति कांट ने अपने प्रथम सूत्र में की है : 'उस सूत्र के अनुसार कार्य कीजिये जिसे तत्क्षण आप सामान्य नियम के रूप में प्रस्तुत कर सकें।'[1]

मनुष्य नैतिक जीवन व्यतीत करने की सामर्थ्य रखता है; क्योंकि उसमें अपने निम्न व्यक्तित्व के अतिक्रमण की क्षमता विद्यमान है। उसका ससीम, संकुचित व्यक्तित्व व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखता है, किंतु उसके जीवन का सामान्य पक्ष-जिसके द्वारा वह समस्त चेतन इकाइयों से आंतरिक स्तर पर संयुक्त है ही वस्तुतः अंतिम रूप से महत्त्वपूर्ण है। वही पक्ष उसके यथार्थ तात्विक स्वरूप को प्रकाशित करता है। अतएव, जीवन के नैतिक पक्ष के प्रस्तुतीकरण में इस पक्ष की अवज्ञा नहीं की जा सकती। सभी दार्शनिकों ने, किसी-न-किसी रूप में इसकी महत्ता को स्वीकार किया है।

स्टीफेन ने भी जीवन के सामाजिक पक्ष को महत्त्व दे कर इस पक्ष की महत्ता को स्वीकार किया है। बेंथम तथा मिल के विचारों में जीवन के इस पक्ष को समुचित रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, क्योंकि उनका मानवीय प्रकृति का विश्लेषण ही मूलतः दोषप्रद था।

स्टीफेन के अनुसार लोकहितैषिता सहानुभूति की मूल प्राथमिक भावना का ही परिष्कृत और परिपक्व रूप है और जब वह पूर्णतः विकसित हो जाती है, तो उसमें और 'न्याय' में कोई अंतर नहीं रह जाता, वे दोनों एक-दूसरे में, इस प्रकार व्याप्त हो जाते हैं कि अपने पूर्ण विकसित संयुक्त उन्नत रूप में, वे जीवन के पावन एवं मंगलमय पक्ष की सहज अभिव्यक्ति करते हैं।

यथार्थ जीवन में, विकास की अपूर्ण अपरिपक्व स्थिति में, इन दोनों में प्रायः विरोध एवं संघर्ष दृष्टिगत होता है। किंतु यदि जीवन के तथ्यों का हम सूक्ष्म अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि एक अविवेकपूर्ण लोकहितैषिता का ही 'न्याय' से संघर्ष होता है। वस्तुतः जीवन में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और अपने योग से जीवन को पूर्ण और समृद्ध बनाते हैं। अपने अंतिम रूप में मानवीय संकल्प के लिए 'परोपकारी बनो' और 'न्याय युक्त आचरण करो' दो भिन्न आदेश नहीं हैं। सामाजिक स्तर पर दक्षता अर्जित करने के लिए ये दोनों ही विशेषताएँ अनिवार्य हैं और उद्देश्य की दृष्टि से उनमें पूर्ण ऐक्य है। एक परोपकारी एवं न्यायी व्यक्ति ही यथार्थ में उन सभी माँगों के प्रति न्याय कर सकता है, जो सामाजिक समग्रता के लिए अपेक्षित है।

---

1. Act only on the maxim which thou canst at the same time will to become a universal law.

एक गत्यात्मक सामाजिक संगठन में, किस प्रकार व्यक्ति उन भिन्न माँगों की पूर्ति सफलतापूर्वक कर सकता है, जो अपेक्षित है, इसका विस्तृत विश्लेषण स्टीफेन ने 'समाज में व्यक्ति का स्थान और तद्जन्य कर्तव्य' नामक सिद्धांत में किया है। अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थक ब्रेडले ने भी इसी सिद्धांत का समर्थन अपने दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि में किया है, जिसकी चर्चा आगे पूर्णतावाद के अंतर्गत की जायेगी। दोनों विचारकों के अनुसार एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना तभी संभव हो सकेगी जब समाज का प्रत्येक सदस्य समाज में अपने विशिष्ट स्थान को समझते हुए निष्ठा एवं सम्मानपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करता चला जायेगा।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से पार्थक्य

डार्विन के मूल सिद्धांत तथा स्पेंसर द्वारा नैतिक विचार के क्षेत्र में, उसके प्रयोग से स्टीफेन के विचार प्रभावित हैं। अतएव बेंथम और मिल के विचारों से वह कुछ विशेष बातों पर भिन्न मत रखते हैं। स्टीफेन के विचारों के समुचित प्रस्तुतीकरण हेतु उन विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक है, जिनके कारण दोनों दृष्टिकोण एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं।

उपयोगितावादी आचार-नीति मानवीय नैतिक जीवन का एक अपूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है, और इसलिए स्टीफेन के विचारों के आधार पर, उसमें संशोधन नितांत आवश्यक है। उपयोगितावाद के अनुसार, मानवीय प्रकृति मूल रूप से आणुविक है और समाज से स्वतंत्र एवं पृथक् उसका अपना स्थायी अस्तित्व है। सामाजिक जीवन का विकास, मूलतः उसके अपने व्यक्तिगत हित की दृष्टि से ही होना चाहिये और जैसे उसका अपना हित समाज द्वारा सिद्ध होता जाता है, सम्मिलित जीवन में उसकी आस्था बढ़ती जाती है और सामाजिक बंधन सुदृढ़ होते हैं।

पुनः उनका विश्वास है कि प्रत्येक कार्य एवं घटना का भी आणुविक रूप है और उनके नैतिक मूल्य का निर्धारण, उनसे उत्पन्न सुख एवं दुःख के परिमाण के आधार पर किया जा सकता है। इन दोनों स्वीकृतियों का, यदि हम अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि यदि किन्ही कारणों से 'समाज' विश्रृंखलित हो जाये तो व्यक्ति का अस्तित्व उस घटना से अप्रभावित रह सकता है और उसकी जैविक रचना एवं प्रकृति के मूल रूप में, उस परिवर्तन द्वारा किसी प्रकार का अंतर नहीं आयेगा।

किंतु स्टीफेन के विचार के अनुसार यह संभव नहीं है; उनके विचार में उपयोगितावादी सिद्धांत, मानवीय प्रकृति तथा उससे संबद्ध तथ्यों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं करता। उपयोगितावाद के समर्थक पूर्ण अनुभववादी हैं और जीवन के आणुविक रूप में उनकी आस्था है। यही कारण है कि तात्विक दृष्टि से जीवन के सूक्ष्म और गहनतम पक्षों के साथ, वे समुचित न्याय करने में असमर्थ हैं। प्रत्येक

व्यक्ति का जीवन वस्तुतः उस सामाजिक जीवन से अनुप्राणित है, जिसकी वह अनिवार्य सदस्यता ग्रहण किये हुए है। उस जीवन में पृथक् उसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। उस सामाजिक तंतु से, जिससे अनिवार्यतः उसकी आंतरिक प्रकृति का निर्माण हुआ है, उसकी पृथक् कल्पना करना, उसके यथार्थ रूप को कृत्रिम रूप से प्रस्तुत करना है। समाज के विघटित होने के साथ-साथ, व्यक्ति का व्यक्तिगत अस्तित्व भी उसी अनुपात में विशृंखलित एवं अव्यवस्थित हो जायेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

निष्कर्ष यह कि उपयोगितावाद मानव जीवन के बाह्य पक्षों से ही संबद्ध है। जीवन के सूक्ष्म एवं गहन पक्षों के संबंध में उसकी अंतर्दृष्टि अस्पष्ट है। अतएव वह जीवन के तात्कालिक लक्ष्य को ही परिभाषित करने में सफल हो सका है। उसके अनुसार मानव जीवन की विशिष्ट सहज वृत्तियाँ सुख की उपलब्धि से संतुष्ट हो जाती हैं। इसलिए सुख प्राप्ति ही जीवन का सहज और वांछनीय लक्ष्य है। निःसंदेह तात्कालिक लक्ष्य की व्याख्या की दृष्टि से, सुख प्राप्ति ही प्रथम दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्व रखने वाला लक्ष्य प्रतीत होती है। किंतु इस लक्ष्य को जीवन के अंतिम तथा स्थायी लक्ष्य के रूप में स्वीकार करना संभव नहीं।

अंतिम तथा स्थायी लक्ष्य के रूप में स्टीफेन ने सामाजिक अस्तित्व एवं उसके संरक्षण को स्वीकार किया है। इस लक्ष्य की पूर्ति द्वारा अनिवार्यतः व्यक्ति का अपना वैयक्तिक लक्ष्य स्वतः सिद्ध होता चला जायेगा। सामाजिक कार्य दक्षता प्राप्त करना मानवीय संकल्प का परम लक्ष्य है और यदि व्यक्ति को अपने अस्तित्व को तथा उससे संबंधित हितों को बनाये रखना है, तो समाज के अस्तित्व के लिए-उसके हित लिए, अनिवार्यतः उसे प्रयत्नशील होना ही है। जिस सत्ता पर उसका अपना अस्तित्व एवं संरक्षण एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में आश्रित है, उसकी अवज्ञा, वह अपने व्यक्तिगत हित में कर ही नहीं सकता; जीवन में इससे अधिक महत्त्व रखने वाला, किसी अन्य अनिवार्यता की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

उपर्युक्त विचार से इतना स्पष्ट है कि उपयोगिता की अपेक्षा विकासवादी सिद्धांत मानवीय जीवन का एक समग्र चित्र अंकित करता है। उपयोगितावाद का आंशिक सत्य अनिवार्यतः इस व्यापक सत्य में समाहित है जैसे अपूर्णता पूर्णता में समाहित रहती है।

नैतिकता का स्वतः साध्य रूप

स्टीफेन उपयोगितावादी दृष्टिकोण से एक अन्य बात पर भी भिन्न मत रखते हैं। उपयोगितावाद के अनुसार मानवीय नैतिक जीवन केवल साधन रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं, साध्य रूप में नहीं। किंतु, स्टीफेन के अनुसार नैतिकता का संबंध मानव

की मूल जैविक प्रकृति से है, वह आकस्मिक एवं बाह्य आरोपित नहीं। उसका विकास नितांत सहजता से होता है और उस विकास द्वारा मानवीय व्यक्तित्व में जो कुछ भी वांछनीय है, वह स्वतः स्पष्ट होता जाता है। नैतिक जीवन न तो बाह्य आरोपित है। और न ही वह जीवन के बाह्य उद्देश्यों से संबद्ध है। वह जीवन के अंतराल से निःसृत होता है और मानवीय व्यक्तित्व के सर्वश्रेष्ठ तत्वों को व्यंजित करता है।

'रुचि का साध्य से साधन में सहानुभूतिपूर्ण स्थानांतरण की'[1] जिस युक्ति के आधार पर मिल ने नैतिकता में मानवीय रुचि का स्पष्टीकरण किया है, वह उचित नहीं। कंजूस व्यक्ति का जो उदाहरण मिल ने प्रस्तुत किया, वह संतोषप्रद नहीं है। एक कंजूस व्यक्ति सुख की सामान्य माँग के लिए अपवाद नहीं प्रस्तुत करता। उसके जीवन की विशेषता को वक्र-विधि से समझाने की चेष्टा करने की कोई आवश्यकता नहीं। कंजूस व्यक्ति भी सुख के लिए ही प्रमुख रूप से जीवित रहता है। किंतु वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपने हित की सुरक्षा की दृष्टि से अधिक सतर्क है और उसकी यही विशेषता उसके लिए अंत में घातक सिद्ध होती है।

पुनः स्टीफेन के अनुसार, उपयोगितावादी तर्क, एक अन्य भ्रांति पर आश्रित है। उनके अनुसार सुख सफल क्रिया के अंत में प्राप्त होने वाली वस्तु है। यह सत्य है कि साधारणतः सुख की अनुभूति सफल क्रिया के अंत में ही होती है, किंतु क्रिया से स्वतः भी किसी भी स्थिति में उसका उद्भव हो सकता है। अतएव 'रुचि का साध्य से साधन में सहानुभूतिपूर्ण स्थानांतरण' की युक्ति कुछ उचित नहीं प्रतीत होती। मनुष्य अपनी जैविक अंतःप्रकृति की दृष्टि से केवल एक स्व-केंद्रिक इकाई नहीं। यदि उसके जीवन का वही एकमात्र सत्य होता, तो किसी भी व्यावहारिक सुविधा के विचार द्वारा उसमें इस प्रकार की परोपकार वृत्ति का पोषण न होता जो हमारे नैतिक जीवन का आधार-बिंदु है। व्यक्ति में वस्तुतः परोपकार वृत्ति उतनी ही मूल एवं प्राथमिक है, जितनी स्वार्थवृत्ति। ये दोनों उसके जीवन के अनिवार्य सापेक्ष तत्वों को व्यक्त करते हैं और इसमें से किसी एक तत्व की संपूर्ण अवज्ञा उसके व्यक्तित्व के समुचित प्रकाशन के लिए बाधक होता है। परोपकारवृत्ति उसके जीवन की आंतरिक माँग को व्यक्त करती है, क्योंकि, उसका व्यक्तित्व समाज की समग्रता के साथ अनिवार्य रूप से संबद्ध है। अतएव वैयक्तिक एवं सामाजिक हितों के मध्य ऐक्य उसकी अंतःप्रकृति के लिए विजातीय तत्व नहीं। बीज रूप में वह 'ऐक्य' उसके व्यक्तित्व में प्रारंभ से विद्यमान है और विकास की प्रक्रिया सचेतन स्तर पर मानवीय संकल्प द्वारा उसके संपूर्णतः आत्मसात होने की प्रक्रिया है, ताकि भविष्य में वह उसके जीवन की एकाकी निष्ठा बन सके।

---

1. Sympathetic transference of interest from end to means.

'उपयोगी' शब्द का यथार्थ अर्थ

'उपयोगी' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण वर्तमान संदर्भ, में, सर्वाधिक महत्त्व रखता है। स्टीफेन उपयोगितावाद द्वारा स्वीकृत 'उपयोगी' शब्द के विशिष्ट अर्थ को अस्वीकार करते हैं। उनकी अस्वीकृति पूर्वाभिव्यक्त विचारों के अनुरूप ही है। यदि 'नैतिकता' साध्य रूप में ही महत्त्वपूर्ण है, तो मानवीय चरित्र एवं परिस्थिति की कोई भी विशेषता उसकी मूल प्रकृति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकती। नैतिक नियम सामाजिक दृष्टि से शाश्वत एवं अनाक्राम्य है। मानवीय संकल्प के लिए, वे विशेष प्रकार की बाध्यता रखते हैं, जो अन्य किसी प्रकार के नियम नहीं रखते।

किंतु, उपयोगितावाद नैतिक जीवन तथा उससे संबद्ध नियम को साधन रूप से ही महत्त्वपूर्ण मानता है। तब किस प्रकार और किस विशेष अर्थ में, उन नियमों को शाश्वत और अनाक्राम्य माना जा सकता है? परिस्थिति विशेष के अनुरूप समय-समय पर, उन नियमों में उनकी उपयोगिता की दृष्टि से परिवर्तन लाना ही होगा। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि सामान्यतः स्वीकृत उनके शाश्वत एवं अनाक्राम्य रूप को ऐसी किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है? प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक सुविधा के अनुरूप, आचरण करने का अधिकार प्राप्त होगा और नैतिक जीवन के नियामक पक्ष को, उससे संबद्ध मूल प्रत्ययों को साध्य रूप में बनाये रखना संभव न होगा। अतएव स्टीफेन नैतिक जीवन के इस प्रस्तुतीकरण को तथा इससे संबद्ध अनिवार्य निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं। अपने विकासवादी सिद्धांत के अनुरूप वे नियमों के सामान्य, शाश्वत और अबाध्य रूप की विशेष सापेक्ष अर्थ में स्वीकार करते हैं। सामाजिक-नैतिक नियम देख-काल एवं जैविक अंतःप्रकृति के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए, सामान्य स्थितियों में विकास की एक विशेष स्वीकृत स्थिति में वे निश्चित ही शाश्वत एवं अनाक्राम्य है। किसी भी व्यक्ति को अधिकार नहीं कि वह अपनी वैयक्तिक सुविधा के अनुरूप परिवर्तन ला सके।

किंतु, असाधारण स्थिति में या बदलती हुई सामाजिक स्थिति में, विशेष सूझ-बूझ एवं नैतिक अंतर्दृष्टि रखने वाले व्यक्ति को, जीवन की नवीन माँगों के अनुरूप उनमें परिवर्तन लाने का शत-प्रतिशत अधिकार है। उन सीमाओं के अंदर वे शाश्वत एवं अनाक्राम्य नहीं हैं और अतिक्रमण के उपरांत भी उन नैतिक नियमों की मान्यता, उनकी गरिमा में किसी प्रकार की कमी नहीं लाती, क्योंकि अंतर्दृष्टि रखने वाला व्यक्ति, जब उनमें संशोधन लाने की चेष्टा करता है, तब वह निजी वैयक्तिक हितों एवं स्वार्थों से प्रेरित होकर कार्य नहीं करता, व्यक्ति एवं समाज का स्थायी हित उसकी प्रेरणा का अंतिम स्रोत होता है। अतएव परिवर्तन बाह्य एवं

आकस्मिक नहीं होता। वह स्वेच्छा से नहीं लाया जाता, इसलिए वह अकारण नहीं होता। समस्त सामाजिक संगठन की तथा उसमें स्थित मनुष्य की, गहनतम प्रकृति की आंतरिक रचना की दृष्टि से यदि नियमों में संशोधन वांछनीय समझा जाता है, तभी उन्हें लाने की चेष्टा की जाती है, अन्यथा नहीं। अतएव सामान्य नैतिक नियम विशिष्ट अर्थ में सामान्य भी हैं और गत्यात्मक भी और इन दोनों पक्षों में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। विकास की मध्यस्थता से वे नियम क्रमशः अपनी पूर्ण एवं समग्र अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

स्टीफेन के विचारों में 'उपयोगिता' के संबंध में, एक नवीन दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति मिलती है। नैतिक नियम विकास की एक स्वीकृत स्थिति में उपयोगी है और इसीलिए वे मूल्यवान भी हैं। किंतु जैसा कि नैतिक नियम के विषय में कहा जा चुका है, उनकी 'उपयोगिता' नैतिक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए स्थायी जैविक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए, बाह्य और आकस्मिक नहीं है। अस्तु, विकासवादी सिद्धांत के अंतर्गत विशेष रूप से स्टीफेन के विचारों में, 'उपयोगिता' के प्रत्यय को एक नूतन दृष्टिकोण से पुनः परिभाषित करने की चेष्टा की गयी है, जो यथार्थता के कुछ अधिक निकट प्रतीत होती है।

उपसंहार

विकासवादी आचार-नीति का विवेचन समाप्त होता है। उसके प्रमुख निष्कर्ष स्पष्ट हैं। नैतिक जीवन का उद्‌भव, बाह्य आकस्मिक कारणों से नहीं, प्रत्युत् जीवन की अंतरंग गहनतम रचना से होता है-यह विकासवादी सुखवाद की प्रथम महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। इसी से संबद्ध और विशिष्ट अर्थ में इसी के परिणामस्वरूप उसकी द्वितीय स्वीकृति है-जीवन साधन रूप में नहीं, प्रत्युत् साध्य रूप में महत्वपूर्ण है। तृतीय और अंतिम स्वीकृति, सुख तथा जैविक लक्ष्य के तादात्म्य से संबंधित है। विकास की प्रक्रिया द्वारा विकास की भावी स्थितियों में जैविक हितों और सुख में वर्तमान विरोध लक्षित होता है और वह क्रमशः क्षीण होता जायेगा और दोनों के मध्य एक सहज प्राकृतिक-साम्य स्थिति स्थापित हो जायेगी।

समीक्षात्मक दृष्टि से, जब हम इस सिद्धांत का अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वह मानवीय प्रकृति तथा उसमें संबद्ध पृष्ठभूमि का, एक अधूरा चित्र ही प्रस्तुत कर पाता है। यह सत्य है कि एक विशेष अर्थ में मानव जीवन का सुख एवं संतोष उसकी समायोजन क्षमता पर आश्रित है। यह भी सत्य है कि सामाजिक इकाई के स्वास्थ्य तथा उसकी कार्य-क्षमता द्वारा मानव जीवन का अस्तित्व, उसकी योग्यता एवं दक्षता महत्त्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित है। किंतु यह

भी उतना ही सत्य है कि मानवीय स्तर पर आते-आते जैविक इकाई तथा वातावरण से उसके अपने संबंध में एक आमूल परिवर्तन दृष्टिगत होता है, जिसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती। मानवीय इकाई, अन्य जैविक इकाइयों की अपेक्षा वातावरण के साथ सक्रिय रूप से संयुक्त है और वातावरण की अपेक्षा वह स्वयं अधिक महत्त्वपूर्ण होती जाती है। मनुष्य, अन्य शब्दों में, क्रमशः वातावरण पर अपना आधिपत्य बढ़ाता जाता है और एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में, उसका निर्देशक और नियंता बन जाता है, जिसकी कल्पना निम्नस्तरीय जैविक इकाइयों के संबंध में नहीं की जा सकती। वह इस अर्थ में 'विशिष्ट' है।

मानवीय जीवन के इस पक्ष की महत्ता को पर्याप्त अंतर्दृष्टि के साथ इस सिद्धांत ने ग्रहण नहीं किया है। मनुष्य उन सामाजिक स्थितियों की, जिनके मध्य वह कार्य करता है, केवल ऐसी यंत्रवत् उत्पत्ति नहीं, जिसका कि अपना कोई व्यक्तित्व एवं अस्तित्व नहीं है। विपरीततः वह उन स्थितियों का नियामक एवं नियंता भी है और वह उनके अतिक्रमण की भी क्षमता रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस वातावरण के मध्य, उसकी दैहिक इकाई की उत्पत्ति होती है, उन्हें अर्थ एवं महत्त्व प्रदान करने वाला वह स्वयं है। उसकी प्रकृति एवं प्रयोजन को समझने की, उसमें व्याप्त प्रयोजन को ग्रहण करने की तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसका नेतृत्व स्वीकार करने की-उसे अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक ले चलने की, उसमें समुचित अंतर्दृष्टि एवं क्षमता विद्यमान है। वह एक ऐसे विश्व का प्राणी है, जिसका उसने स्वतः निर्माण किया है और जिसके भविष्य की बागडोर शत्-प्रति-शत् उसके अपने हाथ में है। और यदि इससे भिन्न वह अपने को क्षीण, दुर्बल तथा असमर्थ पाता है तो इसका एक ही कारण है कि वह अपने में निहित असीम शक्ति एवं सामर्थ्य से अनभिज्ञ है और उसे समझने की उसने पर्याप्त चेष्टा नहीं की है।

उसके जीवन के नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं धार्मिक पक्षों द्वारा उक्त निष्कर्ष पोषित है। किंतु जीवन के इन पक्षों के साथ विकासवादी सुखवाद ने न्याय नहीं किया। पाश्चात्य विचारकों में-विशेष रूप से कांट, हेगल और उसके अनुयायियों के विचारों का जब हम अध्ययन करते हैं, तब मानव जीवन के इस पक्ष की गरिमा पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। इन विचारकों का अध्ययन आगामी अध्यायों का विषय होगा। किंतु इससे पूर्व 'आदर्शवादी उपयोगितावाद'[1] की आचार-नीति संबंधी व्याख्या से हम परिचित होना चाहेंगे जिसने उपयोगितावादी सिद्धांत को नवीन रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

oo

1. Idealistic utilitarianism.

अध्याय छः

आदर्श उपयोगितावाद[1]

नैतिक[1] विचार के क्षेत्र में 'मूर' आदर्श उपयोगितावाद के समर्थक हैं। उपयोगितावाद के पूर्व समर्थकों के विपरीत केवल 'सुख' जीवन के परम श्रेयस के रूप में उन्हें स्वीकार्य नहीं है। इसके अतिरिक्त जीवन की अन्य विशेषताओं में से, यथा-ज्ञान, धन, यश, मान, सम्मान, सदाचार आदि, किसी एक को परमशुभ के रूप में स्वीकार करने के लिए वे तैयार नहीं। उनके मत में 'शुभ' एक अपूर्व प्रत्यय है, जिसका प्रयोग एक समग्र अनुभूति के लिए ही किया जा सकता है और उक्त अनुभूति का प्रत्येक तत्व, उसके विशिष्ट अस्तित्व एवं मूल्य के लिए अनिवार्य होता है। ये तत्व स्वयं अनुभूति में अथवा उससे पृथक् न्यूनाधिक मात्रा में मूल्य रख सकते हैं, किंतु परम मूल्य का स्थान ग्रहण करने का उन्हें अधिकार नहीं।

मूर का दृढ़ विश्वास है कि तथाकथित समग्र अनुभूति का प्रत्येक तत्व उस इकाई से पृथक् निजी अस्तित्व एवं मूल्य रखता है। वह भावात्मक, अभावात्मक अथवा नगण्य मूल्य भी रख सकता है, किंतु जब वह उस विशिष्ट इकाई में अन्य तत्वों के साथ सम्मिलित होता है, तब समग्र इकाई के मूल्य में उसका योग वैयक्तिक मूल्य से नितांत भिन्न होता है। अपने इसी विचार को उन्होंने अपनी पुस्तक 'प्रिंसपिया एथिका'[2] में व्यक्त किया है।

'शुद्ध' का अपरिभाष्य रूप

समग्र अनुभूति की विशेषता के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'शुभ'[3] शब्द के विषय में विचार व्यक्त करते हुए मूर कहते हैं कि 'शुभ मूलतः अपरिभाष्य है। उनका विचार है कि जीवन के सरलतम प्रत्यय[4] मूलतः अपरिभाष्य ही हैं, क्योंकि विषम इकाइयों की परिभाषा में उनका प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाता है। अन्य

---

1. Ideal utilitarianism. इविंग और रॉस ने मूर को आदर्श उपयोगितावाद के समर्थक के रूप में स्वीकार किया है। कुछ पुस्तकों में इन्हें नव्य–अंतःप्रज्ञावाद के अंतर्गत स्थान देने की चेष्टा की है। वारनक इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। किंतु मेरे अपने मत में 'मूर' में दोनों दृष्टिकोण का समन्वय मिलता है। अंतःप्रज्ञा की मूल–स्वीकृति को स्वीकार करते हुए, ये अंततः प्रयोजनवादी दृष्टिकोण के ही समर्थक हैं। इसीलिये वर्तमान खंड के अर्तगत इन्हें प्रस्तुत किया गया है।
2. Principia Ethica.
3. Good.
4. Simples.

शब्दों में विश्लेषण की प्रक्रिया, जिन तत्वों को अंतिम एवं अविश्लेषणीय स्वीकार करती है तथा जिनके आधार पर, वह उन विषम इकाइयों का स्पष्टीकरण करती है, जिनके निर्माण में उनका योग है, उन्हें किस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है?

अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए मूर कहते हैं 'लाल' तथा 'पीला' प्रत्यय भी इसी प्रकार सरल विशेषताओं से संबद्ध होने के कारण अपरिभाष्य हैं। यदि 'लाल' को हम परिभाषित करना चाहें तो उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'लाल-लाल है'। हम अनुभव में आने वाली इन विशेषताओं की ओर लक्ष्य करके केवल इतना ही कह सकते हैं कि ये लाल है, किंतु रंगांध व्यक्ति को किसी भी प्रकार रंग का बोध नहीं हो सकता। यही बात 'शुभ' के विषय में भी है। ऐसा व्यक्ति, जिसमें नैतिक प्रत्यय की क्षमता कुंठित है अथवा जिसमें उसका समुचित विकास नहीं हो सका है, उसके विशिष्ट अविश्लेषणीय स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकता। इस संदर्भ में मूर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं:

"यदि मुझ से प्रश्न किया जाये कि शुभ क्या है? तब मेरा उत्तर होगा 'शुभ शुभ है' और यह बात यहीं समाप्त हो जायेगी।"[1]

वे पुनः कहते है :

"मेरा तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'पीला' एक सरल प्रत्यय है, उसी प्रकार 'शुभ' भी एक सरल प्रत्यय है और जिस प्रकार ऐसे व्यक्ति को, जिसे पीले रंग का बोध नहीं उसे आप किसी भी प्रकार उसकी विशेषता का ज्ञान नहीं करा सकते, उसी प्रकार शुभ के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार की परिभाषाएँ, मैं चाहता, हूँ-'परिभाषाएँ, जो केवल यह नहीं बतलातीं कि शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होता है, प्रत्युत् शब्द द्वारा व्यक्त वस्तु एवं प्रत्यय की प्रकृति का भी बोध कराती हैं, तभी संभव है जब वस्तु अथवा विषम हो।"[2]

पुनः वे विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं :

"पीला एवं शुभ हमारे विचार से विषम नहीं, वे उसी प्रकार के सरल

---

1. If I am asked 'what is good ?' my answer is that good is good, and that is the end of the matter."

   Principia Ethica, p.6.

2. "My point is that 'good' is the simple notion just as 'yellow' is a simple notion, that, just as you can not, by any manner or means, explain to any one who does not already know it, what yellow is, so you can not explain what good is, Definitions of the kind that I was asking for, definitions, which describe the real nature of object or notion denoted by a word, and which do not merely tell us, what the word is used to mean, are only possible when the object or notion in question is something complex.

   Ibid, p.7

प्रत्यय हैं, जिनसे परिभाषाएँ निर्मित होती हैं और जिनके साथ पुनः परिभाषित करने की क्षमता का अंत हो जाता है।"[1]

गुणार्थक शुभ तथा द्रव्यार्थक शुभ[2]

मूर, गुणार्थक शुभ तथा द्रव्यार्थक शुभ, दो प्रकार के प्रत्ययों में, स्पष्ट भेद करते हैं। गुणार्थक शुभ से उनका तात्पर्य एक विशिष्ट अविश्लेषणीय सरल विशेषता से है और द्रव्यार्थक शुभ से उनका अभिप्राय उस समग्र अनुभूति से है, जिसके लिए उक्त विशेषण का प्रयोग किया जाता है। प्रथम विशेषण है और द्वितीय विशेष्य है। जब सामान्यतः लोग 'शुभ' को परिभाषित करने की चेष्टा करते हैं, तब वे प्रमुख रूप से उसके द्वितीय स्वरूप की ही कल्पना करते हैं। वे उस विशेष्य में से, जिनमें अनेक घटक विद्यमान हैं और जो सम्मिलित रूप से द्रव्यार्थक शुभ का निर्माण करते हैं, किसी एक तत्व को पृथक् कर लेते हैं और उसे ही शुभ के पर्याय के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इसी कारण उनके विचार में दोष आना स्वाभाविक है और मूर इस दोष को प्रकृतिवादी दोष[3] की संज्ञा देते हैं।

मूर का विश्वास है कि 'लाल' और 'पीला' की भाँति शुभ भी एक वस्तुनिष्ठ विशेषता है और वह मानवीय कल्पना की कृतिमात्र नहीं है। 'सुंदर' भी इसी प्रकार व्यक्तिनिष्ठ विशेषता न हो कर वस्तुनिष्ठ विशेषता ही है। 'सुंदर' एक व्यक्तिनिष्ठ विशेषता हो सकती है, इस भ्रांति को नष्ट करने के लिए 'मूर' शुभ के संदर्भ में उसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, वह एक ऐसी विशेषता है 'जिसका प्रशंसात्मक अनुचिंतन स्वतः शुभ है।'[4] सुंदरता प्रायः आंतरिक मूल्य युक्त समग्र अनुभूति का अभिन्न घटक हो सकती है।

आंतरिक शुभताः सावयविक एकता के सिद्धांत का प्रतिपादन[5]

नैतिक विचार का संबंध, मूलतः आंतरिक शुभता से है-एक ऐसी शुभता से है, जो जीवन में साधन रूप में महत्व न रखती हो, प्रत्युत् साध्य रूप में महत्व रखती हो। 'मूर' के अनुसार आंतरिक शुभता अनिवार्यतः मानवीय अनुभव का ही रूप होती है। मानवीय अनुभूति के अतिरिक्त, विश्व में, किसी भी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसको साध्य रूप में अथवा आंतरिक मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। उक्त अनुभूतियों में सौंदर्यात्मक अनुभूति तथा वैयक्तिक

---

1. "Yellow and good we say are not complex; they are notions of that simple kind out of which definition are composed and with which the power of further defining ceases.' Ibid, p. 8, see also pp. 9-10
2. Good, the good; adjectival good, substantive good.
3. Naturalistic fallacy.
4. "It is that of which the admiring contemplation is good in itself." Principle Ethica, p. 201.
5. Priniciple of organic unity. आंतिक एकता शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।

स्नेह[1] विशेष महत्व रखती हैं और इन दोनों में से प्रथम की अपेक्षा द्वितीय मूल्य के क्रम में शीर्ष का स्थान ग्रहण करती है। सौंदर्यात्मक अनुभूति साध्य रूप में महत्वपूर्ण होते हुए भी वैयक्तिक स्नेह से निम्न स्थान ग्रहण करती है और उसमें अनिवार्य घटक के रूप में प्रायः सम्मिलित रहती है। इस प्रकार वह अपनी उपस्थिति से जीवन की उच्चतम समग्रता के निर्माण में सक्रिय योग देती है।

उक्त मानवीय अनुभूतियों की विस्तृत व्याख्या करते हुए, वे सावयविक एकता के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं जिसके अनुसार सावयविक एकता का आंतरिक समग्र मूल्य न तो उसमें सम्मिलित घटक तत्त्व के पृथक् मूल्यों के गणितीय योग में है और न ही उसके किसी अनुपात में ही है।[2] इस सिद्धांत को समझने के लिए गणितीय एकता के स्वरूप को समझना आवश्यक है। गणितीय एकता का संपूर्ण मूल्य, उसमें सम्मिलित घटक तत्वों से पृथक् मूल्यों के गणितीय योग अथवा उसके विशिष्ट अनुपात से, पृथक् हो ही नहीं सकता।

इस संदर्भ में आंगिक एकता की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं :-

(1) आंतरिक शुभता एक ऐसी समग्र अनुभूति है, जो अपने में एक से अधिक घटक समाविष्ट रखती है। यदि वर्तमान संदर्भ में 'मूर्त सामान्य'[3] शब्द का प्रयोग किया जाये तो संभवतः उक्त इकाई की प्रकृति की अभिव्यक्ति हेतु वह उचित ही होगा।

(2) इनमें से प्रत्येक घटक, उस समग्र अनुभूति के अस्तित्व एवं मूल्य के लिए अनिवार्य है, क्योंकि उसके अभाव में न तो उसके अस्तित्व की और न ही उसके मूल्य की कल्पना की जा सकती है।

(3) इनमें से प्रत्येक घटक स्वतः एक स्वतंत्र अस्तित्व एवं मूल्य रखने वाली इकाई है। उसका मूल्य भावात्मक, अभावात्मक अथवा नगण्य[4] भी हो सकता है और यह मूल्य उसकी स्थायी संपत्ति के रूप में विशेषता है, चाहे समग्र अनुभूति के अस्तित्व में समाविष्ट इकाई के रूप में उसका अस्तित्व रहे अथवा न रहे। आंगिक एकता सिद्धांत के अंतर्गत, 'मूर' के विचार में समग्र अनुभूति से पृथक् उसके अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है।

(4) इन घटक तत्वों का निजी मूल्य कितना ही अधिक क्यों न हो, किसी

---

1. Aesthetic experience; personal affection.
2 "The intrinsic value of the whole is neither identincal with nor proportional to the sum of the values of its parts." Also, pp. 27 & 28.
3. Concrete universal मूर्त सामान्य का पाश्चात्य दर्शन में एक विशेष अर्थ में प्रयोग होता है। अध्यात्मवाद ने 'परम सत्' के स्वरूप के स्पष्टीकरण में इस शब्द का प्रयोग किया है।
4. Positive, negative, indifferent.

को भी समग्र अनुभूति के संपूर्ण मूल्य में शत-प्रति-शत योग देने का अधिकार प्राप्त नहीं। अतएव जिन चिंतकों ने किसी एक तत्व को समग्र अनुभूति के संपूर्ण मूल्य के आधार बिंदु के रूप में स्वीकार किया है, उनके विचारों में प्रकृतिवादी दोष का आना स्वाभाविक है।

(5) अंत में मूर के मत में एक बात विशेष महत्व रखती है। समग्र अनुभूति का संपूर्ण मूल्य, उसमें सम्मिलित घटक तत्वों के किसी एक तत्व के व्यक्तिगत मूल्य अथवा उन सभी के गणितीय योग से सदैव भिन्न रहता है। वह उन मूल्यों के अथवा उनके गणितीय योग के किसी अनुपात-विशेष में भी नहीं रहता। पुनः यदि भावात्मक मूल्य रखने वाले घटक तत्वों के आधिक्य द्वारा उस संपूर्ण अनुभूति का निर्माण हुआ है तो उसका मूल्य भावात्मक होगा और यदि अभावात्मक मूल्य रखने वाले घटक तत्वों का उसमें अधिकता है तो उसका मूल्य अभावात्मक होगा।

'मूर' का विश्वास है कि, भावात्मक मूल्य रखने वाली समन्वित इकाई में भी अभावात्मक अथवा नगण्य मूल्य रखने वाले घटक तत्व विद्यमान रह सकते हैं। विपरीततः अभावात्मक मूल्य रखने वाली समग्र इकाई में भावात्मक मूल्य रखने वाले घटक तत्व रह सकते हैं। ऐसी मिश्रित इकाइयों[1] के अतिरिक्त भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों ही प्रकार की विशुद्ध समग्र अनुभूतियाँ भी होती हैं, जिनमें एक ही प्रकार के मूल्य रखने वाले घटक तत्व विद्यमान रहते हैं। मूल्यों के अनुक्रम में निश्चित ही इन विशुद्ध भावात्मक इकाइयों का उच्चतम स्थान है और विशुद्ध अभावात्मक इकाइयों का स्थान निम्नतम है।

दार्शनिक अनुचिंतन के क्षेत्र में, 'मूर' यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा उससे संबद्ध बाह्य संबंध के सिद्धांत का समर्थन करते हैं किंतु 'शुभ' की व्याख्या में वे आंगिक एकता के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों तत्वों को एक साथ रखने से उनके विचार में दो ऐसे नितांत विरोधी स्वर विद्यमान हो जाते हैं जिनके मध्य सामंजस्य की स्थापना ही नहीं हो सकती। जब वे समग्र अनुभूतियों से सम्मिलित घटक तत्वों की स्वतंत्रता एवं उनके पृथक् अस्तित्व की चर्चा करते हैं तो उनका प्रमुख रूप से विश्लेषणात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। विश्लेषण की प्रक्रिया को कुछ ऐसे अंतिम अविश्लेषणीय तत्वों को अनिवार्यतः स्वीकार करना होता है, जिस पर आकर विश्लेषण की प्रक्रिया रुक जाती है। किंतु, मूर की कल्पनाशील सृजनात्मक व्यावहारिक बुद्धि निश्चित ही सहज रूप से उन्हें उचित मार्ग का निर्देशन करती है और अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्राप्त निष्कर्षों का परिमार्जन करते हुए, वे कहते हैं कि अपनी स्वतंत्र, पृथक् स्व-अस्तित्ववान् प्रकृति के बाद भी, वे सभी तत्व जब समग्र अनुभूति के अनिवार्य

1. Mixed wholes.

घटक तत्वों के रूप में सम्मिलित हो जाते हैं तब वे एक-दूसरे के अस्तित्व में, इस प्रकार अभिन्न रूप से घुल-मिल जाते हैं कि उक्त अनुभूति का संपूर्ण मूल्य, उनकी उपस्थिति से एक अपूर्व विशिष्टता से अनुरंजित हो जाता है, जिसका उनके पृथक् मूल्य के आधार पर स्पष्टीकरण संभव नहीं।

आंगिक एकता के सिद्धांत का उचित स्पष्टीकरण यथार्थवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही संभव है, क्योंकि यथार्थवादी दृष्टिकोण घटक तत्वों के पूर्व स्व-अस्तित्ववान् स्वरूप को ही अंतिम मानता है और किसी भी स्थिति में उनके पृथक् अस्तित्व के समर्पण के लिए वह प्रस्तुत नहीं। किंतु, यदि उसके स्वरूप का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि किसी भी समग्र अनुभूति के विश्लेषण द्वारा प्राप्त आणुविक तत्व के आधार पर उस एकता की यथार्थ प्रकृति का स्पष्टीकरण संभव नहीं। अतएवं, यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत विश्व की विभिन्न इकाइयों का स्वरूप अंतिम रूप से बुद्धि के लिए असंतोषप्रद ही रहता है। बुद्धि, जिस आंतरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर कार्य करती है, वह तो समग्रता की, संपूर्णता की प्राप्ति की ही प्रेरणा होती है। इससे कम की प्राप्ति उसे स्थायी संतोष प्रदान नहीं कर पाती।

पुनः किसी भी तथ्य को विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत करने की चेष्टा सदैव पृष्ठभूमि में किसी एकता की प्रच्छन स्वीकृति पर ही आधारित होती है। अतएव विश्व की एकता का संपूर्ण समर्पण तथा उसका स्वतंत्र स्व-अस्तित्ववान् आणुविक इकाइयों के रूप में प्रस्तुतीकरण अंतिम रूप से कभी भी संतोषप्रद नहीं हो सकता। अध्यात्मवादी दृष्टिकोण ने इस सत्य को पर्याप्त स्पष्टता के साथ ग्रहण किया है, और स्पष्ट है कि मूर ने भी आंगिक एकता के प्रत्यय के समर्थन में सहज प्रवृत्तिक रूप से उसकी महत्ता को स्वीकार किया है। किंतु प्रत्यक्ष रूप से यथार्थवादी दृष्टिकोण के समर्थक होने के कारण उनके विचारों में इस विरोध के कारण अनेक स्थल पर असंगति आ गयी है। उनका आंगिक एकता का सिद्धांत इसका पर्याप्त प्रमाण है।

उक्त सिद्धांत की विशेषताओं के स्पष्टीकरण के उपरांत मूर द्वारा प्रस्तुत समग्र अनुभूतियों के विस्तृत विश्लेषण को भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायेगी।

समग्र अनुभूति का विस्तृत विश्लेषण

सौंदर्यबोध एवं वैयक्तिक स्नेह

समग्र अनुभूतियों को मूल्यों की शृंखला में, 'मूर' ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है और उनमें भी सौंदर्यबोध एवं वैयक्तिक स्नेह को उन्होंने सर्वोपरि स्थान दिया है। सौंदर्यबोध का विश्लेषण करते हुए चार स्पष्ट तथ्यों को पृथक् किया गया है।

ये सभी तत्व पृथक्-पृथक् तो महत्व रखते ही हैं, किंतु अपनी संयुक्त उपस्थिति द्वारा भी उस अनुभूति की गरिमा वृद्धि में, अपना अपूर्व योगदान देते हैं। ये चारों तत्व उस अनुभूति के अस्तित्व एवं मूल्य के लिए अनिवार्य हैं, किंतु स्वतः अपने में इनमें से कोई भी तत्व संपूर्ण रूप से उस मूल्य में योग देने का अधिकार नहीं रखता। अन्य शब्दों में, उनके पृथक् मूल्यों की अपेक्षा उनका संयुक्त सम्मिलित मूल्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रथम तत्व अनुभूति का संवेगात्मक पक्ष है। एक विशेष अर्थ में यह अनिवार्य है। इसकी उपस्थिति द्वारा ही उक्त अनुभूति संभव होती है और उसके अभाव में अनुभूति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अस्तु, सौंदर्यबोध में उक्त तत्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। यह अनुभूति उपयुक्त भी हो सकती है और अनुपयुक्त भी। जब वह उचित नहीं होती तब अनुभूति के संपूर्ण मूल्य में उसका योग निषेधात्मक ही रहता है। किंतु सामान्यतः वह स्थिति के अनुरूप ही होती है और तब उसका योग भावात्मक होता है। संपूर्ण अनुभूति का समग्र मूल्य इस एक तत्व के योग पर महत्वपूर्ण अर्थ में आश्रित होता है। अतएव उसका महत्व अमूल्य है और स्पष्ट है अनुभूति के मूल्य निर्धारण में उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती।

अनुभूति के इस पक्ष के संदर्भ में, 'मूर' ने एक और महत्वपूर्ण बात कही है। स्वतः अपने में, उक्त पक्ष मूल्य की दृष्टि से कितना ही तुच्छ क्यों न हो, किंतु जब संपूर्ण अनुभूति में वह अनिवार्य तत्व के रूप में सम्मिलित हो जाता है, तब उसका योग उसके पृथक् मूल्य से सदैव भिन्न अनुपात में ही होता है। सौंदर्यबोध के एक उदाहरण के आधार पर मूर अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हैं जिसमें अनुभूति का संवेगात्मक पक्ष अनुचित वस्तु की ओर प्रवृत्त होता है, क्योंकि वह वस्तु यथार्थ में असुंदर है। स्पष्ट है कि इस एक तत्व का अनौचित्य समग्र अनुभूति के मूल्य को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। विपरीततः यदि उक्त वस्तु यथार्थतः सुंदर होती तो संवेगात्मक अनुभूति की प्रबलता से कहीं अधिक अनुपात में उसके मूल्य में अभिवृद्धि हो गयी होती।

इस पृष्ठभूमि में आंगिक एकता के सिद्धांत का स्पष्टीकरण करते हुए 'मूर' कहते हैं :-

"निष्कर्ष यह है कि ये संवेग उस एकता को जिसके वे अंश होते हैं, अपने निजी मूल्य की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य प्रदान करते हैं।"[1]

विश्लेषण से प्राप्त द्वितीय तत्व अनुभूति का बोधात्मक पक्ष है, जिसकी

---

1. "It follows that these emotions give to the wholes of which they form a part a value for greater than that which they themselves possess."
Principia Ethica, p. 191.

वस्तुतः मूल तत्वों में गणना की जा सकती है। अनुभूति का प्रथम पक्ष इसी तत्व पर एक महत्वपूर्ण अर्थ में आश्रित है। सुंदर वस्तु का प्रत्यक्ष, स्मृति एवं चिंतन, उक्त संवेग के उद्भव के लिए अनिवार्य पहले की अवस्था है और इसलिए वह उसके साथ अविच्छिन्न रूप से संबद्ध है।

पूर्व तत्व की भाँति इसका भी एक अपना मूल्य एवं महत्व है और उन अन्य तत्वों से पृथक् है जिनके साथ वह अनिवार्यतः अनुभूति-विशेष में सम्मिलित है, इसके मूल्य की गणना की जा सकती है। किंतु जब वही तत्व अन्य तत्वों के साथ अनुभूति विशेष में सम्मिलित होकर आता है। तो अनुभूति के संपूर्ण मूल्य में उसका योग अपने वैयक्तिक मूल्य से भिन्न ही रहता है। समग्र अनुभूति के मूल्य में इस तत्व का व्यक्तिगत योग कई तत्वों पर आधारित होगा। सौंदर्यबोध के बोधात्मक पक्ष के मूल्य के विषय में, हमें यह देखना होगा कि वह (क) आत्मनिष्ठ है अथवा वस्तुनिष्ठ, (ख) वस्तु विशेष के सार तत्व से संबद्ध है अथवा आकस्मिक तत्वों से, (ग) सार तत्व में भी वह संपूर्ण सार तत्व से अथवा उसके खंड विशेष से संबद्ध है। निःसंदेह, अनुभूति का अंतिम रूप जिसमें वह सार तत्व पर ही केंद्रित रहता है, मूल्य की दृष्टि से सर्वोपरि महत्व रखता है।

तृतीय तत्व सुंदर वस्तु के सत्-असत् विषयक विश्वास से संबद्ध है। यह तत्व भी अपनी दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखता है तथा समग्र अनुभूति के मूल्य में योग की दृष्टि से इसका महत्व अन्य की अपेक्षा कम नहीं है। यदि सुंदर वस्तु केवल काल्पनिक नहीं तो, केवल, यह एक तत्व उस अनुभूति के संपूर्ण मूल्य को कई गुना अधिक बढ़ाने वाला होता है तथा अन्य तत्वों की भाँति समग्र अनुभूति के मूल्य में इस घटक का अपना योग उसके पृथक् मूल्य से अनुपात में नितांत भिन्न होता है। केवल अपने में अन्य तत्वों से पृथक्, इसका मूल्य चाहे निम्न ही क्यों न हो, सम्मिलित हो कर जब वह अन्य तत्वों के साथ आता है, तो उस इकाई का मूल्य इसकी उपस्थिति द्वारा कई गुना बढ़ जाता है। चंद्रमा के अस्तित्व में चिरंतन से हमारा विश्वास रहा है और स्वतः उस विश्वास का कुछ भी मूल्य नहीं किंतु वह विश्वास जब कलाकार के परिष्कृत संवेदनात्मक व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होता है, तब उस एक तत्व की उपस्थिति द्वारा समस्त अनुभूति के संपूर्ण मूल्य में कई गुना अधिक वृद्धि हो जाती है।

एक काल्पनिक वस्तु का सौंदर्य, प्रत्यक्ष, चिंतन एवं अनुभूति के क्षेत्र में निश्चित मूल्य रखता है, किंतु मूल्यों की श्रेणी में, उसका स्थान उस अनुभूति के मूल्य की अपेक्षा, निम्न है, जिसमें अनुभूति का विषय काल्पनिक न होकर यथार्थ होता है। निष्कषर्तः यह कहा जा सकता है कि उक्त अनुभूति के मूल्यांकन में इस

तत्व का पर्याप्त महत्व है।

अंतिम तत्व 'वस्तु' स्वयं है, जिसकी यथार्थ अथवा काल्पनिक उपस्थिति उक्त अनुभूति के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। वस्तु की उपस्थिति' उस अनुभूति के उद्भव का मूल ही नहीं बल्कि एक विशिष्ट अर्थ में, वह उसकी प्रकृति एवं विशेषता का भी प्रमुख निर्धारक है। 'मूर' ने अनुभूति के अन्य अनिवार्य तत्वों के विश्लेषण में परोक्ष रूप से इस तत्व की उपस्थिति को सदैव स्वीकार किया है। सामान्यतः सुंदर वस्तु, विषय एवं अनेक पक्षीय होती है और सौंदर्यबोध का संपूर्ण मूल्य, इस एक तथ्य पर विशेष रूप से आश्रित रहेगा कि अनुभूति का संबंध वस्तु के सभी पक्षों से है अथवा उसके किसी विशिष्ट पक्ष मात्र से है। निश्चित ही प्रथम प्रकार की अनुभूति दोनों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है।

अनुभूति के बोधात्मक पक्ष को प्रस्तुत करने में मूर ने परोक्ष रूप से इस पक्ष की महत्ता को स्वीकार कर लिया है। किंतु उस स्थान पर उनकी दृष्टि प्रमुख रूप से अनुभूति के वस्तुनिष्ठ पक्ष की अपेक्षा आत्मनिष्ठ पक्ष पर ही केंद्रित थी।

मूर द्वारा सौंदर्यबोध की विशिष्टता तथा उसमें सम्मिलित तत्वों का खंडशः प्रस्तुतीकरण यहाँ समाप्त होता है। सौंदर्यबोध निःसंदेह अनुभूतियों की श्रेणी में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। किंतु स्पष्ट है कि जिन तत्वों की मध्यस्थता से खंड-खंड उसके रूप को प्रस्तुत किया गया है, वे वैसी स्वतः अस्तित्ववान् आणुविक इकाइयाँ नहीं हैं। निश्चित ही वे सापेक्ष इकाइयाँ हैं और इनमें से प्रत्येक इकाई अनिवार्यतः, अन्य को, अपने अस्तित्व में परोक्ष रूप से समाविष्ट किये हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा उन्हें पृथक् रखने की बरबस चेष्टा की गयी है। सभी खंड एक-दूसरे से इतने अभिन्न रूप से संबद्ध हैं और एक की व्याख्या अनिवार्यतः हमें दूसरे के क्षेत्र में ले जाती है। अतएव इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक है कि समग्र अनुभूतियों की, यथार्थ प्रकृति के स्पष्टीकरण के लिए विश्लेषणात्मक पद्धति स्वतः पर्याप्त नहीं। उक्त अनुभूति के साथ न्याय करने के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि उसे स्वतः पर्याप्त, स्वतः अस्तित्ववान्, इकाइयों में खंड-खंड विभाजित किया जाय और उसके पश्चात् उन्हें आकस्मिक संबंधों से युक्त कर उस अनुभूति को पुनः निर्मित करने की चेष्टा की जाय।

निश्चित ही विश्लेषणात्मक पद्धति, वर्तमान संदर्भ में अपर्याप्त है। वह समग्र अनुभूति की विशिष्टता को ग्रहण नहीं कर पाती। मूर ने स्वयं अनुभूति की समग्रता पर, उसकी विशिष्टता पर पर्याप्त बल दिया है पर जिस पद्धति का उन्होंने अनुसरण किया है, वह उद्देश्य की दृष्टि से असंतोषप्रद है। सौंदर्य-बोध के पश्चात् वैयक्तिक स्नेह को प्रस्तुत करते हुए, वे कहते हैं कि सौदर्य-बोध की अपेक्षा, यह

अधिक मूल्यवान है। वैयक्तिक स्नेह का विषय, आंतरिक मूल्य रखने वाली वस्तु है, जबकि सौंदर्यबोध का विषय आंतरिक मूल्य नहीं रखता।

आंतरिक मूल्य से 'मूर' का, वर्तमान संदर्भ में क्या तात्पर्य है? वैयक्तिक स्नेह का विषय इसलिए स्वतः साध्य है कि वह एक मानवीय चेतन इकाई है, जो मानवीय स्तर की प्रतिक्रियाओं को समझती है और उसके अनुरूप व्यवहार की सामर्थ्य भी रखती है। 'विषय' में समस्तरीय आदान-प्रदान की यह क्षमता उस अनुभूति को, एक अपूर्व विशेषता प्रदान करती है। वैयक्तिक स्नेह विशुद्ध मानसिक प्रक्रिया है, उसमें भौतिक घटकों का महत्व एवं योग न्यूनतम है। यही कारण है कि सौंदर्यबोध की अपेक्षा, यह अधिक श्रेष्ठ है। सौंदर्यबोध में इस प्रकार का समस्तरीय आदान-प्रदान संभव नहीं है।

मूर तथा अध्यात्मवाद

मूल्यों के अनुक्रम में विशुद्ध भौतिक क्रिया की अपेक्षा मानसिक प्रक्रिया को 'मूर' के सिद्धांत में, अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। अतएव निष्कर्ष की दृष्टि से, वे अध्यात्मवाद के निकट आते हुए प्रतीत होते है; जिसके अनुसार अध्यात्म एवं आध्यात्मिक जीवन स्वतः साध्य है और उसकी मौलिक प्रकृति को विकृत किये बिना, उसे साधन रूप में प्रस्तुत करना संभव नहीं है। किंतु मूर विशुद्ध अध्यात्मवादियों से भिन्न हैं। कांट से भिन्न वे जीवन के भौतिक पक्ष की पूर्ण अवज्ञा नहीं करते। उसे वे साधन रूप में ही महत्वपूर्ण नहीं मानते प्रत्युत् साध्य रूप में स्वीकृत अनुभूति के अनिवार्य घटक के रूप में, उसकी उपस्थिति और उसकी योग-क्षमता को स्वीकार करते हैं।

जीवन का भौतिक पक्ष, आध्यात्मिक जीवन का केवल पूरक तत्व ही नहीं वरन् उसके संपूर्ण मूल्य में, उसका निश्चित भावात्मक योगदान है, जिसकी सरलता से अवज्ञा नहीं की जा सकती।

आंगिक एकता के सिद्धांत के अनुसार तो उसका स्वतंत्र मूल्य कितना ही नगण्य क्यों न हो, जब वह आध्यात्मिक पक्ष के साथ समन्वित रूप से आता है तो अपने वैयक्तिक मूल्य से भिन्न अनुपात में, उसके संपूर्ण मूल्य को कई गुना अधिक बढ़ा देता है। अतएव विशुद्ध अध्यात्मवादियों से अपने दृष्टिकोण की पृथकता को स्पष्ट करते हुए मूर कहते हैं :

"इन अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने-जिनके विचार उन विचारों के अनुरूप हैं, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि वे सभी सुख को केवल शुभ के रूप में अस्वीकार करते हैं और संपूर्ण शुभ को विषम इकाई मानते हैं, सामान्यतः जीवन

की विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को ही आदर्श रूप में प्रस्तुत किया हैं। भौतिक पदार्थ को यदि अशुभ नहीं तो मूलतः अपूर्ण मानते हुए, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भौतिक गुणों का पूर्ण अभाव आदर्श स्थिति के लिए अनिवार्य है।"[1]

अध्यात्मवादियों के विचारों से, मूर इस बात पर एकमत हैं कि कोई भी महत्वपूर्ण शुभ अनिवार्यतः बौद्धिक ही होगा और विशुद्ध भौतिक सत्ता स्वतः न्यून या नगण्य मूल्य ही रख सकता है। किंतु इसके बावजूद, इस श्रेष्ठता का उनके विचार में यह तात्पर्य नहीं कि पूर्ण स्थिति ऐसी होनी चाहिये जिसमें सभी भौतिक विशेषताओं को अनिवार्य रूप से अस्वीकार कर देना चाहिए। इसके विपरीत यदि हमारे निष्कर्ष यथार्थ हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्थितियाँ जिनमें वे समाविष्ट हैं, उनकी अपेक्षा जिनमें वे अनुपस्थित हैं; कहीं अधिक उत्तम होनी चाहिये।[2]

पुनः वे कहते हैं 'भौतिक तत्व के बहिष्कृत तथा अस्वीकार करने का अर्थ उस तत्व को बहिष्कृत एवं अस्वीकृत करना होगा, जिसे हम श्रेष्ठ समझते हैं।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आदर्श स्थिति की कल्पना में 'मूर' एक ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं, जिसमें जीवन के, चेतन एवं जड़, दोनों ही तत्व पर्याप्त अनुपात में सम्मिलित हों। उन दोनों तत्वों में निःसंदेह चेतन तत्व अधिक श्रेष्ठ है और उस तत्व में भौतिक तत्व को परिष्कृत करने की एक ऐसी अपूर्व क्षमता विद्यमान है कि वह कालांतर में अपने विरोधी रूप का विसर्जन कर उसका अनुयायी हो जाता है।

'मूर' ने अपने विचारों में, सुखवाद एवं अध्यात्मवाद दोनों के अमूल्य तत्वों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की है। उनका दृष्टिकोण दोनों का समन्वित रूप प्रतीत होता है और अपने निष्कर्षों में आत्मोत्कर्षवाद के वह अधिक निकट प्रतीत

---

1. "These idealistic philosophers, whose views agree most closely with those here advocated in that they deny pleasure to be the sole good and regard what is completely good, as having some complexity, have usually represented a purely spiritual state of existence as the ideal. Regarding matter as essentially imperfect, if not positively evil, they have concluded that total absence of all material properties is necessary to a state of perfection." Ibid, p. 205.
2. "Any great good must be mental 'and further that' a purely material existence by itself can little or no value-it does no follow from this superiority, that a perfect state of things must be one from which all material properties arerigidly excluded". "Again if our conclusions are correct, it would seem to be the case that a state of things in which they are included must be vastly better than any conceivable state in which they were absent." Ibid, p. 206.
3. "To deny and exclude matter is to deny and exclude the best we know." Ibid, p. 207.

होता है। दोनों दृष्टिकोणों के अंतर का संबंध उनके विचारों से संबद्ध दार्शनिक पृष्ठभूमि से है। किंतु मूर अध्यात्मवादी आचार-नीति विशेष रूप से कांट की आचार-नीति, के कटु आलोचक हैं और उनका दृढ़ विश्वास है कि नीति-अनीति के प्रश्न का दार्शनिक अनुचिंतन से कोई संबंध नहीं है।

किंतु उनके विचारों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण, उनकी सभी युक्तियों की पृष्ठभूमि में, कार्य करता दिखायी देता है और दार्शनिक अनुचिंतन को यत्नपूर्वक कितना भी पृष्ठभूमि में रखने की चेष्टा की जाय, दोनों प्रश्न इतने अभिन्न रूप से संबद्ध हैं कि उन्हें अधिक समय तक पृथक् नहीं रखा जा सकता। दार्शनिक अंतर्दृष्टि, परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से नैतिक अनुचिंतन को प्रभावित करती है चाहे उसे स्पष्ट स्वीकार किया जाय या नहीं। मूर के विचारों में भी उसका स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। उनके विचारों की अपूर्णता प्रमुख रूप से उनकी दार्शनिक अंतर्दृष्टि की अपर्याप्तता के ही कारण है। एक आध्यात्मवादी दार्शनिक पृष्ठभूमि ही, उनके विचारों के साथ पर्याप्त न्याय कर सकती है। पूर्णतावाद से संबद्ध अध्याय में मूर के अध्यात्मवादी दृष्टिकोण का खंडन तथा संबद्ध भ्रांति का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जायगा।

अध्याय सात

बुद्धिवाद : कांट[1]

नैतिक चिंतन के इतिहास में कांट का एक विशिष्ट स्थान है। उनके विचार अपूर्व हैं और उनके पूर्व ऐसा कोई भी दार्शनिक नहीं हुआ, जिसने इतनी स्पष्टता के साथ मानवीय नैतिक चेतना में व्याप्त निरपेक्ष आदेश की व्याख्या प्रस्तुत की हो। सुखवादी सिद्धांत द्वारा प्रस्तुत, मानवीय नैतिक प्रकृति के विश्लेषण को उन्होंने एक विशिष्ट अर्थ में पूर्णता प्रदान करने की चेष्टा की है, क्योंकि सुखवादी विश्लेषण की प्रमुख त्रुटि मानवीय प्रकृति का अत्यधिक सरलीकरण था। उसने मानवीय प्रकृति को संपूर्णतः सुख-दुख नियम के अधीन स्वीकार किया था। यह पशुस्तरीय चेतना के लिए पर्याप्त हो सकती है, किंतु मानवीय चेतना अपेक्षाकृत अधिक विषम है और उस मात्र संवेदनग्राहिता[2] के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है।

मानवीय प्रकृति का उपयुक्त विश्लेषण क्या है? मानवीय चेतना एक विषम इकाई है और उसकी इसी तात्विक विषमता को समझने का प्रयास दार्शनिकों ने सदैव किया है, किंतु जितनी योग्यता तथा सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से पाश्चात्य दार्शनिकों में कांट ने किया है, उतना किसी अन्य ने नहीं। जिन दार्शनिकों ने कांट के विचारों में सुधार करने की चेष्टा की है, उन्होंने कांट के चिंतन में प्रस्तुत केवल मूल तत्वों को ही विकसित करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि कांट के विचारों के विरुद्ध, किसी प्रकार की आपत्ति लायी ही नहीं जा सकती तथा उसमें किसी प्रकार का संशोधन संभव नहीं। उनके विचारों की विभिन्न दृष्टिकोणों से पर्याप्त आलोचना की गयी है, किंतु वर्तमान संदर्भ में इतना ही कहना चाहेंगे कि इनमें से अधिकांश समीक्षकों ने कांट के विचारों के साथ उचित न्याय नहीं किया, उन्होंने केवल सतह पर ही उनके विचारों के अध्ययन की चेष्टा की है और यही कारण है कि उसमें विचारों के गम्भीर पक्ष की अवज्ञा मिलती है।

यदि सहानुभूतिपूर्वक उनके विचारों का हम अध्ययन करें तो अत्यंत अरुचिकर एवं कठोर सन्यासवाद के आवरण में निहित, हमें जीवन के गहनतम

1. Rationalism of Kant.
2. Pure sentience or sensibility. संवेदनात्मक व्यक्तित्व का भी प्रयोग हुआ है।

तत्वों का प्रस्तुतीकरण मिलेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि कांट के विचारों की पूर्ववर्ती श्रृंखला का हम अन्वेषण करें तो यूनानी विचारक स्टोइक[1] और 'सिनिक'[2] ही हमें प्राचीनतम कड़ियों के रूप में प्राप्त होंगे। आधुनिक विचारकों में बटलर उनके विचारों के निकटतम आते हैं, जिनके विचारों का उल्लेख पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। जैसा कि देखा जा चुका है कि बटलर ने मानवीय व्यावहारिक चेतना और उससे संबद्ध दृष्टिकोण को भी जीवन में महत्वपूर्ण स्थान देने की चेष्टा की है और यही कारण है कि उन्होंने 'अंतःकरण'[3] के अतिरिक्त, दो अन्य समस्तरीय नियामक तत्वों को भी स्वीकार किया है। 'अंतःकरण' परम नियामक तत्व के रूप में स्वीकृत अवश्य है, किंतु वह प्रतिदिन के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता। जब तब व्यावहारिक जीवन का सफल नियम उन दो अन्य समस्तरीय नियामक तत्वों द्वारा होता रहता है अंतःकरण द्वारा हस्तक्षेप की आवश्यकता ही नहीं होती। किंतु कांट के सिद्धांत में, इस प्रकार नियामक तत्वों की विभिन्नता को स्वीकार नहीं किया गया है और न ही उन्होंने अंतःकरण को तटस्थ माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि, मानवीय नैतिक जीवन उसके स्पष्ट सक्रिय संचालन के अभाव में संभव नहीं। उसी परम नियामक तत्व के परम आदेश को कांट ने निरपेक्ष आदेश के रूप में प्रस्तुत किया है (अंतःकरण, कांट के अनुसार बुद्धि में स्पष्ट रूपांतरित हो जाता है। और नैतिक जीवन उसका निरपेक्ष अनुसरण करने वाला जीवन है।

कांट तो इससे भी अधिक मानवीय संकल्प की अपेक्षा रखते हैं। उनके अनुसार मात्र बौद्धिक आदेश के अनुरूप आचरण ही नैतिक नहीं; अनुसरण बाह्य न हो कर आंतरिक होना चाहिये और साथ ही व्यक्ति में उस आदेश के प्रति अटूट निष्ठा होनी चाहिये, जिससे वह उसे परम श्रेयस् के रूप में स्वीकार कर सके। मानवीय संकल्प को किस प्रकार से उस विशुद्ध बौद्धिक आदेश के अनुरूप कार्य करना चाहिये, उसका स्वरूप क्या है, इस पर अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"जितना ही कम व्यक्तिनिष्ठ वृत्तियाँ, उस आदेश का अनुमोदन करती हैं और जितना ही अधिक वे उसका विरोध करती हैं, कर्तव्य अवसर पर उस आदेश की पावनता और आंतरिक गरिमा उतनी ही अधिक स्पष्ट हो जाती है।"[4]

इस विषय पर पुनः विचार किया जायेगा। वर्तमान संदर्भ में हमें इतना ही कहना है कि बटलर के विचारों में, जीवन के नियामक पक्ष के निरूपण में जो

---

1. Sonic.
2. Cynic.
3. Conscience. अंतर्विवेक, सद्-असद् विवेक शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।
4. "The sublimity and intrinsic dignity of the command in duty are so much the more evident, the less the subjective impulses favour it and the more they oppose it." Metaphysics of Morals, p. 43.

अपूर्णता एवं असंगति विद्यमान थी, उससे कांट ने उन्हें मुक्त करने की चेष्टा की है। अन्य शब्दों में, जीवन के नियामक पक्ष की व्याख्या में, उन्होंने अपूर्व दृढ़ता का परिचय दिया है, जिसका बटलर के विचारों में पर्याप्त अभाव था।

कांट के महत्त्वपूर्ण पूर्ववर्ती दार्शनिकों में ह्यूम का नाम लिया जा सकता है। ह्यूम ने सुखवादियों की भाँति नैतिक जीवन को सुख-दुख नियम के पूर्णतः अधीन मान लिया था, किंतु कांट ने उसे बौद्धिक एवं संवेदनात्मक तत्वों के परस्पर सघन होते हुए विरोध से उत्पन्न, स्वीकार किया है। पूर्ववर्ती विचारकों से कांट के संबंध की व्याख्या करते हुए राजर्स कहते हैं :

"संक्षेप में कांट का विचार बौद्धिक तथा अनुभूतिमूलक अंतःप्रज्ञावाद को समन्वित करता है। उसका स्वरूप प्रमुख रूप से दो विरोधों द्वारा निर्धारित है :

(अ) मूल रूप से ह्यूम के, सुख-दुखात्मक भावनाओं से नैतिकता की व्युत्पत्ति के विरोध द्वारा और (ब) न्यून मात्रा में सौंदर्यात्मक अंतःप्रज्ञावाद के विरोध द्वारा जिसने शुभ की विषयनिष्ठता को मानते हुए भी उसके ज्ञान को, असंगत रूप से व्यक्तिनिष्ठ भावना एवं रुचि से व्युत्पन्न माना है।"[1]

कांट के विचारों की पृष्ठभूमि के प्रस्तुतीकरण के लिए इतना ही पर्याप्त है। अब हम उनके मानवीय नैतिक चेतना के स्वरूप के विश्लेषण तथा उसमें निहित आदेश की व्याख्या से परिचित होना चाहेंगे, जिसे उक्त चेतना, व्यवहार एवं संकल्प की मध्यस्थता से निरंतर व्यक्त करने की चेष्टा कर रही है।

निरपेक्ष आदेश[2]

निरपेक्ष आदेश का क्या तापर्य है? 'आदेश' का अर्थ है 'आज्ञा'-वह जो मानवीय संकल्प एवं व्यवहार के लिए विशिष्ट अनिवार्यता रखता हो तथा 'निरपेक्ष' का अर्थ है, एक ऐसा आदेश जो कार्य के परिणाम एवं उससे संबद्ध लक्ष्यों से पृथक, उससे अनियंत्रित, मानवीय संकल्प एवं व्यवहार के लिए बाध्यता रखे। अन्य शब्दों में, जिसकी गरिमा एवं उक्त तथ्यों पर निर्भर न करे। अतः निरपेक्ष आदेश वह आदेश है, जो सभी अवस्थाओं में तथा सभी व्यक्तियों द्वारा मान्य हो।

उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कांट कहते हैं कि उसका महत्व

---

1. "Kant's system in short, combines Rational and autonomic Intuitionism. Its form is largely determined by opposition (a) to Hume's derivation of morality from feelings of pleasure and pain, and in lesser degree (b) to Aesthetic Intuitionism, which while recognizing the objectivity of good inconsistently derives our knowledge there of from a purely subjective feeling or taste (Moral sense)."
A Short History of Ethics, p. 192.
2. Categorical Imperative.

एवं बाध्यता केवल एक ऐसे अपूर्ण, अविकसित, ससीम, संकल्प के लिए है, जिसने अभी नियमवत आचरण करना सीखा नहीं है, प्रत्युत् जिसे उसके अनुरूप आचरण करना अभी सीखना है। एक पूर्ण विकसित संकल्प के लिए जो संयमित है-नियमवत आचरण में दक्ष है, जिसके समक्ष कोई ऐसा प्राप्य नहीं, जिसे प्राप्य करना है तथा जिससे उसे स्थायी प्रेरणा ग्रहण करनी है, ऐसे आदेश का कोई अर्थ नहीं।

मानव की सीमित चेतना आंतरिक संघर्ष से त्रस्त एवं विभाजित दिखायी देती है। अपने व्यक्तित्व के प्राकृतिक एवं आदर्श दो अनिवार्य तत्वों के मध्य वह किंकर्तव्यविमूढ़ प्रतीत होती है, तथा 'चाहिये' (अंग्रेजी शब्द 'आट') शब्द प्रतीकात्मक रूप से उसके इस आंतरिक स्वरूप को उसकी चेतना एवं संकल्प की ससीमता तथा आदर्श से उसकी अनिवार्य संबद्धता को, व्यक्त करता है। इस संदर्भ में कांट अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :

"दिव्य संकल्प अथवा सामान्य रूप से शुभ संकल्प के लिए कोई भी आदेश बाध्यता नहीं रखता। इस स्थान पर 'चाहिये' असंगत है, क्योंकि संकल्प स्वयमेव अनिवार्यतः नियम के साथ संयुक्त है।"[1]

किंतु, इस प्रकार का पावन संकल्प, आकस्मिक रूप से कार्य करने वाला नहीं होता। विपरीततः वह विशिष्ट रूप से संयमित संकल्प है, अंतर केवल इतना ही है कि इस स्थान पर संयम बाह्य रूप से आरोपित एवं आंतरिक है तथा मानवीय व्यवहार के माध्यम से उसी सहजता से व्यक्त होता है, जिस प्राकृतिक सहजता के साथ पूर्ण विकसित पुष्प की सुरभि चारों ओर विकीर्ण होती रहती है। इस स्तर पर पुनः एक अपूर्व साम्य स्थिति की संस्थापन हो चुकी होती है, जिसका कि मानवीय स्तर पर संपूर्णतः अभाव है। उक्त साम्य स्थिति पाशविक स्तर पर वर्तमान साम्य स्थिति से अधिक सौम्य एवं प्रशांत होती है, इसमें कोई संदेह नहीं और मानवीय चेतना का वही एकमात्र श्रेयस है। दिव्य संकल्प के सौम्य रूप की अभिव्यक्ति करते हुए कांट कहते हैं :

"एक संपूर्णतः शुभ संकल्प भी, वस्तुनिष्ठ नियमों के अधीन होगा (यथा-शुभ संबंधी नियम), किंतु वह उन नियमों से नियमवत् व्यवहार करने के लिए विवश है-इस प्रकार की कल्पना उसके विषय में नही की जा सकती, क्योंकि अपनी आंतरिक रचना से वह स्वयमेव केवल शुभ प्रत्यय द्वारा ही नियंत्रित हो सकता है।[2]"

---

1. "No imperatives hold for the divine will, or in general for a holy will ought is here out of place because the volition is already of itself necessarily in unison with the law."
   Metaphysics of Morals, p. 131.
2. "A perfectly good will would be equally subject to objective laws (viz. laws of good) but could not be conceived as obliged thereby to act lawfully because of itself from its subjective constitution it can only be determined by the conception of the Good."
   Ibid, p. 31.

'ब्रैडले' नैतिक चेतना के विभाजित रूप तथा 'चाहिये' से उसकी अनिवार्य संबद्धता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं :

''यदि हमारी आत्मा वृत्तियों के अनुक्रम के अतिरिक्त कुछ न होती, यदि वह इन सह-अस्तित्वशील एवं क्रमागत घटनाओं के अतिरिक्त और परे कुछ भी न होती तो 'चाहिये' शब्द का अर्थ कुछ न होता। और पुनः यदि हमारी आत्मा विशुद्ध अमिश्रित संकल्प मात्र होती, जो ऐंद्रिक तत्व की मध्यस्थता से पृथक् अपने को व्यक्त करने वाली होती तब भी 'चाहिये' शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। एक ही व्यक्तित्व में इन दोनों तत्वों का विरोध ही 'चाहिये' शब्द का सार है।''[1]

कांट निरपेक्ष आदेश का महत्व व्यक्त करते हुए, उसे सापेक्ष आदेशों से पृथक् करने की चेष्टा करते हैं। सापेक्ष जीवन के विशिष्ट लक्ष्यों से, अनिवार्यतः संबद्ध रहते हैं। अपनी विशेषता के अनुरूप उन्हें व्यावहारिक आदेश[2] अथवा 'प्राविधिक' आदेश[3] कहना चाहिये। किंतु उन्हें मानवीय संकल्प के समक्ष आदर्श एवं नियम के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं। नैतिक नियम तथा उससे संबद्ध आदेश स्वतः आंतरिक मूल्य रखने वाला होता है, और अपने से पृथक् किसी बाह्य तत्व द्वारा नियमित होने से अथवा प्रभावित होने से स्पष्ट इन्कार कर देता है। विपरीततः सापेक्ष नियम एवं उससे संबद्ध आदेश उसी सीमा तक जीवन में महत्व रखने वाले होते हैं, जिस सीमा तक वे जीवन के विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति में उपयोगी सिद्ध होते हैं। ये लक्ष्य मानवीय अस्तित्व हेतु अनिवार्य भी हो सकते हैं और वैकल्पिक भी, किंतु इनसे प्राप्त आदेश, आंतरिक गरिमा एवं मूल्य युक्त कदापि नहीं हो सकते। प्रथम प्रकार के लक्ष्यों से संबद्ध आदेश को कांट ने निश्चयात्मक सापेक्ष[4] की संज्ञा दी है तथा द्वितीय प्रकार के लक्ष्यों से संबद्ध आदेश को उन्होंने वैकल्पिक सापेक्ष[5] कहा है।

कांट ने निरपेक्ष आदेश को ही मात्र 'नियम' के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और दोनों प्रकार के आदेश की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :-

''नियम एक निरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ अनिवार्यता व्यक्त करता है, जो इसी कारण सामान्यतः मान्य होती है और उसके आदेश ऐसे नियम हैं, जिनका पालन अनिवार्यतः

---

1. "If ourself were nothing beyond the series of its states, if it were nothing above and beyond these co-existent and successive phenomena, then the word 'ought' could have no meaning. And again if ourself were a pure unalloyed, Will, realizing itself apart from a sensuous element, the word 'ought' would still be meaningless. It is the antagonism of the two elements in one subject which is the essence of the ought."
Ethical Studies, p. 146.
2. Pragmatic.
3. Technical.
4. Assertorial Hypotheticals.
5. Problematical Hypotheticals.

करना ही है-जिनका, अन्य शब्दों में, अनुसरण करना ही है, चाहे वह मनोवृत्तियों के प्रतिकूल ही क्यों न हो....विपरीततः 'परामर्श भी अनिवार्यता रखते हैं किंतु वे आकस्मिक व्यक्तिनिष्ठ स्थिति में ही मान्यता रख सकते हैं। अन्य शब्दों में, वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि अमुक व्यक्ति अथवा 'कोई भी व्यक्ति, इसको अथवा किसी अन्य को, अपने सुख के अंश के रूप में स्वीकार करता है अथवा नहीं। निरपेक्ष आदेश विपरीततः किसी भी स्थिति द्वारा नियंत्रित नहीं होता और यद्यपि वह व्यावहारिक दृष्टि से ही नितांत अनिवार्य है उसे ही यथार्थ में आदेश कहा जा सकता है।"[1]

सापेक्ष आदेशों के सापेक्ष एवं आकस्मिक रूप की व्याख्या करते हुए वे पुनः कहते हैं :

"निरपेक्ष आदेश ही व्यावहारिक नियम का रूप ग्रहण कर सकता है, अन्य सभी संकल्प के सिद्धांत ही कहे जा सकते हैं, नियम नहीं, क्योंकि जो आकस्मिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही अनिवार्य हो, वह वस्तुतः आकस्मिक ही हो सकता है और हम किसी भी समय 'उद्देश्य' के परित्याग द्वारा उससे संबद्ध आदेश से मुक्त हो सकते हैं। विपरीततः निरपेक्ष आदेश, व्यक्ति को विपरीत चुनाव की स्वतंत्रता नहीं प्रदान करता, अतएव वह ही अपने में एक ऐसी अनिवार्यता रखता है, जो 'नियम' के लिए आवश्यक है।"[2]

अतएव, निरपेक्ष आदेश ही मानवीय संकल्प के लिए अनिवार्य एवं निरपेक्ष बाध्यता रखता है। वह ही वस्तुतः विशुद्ध नैतिक आदेश है और उसके बाह्य रूप से मात्र अनुरूपता रखता हुआ कार्य नहीं, प्रत्युत् उसके प्रति सम्मान एवं निष्ठा से प्रेरित कार्य ही यथार्थ में नैतिक है। वस्तुतः यही आदेश बुद्धि की

---

1. "The 'law' connotes "an unconditional and objective necessity which is consequently universally valid; and its commands are laws which must be obeyed, i e must be followed, even in opposition to inclination."- Counsels, on the contrary, involve necessity but one which can hold under a contingent, subjective condition, viz, they depend on whether this or that man reckons this or that as part of his happiness; the categorical imperative, on the contrary, is not limited by any condition, and as being absolutely, although pratically, necessary, may be propery called a command."

   Metaphysics of Morals, p. 33-34.

2. "The categorical imperative alone has the purport of a practical law; all the rest may indeed be called principles of the will but not laws, since, whatever is only necessary for the attainment of some arbitrary purpose may be considered as in itself contingent and we can at any time be free from the precept if we give up the purpose, on the contrary, the unconditional command leaves the will no liberty to choose the opposite consequently it alone carries with it that necessity which we require in a law."

   Ibid, p. 37.

यथार्थ प्रकृति को व्यंजित करने वाला होता है और जीवन के संवेदन पक्ष का विरोधी होने पर भी प्रायः उसके साथ समझौता करने के लिए तत्पर दिखाई देता है। किंतु कांट के विचार में उसकी यह वृत्ति प्राकृतिक होते हुए भी जीवन के विकास की दृष्टि से घातक है। जीवन के नैतिक पक्ष की प्रगति मुख्यतः इस तथ्य पर आधारित है कि बौद्धिक पक्ष संवेदन पक्ष पर कितनी मात्रा में आधिपत्य स्थापित करने में सफल हो सका है। नैतिक जीवन के विकास की दृष्टि से, जितना ही तीव्र दोनों पक्षों के मध्य संघर्ष होगा, उसी अनुपात में प्राप्त सफलता का महत्त्व होगा। इन्हीं विचारों को कांट ने निम्न पंक्तियों में व्यक्त करने की चेष्टा की है :

"हम बुद्धि की इस शिथिल एवं हीन आदत के विरुद्ध जिसके अनुसार वह अपने सिद्धांतों को व्यावहारिक प्रेरणाओं एवं नियमों में खोजती है, जितना ही अधिक और जितनी ही बार चेतावनी दें, वह अल्प ही होगा। क्योंकि, मानवीय बुद्धि अपनी क्लांति के क्षणों में भी इस आश्रय को ग्रहण कर प्रसन्नता का अनुभव करती है और स्वप्न की मधुर भ्रांति में, वह एक ऐसी नैतिकता का प्रतिस्थापन करती है, जो विभिन्न स्थानों से संग्रहीत अंगों का एक वर्ण-संकर ही है और उसे जिस भी रूप में कोई देखना चाहे तो वह उसी रूप में दिखायी देती है, केवल उसके लिए सदाचार-सी नहीं प्रतीत होती जिसने सदाचार के विशुद्ध रूप का प्रत्यक्ष किया है।"[1]

कांट ने 'तत्वोक्त'[2] एवं 'नियम' के अंतर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 'तत्वोक्ति' से तात्पर्य उस व्यक्तिनिष्ठ सिद्धांत से है, जो किसी परिस्थिति विशेष में यथार्थ में मानवीय संकल्प को नियंत्रित करता है तथा 'नियम' वह वस्तुनिष्ठ सिद्धांत है, जो मानवीय स्थितियों की व्यक्तिगत विशेषताओं से 'मुक्त' हो कर प्रत्येक बुद्धिजीवी के लिए समान रूप से क्या करणीय है, उसे प्रस्तुत करता है।

कांट के विचार में, व्यक्तिनिष्ठ नैतिक सिद्धांतों को वस्तुतः अवैयक्तिक ही होना चाहिये, उन्हें किसी प्रकार की विशिष्टता से परिभाषित न होना चाहिये। अन्य शब्दों में, उन्हें इस प्रकार का होना चाहिये कि वे सरलता से सामान्य सार्वभौम

---

1. "We can too much or too often repeat our warning against this lax and even mean habit of thought which seeks of its principles amongst empirical motives and laws; for human reason in its weariness is glad to rest on this pillow, and in a dream of sweet illusion (in which instead of June, it embraces a cloud) it substitutes for morality a bastard patched up from the limbs of various derivation, which looks like anything one chooses to see in it; only, not like virtue to one who has once be held in her ture form. Ibid, p. 44.
2. Maxim. सूत्र का भी प्रयोग हुआ है।

नियम में रूपांतरित हो सकें। इसीलिए उन्होंने निरपेक्ष आदेश को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप को तीन सूत्रों में व्यक्त करने की चेष्टा की है, जिनमें से वर्तमान संदर्भ में प्रथम सूत्र सर्वाधिक महत्व रखने वाला है। वे कहते हैं-"उसी सूत्र के अनुसार कार्य कीजिये जिसे आप तत्क्षण संकल्प द्वारा सामान्य नियम के रूप में प्रस्तुत कर सकें।"[1]

शुभ संकल्प को परिभाषित करने वाले प्रत्यय

निरपेक्ष आदेश, जो शुभ संकल्प की मध्यस्थता से अभिव्यक्त होता है, उसका स्पष्टीकरण कांट ने चार प्रत्ययों द्वारा किया है : सामान्य, स्वतंत्र, आत्म-नियंत्रित और आकारिक।

'सामान्य' प्रत्यय द्वारा व्यक्ति के जीवन में जो कुछ भी आकस्मिक, वैयक्तिक तथा निजी है- उससे उसका पार्थक्य व्यक्त होता है। जिस सीमा तक वह आदेश अविशिष्ट है, उसी सीमा तक वह यथार्थ में सामान्य है। निःसंदेह अपने विशिष्ट हितों की दृष्टि से हम एक-दूसरे से पृथक् हैं, विभाजित हैं और इस तथ्य का पर्याप्त प्रस्तुतीकरण सुखवाद के संदर्भ में किया जा चुका है। अस्तु, कोई भी नियम जो व्यक्ति के विशिष्ट हितों एवं लक्ष्यों से संबद्ध है, उससे अनुप्रामाणित एवं नियंत्रित है, वह यथार्थ में नियम कहलाने का अधिकारी नहीं। उसे वैयक्तिक, व्यावहारिक जीवन को नियंत्रित करने वाले सूत्र के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, मानवीय संकल्प के समक्ष आदर्श के रूप में उसकी स्वीकृति संभव नहीं।

'स्वतंत्र' शब्द द्वारा कांट नैतिक आदेश की एक महत्वपूर्ण विशेषता स्पष्ट करना चाहते हैं। अपने से पृथक् किसी बाह्य तत्व पर आश्रित न होने के कारण ही यथार्थ में वह स्वतंत्र है। 'स्पिनोजा' की भाषा में, वह परम निरपेक्ष[2] है, स्वतः अपने में अवस्थित है और अपनी ही प्रकृति में उसका संपूर्ण अर्थ निहित है। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्ता एवं प्रत्यय दोनों ही दृष्टि से अपनी पूर्णता के लिए उसे किसी अन्य तत्व के अधीन नहीं होना पड़ता। संकल्प के बाह्य तत्व से नियंत्रित होने पर कांट का अभिप्राय, किसी विजातीय तत्व द्वारा नियंत्रित होने से है, जो वर्तमान संदर्भ में संवेदन तत्व है। शुभ संकल्प इसी विशेष अर्थ में स्वतंत्र है कि वह स्वतः अपने में पूर्ण है कार्य की प्रेरणा उसमें स्वयं निहित है और संवेदन तत्व पर वह प्रेरणा के लिए अथवा पूर्णता के लिए किसी अर्थ में आश्रित नहीं है।

'आत्म-नियंत्रित' का शाब्दिक अर्थ अपने से ही नियंत्रित होना है। किंतु आत्म-नियंत्रित होने का यह अर्थ नहीं है कि नैतिक आदेश के अनुरूप संकल्प,

---

1. "Act only on the maxim which thou canst at the same time will to become a universal law."
2. Absolute.

स्वच्छंद एवं अनुशासनहीन होकर कार्य करने वाला है। आत्म-नियंत्रित संकल्प अनुशासनबद्ध नियमबद्ध संकल्प होता है। किंतु स्वच्छंद संकल्प नितांत मुक्त, उच्छृंखल संकल्प होता है, जो अपनी गतिविधि में किसी प्रकार की नियमबद्धता आने नहीं देता है। नैतिक नियम के अनुरूप नैतिक संकल्प में अनुशासनहीनता एवं आकस्मिकता का कोई स्थान नहीं। अतएवं आत्म-नियंत्रित होने का अर्थ है नियमबद्ध होना, किंतु जिस नियम के अधीन उसे होना है, उसे बाह्य न होकर आंतरिक होना चाहिये और क्योंकि वह यथार्थ में 'सामान्य', 'अविशिष्ट', एवं 'सार्वभौम' है, उसे सभी का समान रूप से नियंत्रण करने वाला होना चाहिये। नैतिक आदेश की अंतिम विशेषता उसकी विशुद्ध 'आकारिकता' है। इस विशेषता के कारण कांट के विचारों की कटु आलोचना की गयी है।

'आकारिकता' से कांट का अभिप्राय, उसके अनानुभविक रूप से, उसकी उपादान शून्य प्रकृति से है। अन्य शब्दों में, उसकी विशिष्ट मानवीय वृत्तियों, इच्छाओं एवं रुचियों से असंबद्धता से है; उन सभी के प्रति, उसकी तटस्थ-वृत्ति से है और इसी विशिष्टता के कारण ही वह यथार्थ में सार्वभौम नियम के रूप में प्रस्तुत होने का अधिकारी है। ब्रैडले ने भी उसकी इसी विशिष्टता का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है :

"ऐसा प्रतिमान आकार है अन्यथा मात्र शून्य। उसे प्रत्येक संभाव्य विशिष्ट का अतिक्रमण करना है, इसलिए वह 'मात्र विशिष्ट' हो ही नहीं सकता। प्रत्येक 'विशिष्ट' से पृथक् हो कर ही वह उन सभी विशेषताओं से मुक्त होने में सफल हो जाता है जो सभी 'विशिष्टों' में समान रूप से वर्तमान नहीं है। अन्यथा, उसके क्षेत्र से पृथक् अवश्य ही कोई वस्तु बनी रहेगी, वह अन्य वस्तुओं में केवल एक वस्तु ही होगा और इसलिए वह प्रतिमान न रह सकेगा।"[1]

निरपेक्ष आदेश को परिभाषित करने वाले सूत्र

निरपेक्ष आदेश की प्रकृति को, परिभाषित करने वाले प्रथम सूत्र का उल्लेख पूर्वपृष्ठ में किया जा चुका है, "इस प्रकार कार्य कीजिये कि आपके कार्य के सूत्र आपके संकल्प द्वारा प्रकृति के सामान्य नियम के रूप में प्रस्तुत हो सके।"[2]

अतएव कांट के विचार में ऐसे ही कार्य नैतिक हैं, जिनके सूत्रों का सामान्यीकरण किया जा सके। अन्य शब्दों में, जिन्हें सरलता से वस्तुनिष्ठ नियमों का रूप दिया जा सके। इस संदर्भ में कांट ने वैयक्तिक दृष्टिकोण एवं अभिरुचियों

---

1. Non-empirical
2. "Such a standard is a form or it is nothing. It is to be above every possible this and that, hence, can not be any this or that. It is by being not this or that, that is succeeds in having nothing which is not common to every this and that. Otherwise there would be something which would fall without its sphere it would be only one thing among others and so would no longer be a standard." Ethical Studies, p. 145.

का संपूर्णतः बहिष्करण किया है। उनके अनुसार विशुद्ध नैतिकता की दृष्टि से व्यक्ति को अपने अंदर एक ऐसी तटस्थ वृत्ति का पोषण करना होगा, जिसे सामान्यतः वह दूसरों के प्रति, उनके कार्य एवं प्रेरणाओं के प्रति, बनाये रखता है। सांख्य एवं वेदांत ने इस वृत्ति को साक्षी वृत्ति कहा है और इसका विकास जीवन में अत्यधिक कठिन है।

विशुद्ध नैतिक दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण हेतु कांट मानवीय व्यवहार को उनमें निहित प्रेरणा की दृष्टि से कई वर्गों में विभाजित करते हैं। प्रथम प्रकार का व्यवहार वह है, जो केवल बाह्य आकार की दृष्टि से ही नैतिक व्यवहार से सादृश्य रखता है। किंतु आकार से पृथक्, यदि उसकी पृष्ठभूमि में कार्य करने वाली और उसे संचालित करने वाली, आंतरिक प्रेरणाओं का निरीक्षण किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि विशुद्ध नैतिक प्रेरणाओं का वहाँ संपूर्णतः अभाव ही नहीं, प्रत्युत् उनसे भिन्न एवं विरोधी प्रेरणा उसकी गतिविधि का संचालन करती दिखायी देगी। उस दुकानदार का व्यवहार जो ग्राहकों के प्रति सच्चाई एवं ईमानदारी केवल इसलिए बरतता है कि वह यह समझता हे कि उसके द्वारा वह भविष्य में लाभान्वित हो सकेगा, कांट की दृष्टि में किसी भी प्रकार नैतिक कहलाने का अधिकारी नहीं।

द्वितीय प्रकार का व्यवहार वह है जो नैतिक व्यवहार से बाह्य सादृश्य ही नहीं रखता, वरन् आंतरिक प्रेरणाओं की दृष्टि से भी पर्याप्त अभिन्नता रखता है। अन्य शब्दों में, व्यवहार के इस रूप में नैतिक वृत्ति एवं सहज वृत्तियों में सहज साम्य स्थापित रहता है।[1] दोनों ही वृत्तियाँ एक-दूसरे का समर्थन एवं पोषण करने वाली होती हैं और कर्तव्य का पालन सहज सम्पन्न होता जाता है, क्योंकि वैसा करना सुखप्रद प्रतीत होता है। इस प्रकार के व्यवहार में मनोवृत्तियों एवं कर्तव्य वृत्ति में आंतरिक संघर्ष के कारण, मानवीय शक्ति का व्यर्थ अपव्यय नहीं होता। वात्सल्य भाव से प्रेरित सभी कार्य इस वर्ग के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। बच्चों के हित के लिए, माता-पिता जो कुछ भी करते हैं, उसमें कर्तव्य वृत्ति एवं सहज इच्छा के मध्य, एक सुखद सामंजस्य स्थापित रहता है। दोनों वृत्तियों परस्पर एक-दूसरे की पोषक तथा पूरक हैं। मित्र का व्यवहार त्रस्त मित्र के प्रति भी, इसी वर्ग के अंतर्गत रखा जा सकता है। ये सभी व्यवहार कांट की दृष्टि में सुंदर हैं, प्रशंसनीय है, किंतु यथार्थ में नैतिक नहीं क्योंकि इनमें मानवीय कर्तव्य बुद्धि भावनाओं से युक्त एवं पोषित होने के कारण अपने विशुद्ध नैतिक रूप में व्यक्त नहीं हो पाती।

कांट की दृष्टि में आचरण का तृतीय प्रकार वह है, जहाँ सहज वृत्तियों के विरोध के कारण, कर्तव्य पालन उत्तरोत्तर कठिन होता जाता है। इस प्रकार के सभी दृष्टांतों में कर्तव्य पालन तीव्र आंतरिक संघर्ष के उपरांत ही हो पाता है और कर्तव्य बुद्धि से नियंत्रित व्यक्ति के अंदर उमड़ती हुई सहज वृत्तियों के प्रति

1. "Act as if the maxim of thy actions were to become by thy will a universal law of nature."

एक अपूर्व तटस्थ भाव का विकास आवश्यक हो जाता है। इसके अभाव में कर्तव्य पालन उसके लिए असंभव हो जाता है। तटस्थ भाव से अभिप्राय, अपनी व्यक्तिगत तत्कालीन आवश्यकतओं, रुचियों और इच्छाओं से मुक्त होकर वस्तुगत स्थितियों के निरीक्षण एवं उनके अनुकूल कार्य करने की क्षमता से है। किंतु, जहाँ कर्तव्य वृत्ति एवं सहज वृत्तियों में विरोध होता है, तटस्थ वृत्ति बनाये रखने का कार्य अत्यंत कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ शत्रु के प्रति संकटकालीन स्थिति में मैत्री भाव बनाये रखना तथा उसके लिए वही करना जो परिस्थिति विशेष में अत्यंत आवश्यक एवं उचित हो, सामान्य व्यक्ति के लिए नितांत असंभव है। ठीक इसी प्रकार दुर्बल, अशक्त, निःसहाय व्यक्ति से अनुग्रह प्रकाशन अथवा किसी अन्य प्रकार के पारितोषिक की आशा न रखते हुए, सेवा भाव बनाये रखने की वृत्ति कठिन है। उपरोक्त कार्य उसी प्रकार कठिन है, जिस प्रकार व्यक्ति का नदी की धारा के प्रतिकूल दिशा में बढ़ने का प्रयत्न। कांट की दृष्टि में ऐसा व्यक्ति ही हमारे हृदय की संपूर्ण आस्था एवं सम्मान का यथार्थ पात्र है। उसकी के पावन व्यक्तित्व में मानवता वास्तविक अर्थों में सम्मानित होती है। वह मानव जीवन का सर्वाधिक उन्नत रूप है और ऐसे व्यक्ति का व्यवहार ही विशुद्ध अर्थों में नैतिक कहा जा सकता है। अतएव विशुद्ध कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित आचरण ही मानवता के समक्ष आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसे व्यवहार का ही सामान्यीकरण किया जा सकता है, क्योंकि प्रेरणा रूप में, उसमे व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से मानव की व्यावहारिक वृत्तियाँ एवं इच्छाएँ विद्यमान नहीं। सूत्र की पुष्टि, कांट के विचारों में, उन दृष्टांतों द्वारा भी की जा सकती है जिसमें मनुष्य स्वेच्छा से अपने हित की दृष्टि से व्यावहारिक चेतना से संबद्ध विशिष्ट प्रेरणाओं के कारण नैतिक स्तर पर समझौता करना चाहता है। ऐसे अवसर पर, अपवाद रूप में, व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से आचरण के रूप मे संशोधन करना चाहता है, किंतु वह अपने दृष्टिकोण एवं कार्य के अनौचित्य से अनभिज्ञ नहीं रहता है। वह अपवाद रूप में व्यवहार करते हुए स्पष्ट अनुभव करता है कि उसका वैसा करना उचित नहीं और दूसरा व्यक्ति यदि उन्हीं परिस्थितियों में, उसके प्रति वैसा व्यवहार करेगा तो उसे वह कदापि भी उचित प्रतीत नहीं होगा।

सामान्यतः देखने में आता है कि हम अपने स्वार्थ की दृष्टि से अपने मित्र के प्रति प्रायः सच्चाई एवं ईमानदारी नहीं बरतते, वायदा इस आशय से करते हैं कि उसे पूरा करना ही नहीं है। किंतु, इन सभी क्षणों में, हम यह स्पष्ट अनुभव करते हैं कि हमारा व्यवहार उचित नहीं है, अंतस् में हम कभी-कभी प्रबल अंतर्द्वंद्व की अनुभूति भी करते हैं तथा चाहते हैं हमने भले ही नैतिक माँगों की अवज्ञा की है, किंतु, अन्य व्यक्ति हमारे प्रति वैसा व्यवहार न करें तो अच्छा होगा।

निरपेक्ष आदेश से संबद्ध दूसरे सूत्र की विशेषता स्पष्ट करते हुए कांट

कहते हैं कि उसके द्वारा मानवीय व्यक्तित्व की सहज आंतरिक उत्कृष्टता का प्रकाशन होता है। मनुष्य मूल रूप से एक बौद्धिक प्राणी है और इस नाते वह एक विशेष 'सम्मान' से युक्त है, और इस 'सम्मान' को लक्ष्य करते हुए मानवीय व्यवहार के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं:

"इस प्रकार आचरण कीजिये कि मानवता चाहे आप में हो अथवा किसी अन्य के व्यक्तित्व में, सदैव साध्य रूप में सम्मानित हो, साधन रूप में नही।"[1]

इस संदर्भ में कांट, मल्य[2] एवं गौरव[3] के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं। जो जीवन संबंधी विशिष्ट उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के लिए उपयोगिता रखे वह मूल्यवान है और मूल्य शब्द उसकी इसी विशेषता का सूचक है। कांट ने 'मूल्य' शब्द का प्रयोग व्यावहारिक दृष्टि से तथा व्यावहारिक जीवन की महत्ता की दृष्टि से किया है तथा उनके विचार इस प्रश्न पर प्लेटो, हेगल तथा हेगल के अनुयायियों से भिन्न हैं। 'गौरव' शब्द का प्रयोग उसी के लिए किया जा सकता है, जो स्वतः आंतरिक मूल्य रखता हो। अन्य शब्दों में, गौरव संपन्न अस्तित्व इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं कि वह अपने से भिन्न साध्यों की प्राप्ति में सहायक होता है-वह केवल साधन रूप में महत्व रखता है, प्रत्यत् इसलिए कि जीवन के सभी छोटे-बड़े मूल्य उसी के संदर्भ में परिभाषित होते हैं। वस्तुतः वह विशुद्ध एवं स्थायी 'मूल्य' से संपन्न है और इसी अंतर को स्पष्ट करने के लिए उसे 'गौरव' शब्द से व्यक्त किया गया है।

इस दृष्टि से 'मूल्य' का जीवन में सापेक्ष महत्व है क्योंकि वह अपने से स्वतंत्र एवं पृथक् साध्यों से बाह्य रूप से संबद्ध है और 'गौरव' परम एवं निरपेक्ष मूल्य रखने वाला तत्व है। वह स्वतः प्रकाशित होने वाली विशेषता है और अपने को अभिव्यक्त करने के लिए, किसी अन्य के प्रकाश की कामना नहीं करती। जब जीवन की विशिष्ट माँगों का हम सहज रूप से अतिक्रमण कर लेते हैं तो उनसे संबद्ध वस्तुएँ हमारी दृष्टि में अपना मूल्य खो देती हैं किंतु गौरव से युक्त तत्व अपनी महत्ता का विलय किसी स्थिति में नहीं करता। उसका महत्व शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। जीवन की विशिष्ट माँगों से असंबद्ध होने के कारण, विकास के क्रम में उसके मूल्य के अपहरण का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव हमारा विशुद्ध बौद्धिक व्यक्तित्व ही एकमात्र गौरव का अधिकारी है और इसी लिए वह हमसें अनन्य निष्ठा की अपेक्षा करता है और अपने आदेश का उल्लंघन उसकी दृष्टि में कभी भी क्षम्य नहीं।

इस सत्य को कांट ने द्वितीय सूत्र के अंतर्गत व्यक्त करने की चेष्टा की है। मानवीय व्यक्तित्व हमारी असीम श्रद्धा एवं सम्मान का पात्र है। उसकी अवज्ञा हमें अपने में अथवा अन्य किसी में, किसी परिस्थिति में भी, स्वीकार्य नहीं होनी

1. "So act as to treat humanity, whether in thine own person or in that of any one else, in every case, as an end withal and never as means only."
2. Value.
3. Dignity.

चाहिये। अतएव अपने को अथवा किसी दूसरे व्यक्ति को, विशिष्ट स्वार्थों की सिद्धि के लिए साधन रूप में प्रयुक्त करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। सामाजिक चिंतन के स्तर पर आधुनिक युग में, मानवीय सम्मान एवं गरिमा का यह प्रत्यय मानवीय जागृति का प्रतीक है।

कांट की दृष्टि में, अहं केंद्रिक, लोलुप, स्वार्थी व्यक्ति, जो अपने व्यक्तित्व के सम्मान का सौदा, तुच्छ व्यावहारिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए करता है, तथा वह कायर व्यक्ति जो समाज द्वारा अपने को शोषित होने की अनुमति देता है, दोनों का ही व्यवहार द्वितीय सूत्र के विपरीत है और दोनों ही हमारी अनास्था के पात्र हैं।

आंतरिक शुभ का स्पष्टीकरण करते हुए कांट कहते हैं कि मानव का शुभ संकल्प आंतरिक शुभता से युक्त वस्तु है। इसके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ मानवीय सम्मान एवं गरिमा को वहन करने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे स्वार्थ का पोषण करने वाली हैं। इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कांट कहते हैं : "एक तटस्थ विचारशील साक्षी के लिए, एक ऐसे व्यक्तित्व का दर्शन, जो पावन, शुभ संकल्प की किसी भी विशिष्टता से युक्त न हो किंतु जो अबाधित ऐश्वर्य का उपभोग कर रहा हो, कभी भी सुखप्रद नहीं हो सकता।"[1]

पुनः वे कहते हैं :-

"श्रम में लगन एवं दक्षता व्यावहारिक मूल्य रखते हैं। परिहास क्षमता, बुद्धि, चातुर्य एवं सक्रिय कल्पना, काल्पनिक मूल्य रखते हैं किंतु वचनबद्धता तथा ऐसी लोकहितैषिता का जो सजह वृत्तियों से प्रेरित नहीं, प्रत्युत् सैद्धांतिक रूप से स्वीकृत हो, आंतरिक मूल्य होता है। प्रकृति एवं कला दोनों के ही पास, ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वह इनके स्थान पर रख सके, क्योंकि इनका मूल्य इनसे उत्पन्न परिणाम अथवा इनसे उत्पन्न लाभ एवं उपयोगिता पर निर्भर नहीं करता प्रत्युत् वह मनस् की वृत्ति से संबद्ध है। अन्य शब्दों में, वह संकल्प के उन सूत्रों से संबद्ध है, जो ऐसे व्यवहार में व्यक्त होने के लिए प्रस्तुत हैं, चाहे वांछनीय परिणाम प्राप्त न भी हों।"[2]

---

1. "The sight of a being who is not adorned with a single feature of a pure and good will enjoying unbroken prosperity can never give pleasure to an impartial rational spectator" Metaphysics of morals, p. 9.
2. "Skill and diligence in labour have a market value-wit, lively imagination and humour, have fancy value on the other hand fidelity to promises. Benevolence from principle, (not from instinct) have an intrinsic worth. Neither nature nor art contains anything which in default of these it could put in their place, for their worth consists not in the effect which spring from them, not in the use and advantage, which they secure, but in the disposition of the mind, i. e. the maxims of the will which are ready to manifast themselves in such actions, even though they should not have the desired effect." Ibid, p. 53-54.

अतएव मनस् की वृत्ति की विशुद्धता ही, यथार्थ में परम निःश्रेयस् है। उसका स्थान कोई अन्य वस्तु नहीं ले सकती। इस तथ्य को असीम उत्साह के साथ प्रस्तुत करते हुए कांट कहते हैं, यदि शुभ संकल्प, वांछनीय परिणामों को, व्यावहारिक हितों, को पाने में सर्वथा असमर्थ होता; तब भी उसके आंतरिक मूल्य एवं महत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। कांट के विचार में और अंतिम रूप से नैतिक दृष्टि में वे दोनों प्रकार के व्यक्ति जो अप्रत्याशित स्थितियों के कारण अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सके हैं तथा वे जो सफल हो सके हैं, समान ही हैं, क्योंकि दोनों को नियंत्रित करने वाली प्रेरणाएँ समान रूप से पावन हैं।

पुनः अपने विचार का स्पष्टीकरण करते हुए कांट कहते हैं, इस प्रकार का विशुद्ध नैतिक व्यवहार जो अपनी प्रेरणा के लिए परिणामों पर आश्रित नहीं है केवल इसलिए मूल्यवान नहीं है कि वह किसी आत्मगत रुचि अथवा भावना से संबद्ध है और उस साहचर्य के कारण ही उचित प्रतीत होता है। "विपरीततः उन्हें भावना की किसी तात्कालिक प्रेरणा की आवश्यकता नहीं; वे उस संकल्प को, जिसके द्वारा वे संपन्न होते हैं, तत्काल श्रद्धा के पात्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं, और यही कारण है कि उन्हें संकल्प पर आरोपित करने के लिए केवल बुद्धि के आदेश की ही आवश्यकता पड़ती है, उसे प्रलोभित करने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि कर्तव्य के संदर्भ में वैसा सोचना असंगत होगा।"[1]

अतएव विश्व में 'शुभ संकल्प' ही एक ऐसी वस्तु है, जिसे आंतरिक मूल्य एवं महत्व प्राप्त है और वह ही केवल एक ऐसा तत्व है, जो मानव को उसकी संपूर्ण गरिमा प्रदान करता है। कांट के विचारों में हम सर्वप्रथम, इस तत्व में मानवीय जीवन के एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण पक्ष से उसके यथार्थ रूप में परिचित होते हैं-जिस रूप में वह मानव जीवन का नियमन करने का, उसे गौरव प्रदान करने का अधिकारी है। इसी तत्व के आधार पर ही वास्तव में हम एक उन्नत सार्वभौम आचार-नीति की स्थापना कर सकते हैं, बेंथम और मिल के मूलतः वैयक्तिक दृष्टिकोण के आधार पर उसकी स्थापना स्थायी रूप से कभी भी नहीं की जा सकती है।

निरपेक्ष आदेश से संबद्ध तृतीय सूत्र को कांट इस रूप में व्यक्त करते हैं। "इस प्रकार आचरण कीजिये कि साध्यों के साम्राज्य की आप सदस्यता ग्रहण कर सकें।"[2] साध्यों के साम्राज्य से कांट का तात्पर्य, एक ऐसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था से है, जहाँ व्यक्ति परस्पर स्वतः निर्मित एकता के सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं, जहाँ

1. "They need no immediate propension of feeling for them, they exhibit the will that performs them as an object of immediate respect, and nothing but reason is required to impose them on the will not to flatter it into them, which in case of duties would be a contradiction."

Ibid, p. 53-54.

2. So act as to be members of a kingdom of Ends.

प्रत्येक व्यक्ति का आचरण नियमवत ही नहीं होता, प्रत्युत् सचेतन स्तर पर वह उस नियम का अंतिम स्रोत भी होता है, जिसके अधीन अपने को रखते हुए वह कार्य करता है। ऐसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था में विकास की वर्तमान स्थिति से संबद्ध 'कर्तव्य' एवं 'करणीयता' के प्रत्यय बहुत कुछ अपनी सार्थकता नष्ट कर देते हैं। विकास की इस उन्नत स्थिति में मानवीय व्यवहार के आत्मगत सूत्र बड़ी सरलता से वस्तुगत नियम का रूप ग्रहण कर सकते हैं। शुद्ध बुद्धि का सर्वत्र विलास दृष्टिगत होता है तथा मानवीय व्यक्तित्व स्वतः वास्तविक अर्थों में स्वतंत्र, स्वशासित तथा आदर्श हो जाता है। उसके लिए इससे अधिक उन्नत स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें वह 'प्राकृतिक नियमों के प्रदान करने में सम्मिलित हो सकें'। वह एक ऐसी स्थिति है, 'जिसके द्वारा वह संभाव्य साध्यों के साम्राज्य की सदस्यता ग्रहण करने का अधिकारी बनता है और अंततः वह एक ऐसा अधिकार है, जिसे प्राप्त करना स्वतः साध्य रूप उसकी अपनी प्रकृति द्वारा पूर्व निश्चित ही था।[1]

मानवीय व्यवहार का यह तृतीय सूत्र द्वितीय से अभिन्न रूप से संबद्ध है। एक ऐसे व्यक्ति के लिए, जो स्वतः साध्य रूप में अवस्थित रहने की इच्छा रखता है, अपने को अन्य द्वारा साधन रूप में प्रयुक्त नहीं होने देता तथा अन्य के सम्मान की रक्षा करने में संलग्न रहता है, विकास की यही सहज परिणति है। इससे भिन्न, उसके लिए अस्तित्व की अन्य स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती हैं। स्पष्ट शब्दों में कांट कहते हैं-"स्वतंत्रता ही मानव तथा समस्त बुद्धिजीवियों के गौरव का एकमात्र आधार है।"[2]

मानवीय नैतिक चेतना को मुक्त, स्वतःशासित एवं स्वतंत्र प्रस्तुत करना कांट के लिए स्वाभाविक है। उनका विश्वास है कि आदर्श की दृष्टि से मानवीय संकल्प को, लौकिक प्रेरणाओं से प्रभावित नहीं होना चाहिये-क्योंकि इस प्रकार से उसका विजातीय तत्वों द्वारा नियंत्रित होना उसके सहज, मुक्त, बौद्धिक रूप के विपरीत है।

अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए कांट कहते हैं कि मानव का, इस प्रकार भावनाओं एवं वृत्तियों के अधीन होने की कल्पना, वस्तुतः उसके यथार्थ नियामक रूप की दृष्टि से अनुचित है। यदि वह अपने से पृथक् बाह्य तत्वों की प्रभुता को स्वीकार करता है तथा उनसे नियंत्रित होता है तो निश्चित है कि उन नियमों के अनुरूप कार्य

---

1. "............In which he is privileged" to participating in the giving of natural laws, by which it qualifies him to be a member of a possible kingdom of ends, a privilege to which he was already destined by his own nature as being an end in itself."

   Metaphysics of Morals, p. 54.
2. "Autonomy is the basis of the dignity of human and of every rational being." Ibid, p.51.

करने की वृत्ति की अपेक्षा उनके विपरीत कार्य करने की वृत्ति ही उसे अधिक सहज और सुखद प्रतीत होगी। उन नियमों के अनुकूल कार्य करने की वृत्ति को उसे समय-समय पर अनुसरण हेतु अनेक प्रकार के प्रलोभनों से सशक्त करना पड़ेगा।

विपरीततः जैसे ही व्यक्ति अनुभव करता है कि जिस तत्व की प्रभुता के अधीन कार्य करना उसने स्वीकार किया है, वह विजातीय नहीं, प्रत्युत् उसके अपने ही व्यक्तित्व का उन्नत एवं गहनतम रूप है, उसकी अधीनता वह सहज रूप से स्वीकार कर लेता है, और इस स्थिति में नियम की प्रतिकूलता सदैव कष्टप्रद होगी-उसके अंदर कुंठा ग्लानि एवं आंतरिक क्षोभ की भावना उत्पन्न करने वाली होगी। निम्नलिखित पंक्तियों में अपने विचार व्यक्त करते हुए कांट कहते हैं :

"जब किसी के द्वारा मानव के मात्र नियम के अधीन रूप की ही कल्पना की जाती है (चाहे वह कोई भी नियम क्यों न हो) तब उस नियम को किसी-न-किसी रूचि के साथ अनिवार्यतः संबद्ध होना ही पड़ता है, चाहे वह रूचि, नियंत्रण के रूप में क्यों न हो। क्योंकि उक्त स्थिति में नियम का उद्भव उसके अपने संकल्प से न हो कर, संकल्प स्वयं विशिष्ट प्रकार से कार्य करने के लिए, किसी अन्य वस्तु द्वारा नियम रूप में संचालित होता है।"[1] कांट की ये पंक्तियाँ एक ही बार में, उन सभी सिद्धांतों का खंडन करती हैं, जिन्होंने नैतिक 'बाध्यता' को चेतना से, पृथक् किसी बाह्य तत्व द्वारा आरोपित स्वीकार किया है। इस प्रश्न के औचित्य पर सुखवाद से संबद्ध अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। बाह्य प्रतिबंधों का नियंत्रण, बाह्य न हो कर आंतरिक ही है। इस दृष्टि से केवल बाह्य अनिवार्यता का ही स्पष्टीकरण कर सकता है, किंतु नैतिक बाध्यता निश्चित रूप से बाह्य न होकर आंतरिक ही है। इस दृष्टि से केवल बाह्य अनुशासन के आधार पर उसका यथार्थ प्रस्तुतीकरण संभव नहीं। अतएव उन सिद्धांतों की अपेक्षा, जिन्होंने नैतिक बाध्यता को प्रमुख रूप से बाह्य ही स्वीकार किया है, कांट का दृष्टिकोण नैतिक जीवन के तथ्यों से अधिक निकट है। निरपेक्ष आदेश एवं उससे संबद्ध तीन सूत्रों की व्याख्या से स्पष्ट है, कि ये सूत्र परस्पर असंबद्ध न होकर अन्योन्याश्रित हैं तथा जीवन में एक की स्वीकृति में अनिवार्यतः अन्य की स्वीकृति भी निहित है। इनके संबद्ध रूप को स्पष्ट करते हुए राजर्स कहते हैं :

"निरपेक्ष आदेश के तीन विभिन्न रूपों में तीन प्रत्यय प्रमुख हैं और ये क्रम से एकता, अनेकता तथा संपूर्णता हैं। प्रथम नैतिक नियम की एकता को व्यक्त करता

---

1. "When one has conceived man only as subject to a law (no matter what) then this law required some interest, either by way of attraction or constraint, since it did not originate as a law from his own will, but this will was according to a law obliged by something else to act in a certain manner" Ibid, p. 51.

है, नियम मात्र एक है, जिसका सबको पालन करना है। द्वितीय इस बात पर बल देता है, कि बौद्धिक प्राणी अनेक हैं और सभी के प्रति इस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये मानो वे निरपेक्ष मूल्य रखते हों। तृतीय, इस स्थिति से संबद्ध हैं कि प्रथम दो रूपों में विरोध हो ही नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति के निरपेक्ष मूल्य से केवल एक ही नियम की उत्पत्ति हो सकती है, भिन्न नहीं।"[1]

आनंद एवं नैतिकता

कांट के विचारों से संबद्ध एक और महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका वर्तमान संदर्भ में उल्लेख अनिवार्य है। कांट ने नैतिक जीवन एवं आनंद के परस्पर संबंध पर प्रकाश डालते हुए अंत में दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। किंतु यदि उनके इस प्रयास को, उनके प्रमुख विचारों की पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि उक्त सामंजस्य संभव नहीं। प्रारंभ से ही अपने विचारों की अभिव्यक्ति में कांट ने जीवन के संवेदन तत्व को विजातीय तत्व के रूप में स्वीकार किया है और उसके साथ नैतिक ज़ीवन के किसी प्रकार के समझौते की संभावना को स्पष्ट अस्वीकार किया है। वस्तुतः उनके अनुसार तो, जीवन की दोनों माँगों में निरंतर संघर्ष एवं विरोध ही जीवन की, उच्चतम अभिव्यक्ति के लिए वांछनीय है और संघर्ष की बढ़ती हुई तीव्रता जीवन की उन्नति का यथार्थ प्रतीक ही नहीं, वरन् सार है। अन्य शब्दों में, जितना ही यह संघर्ष सघन होता जायेगा, उतना ही हमारे नैतिक जीवन की अभिव्यक्ति में निखार आता जायेगा।

किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि, विशुद्ध नैतिक जीवन को आदर्श मानते हुए भी लौकिक प्रेरणाओं की प्रबलता को और उनकी माँगों को कांट ने, अंत में मान ही नहीं लिया, प्रत्युत् उसे विशुद्ध नैतिक जीवन की संपूर्णता के लिए, अनिवार्य तत्व के रूप में भी स्वीकार कर लिया है। समीक्षकों का ऐसा ही मत है और इसलिए उनके विचार की, इस प्रश्न पर तीव्र आलोचना भी हुई है।

प्रथम दृष्टि में तो समीक्षकों द्वारा कांट के विचारों की जो असंगति दोष के कारण आलोचना हुई है, वह उचित ही प्रतीत होती है। उनका निश्चित मत है कि लौकिक दृष्टि से अपने विचारों की अव्यावहारिकता एवं कठोरता का अनुभव

---

1. The three conceptions are prominent in three different forms of the categorical imperative; these are unity, plurality and totality. The first form expresses the unity of the moral law; there is one law which all are to obey. The second emphasises that there is a plurality of rational subjects, each of which is to be treated as having absolute worth. The third form follows at once from the condition that there can be no contradiction between the first two forms. There is not a different law arising from the absolute worth of each person but only one law.

A Short History of Ethics, p. 199.

करते हुए और यह समझते हुए कि उक्त कारणों से सामान्य व्यक्ति को ऐसे शुष्क, नीरस, आदर्श के प्रति आकृष्ट करना कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी होगा, कांट ने सामान्य आनुभविक चेतना के साथ समझौता स्थापित करते हुए अपने आदर्श संबंधी विचार में आनंद एवं विशुद्ध नैतिक जीवन के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की। विशुद्ध नैतिक जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से इस जीवन में नहीं तो आगामी जीवन में आनंद से पुरस्कृत होगा और इसके हेतु, उन्होंने ईश्वर को नैतिक चेतन एवं नैतिक जीवन की अनिवार्य मान्यता के रूप में स्वीकार किया है। वह न्यायप्रिय है और उसे नैतिक आस्था रखने वाले व्यक्ति के साथ न्याय करना है। और इसलिए यदि लौकिक स्तर पर न्याय नहीं हो पाता तो एक अपूर्व आध्यात्मिक सुख एवं संतोष द्वारा व्यक्ति को आगे आने वाले जीवन में पूर्णरूपेण लाभान्वित होना है।

व्यावहारिक जीवन के तथ्य, उक्त सत्य का समर्थन करते हुए भी दिखाई देते हैं। सात्विकी वृत्ति वाला व्यक्ति प्रायः जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से त्रस्त ही दिखायी देता है। उसे प्रायः घोर दैहिक यंत्रणा का सामना करना पड़ा है और अनेक बार तो मृत्यु दंड द्वारा भी पुरस्कृत होना पड़ा है। एथेंस के न्यायालय ने महात्मा सुकरात को दोषी सिद्ध करते हुए मृत्यु दंड घोषित किया था, यीशु मसीह, पोंचय पायलेट द्वारा दोषी ठहराये गये और घोर यंत्रणा के पश्चात् सूली पर चढ़ा दिये गये। आधुनिक युग में गाँधी जी की भी इसी प्रकार हत्या कर दी गयी।

अतएव जीवन के तथ्य स्पष्टतः कुछ इस प्रकार के हैं कि सामान्य चेतना प्रायः नैतिक जीवन व्यतीत करने के औचित्य पर अनास्था ही व्यक्त करती है। अतएव कांट ने उक्त अनुभूति के औचित्य एवं सहजता को स्वीकार करते हुए, सामान्य व्यक्ति को आश्वस्त करने के लिए और उसमें आदर्श को स्वीकार करने और उसके अनुरूप जीवन व्यतीत करने की समुचित प्रेरणा भरने के लिए ईश्वर को स्वीकार किया और उसकी न्यायप्रियता के आधार पर नैतिक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को विश्वास दिलाया कि इस संबंध में उसके प्रयास अपुरस्कृत न रहेंगे। प्लेटो ने भी शाश्वत जीवन संबंधी कुछ इसी प्रकार का चित्र प्रस्तुत किया है। आगामी जीवन में, व्यक्ति को अनवरत् शांति, शाश्वत आनंद की निश्चित उपलब्धि होनी है और लौकिक स्तर पर जीवित रहने वाला व्यक्ति, मनोदैहिक प्रेरणाओं के अधीन कार्य करने वाला व्यक्ति, उस जीवन की सौम्यता एवं उत्कृष्टता के विषय में कल्पना भी नहीं कर सकता।

शाश्वत जीवन विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन है और भारतीय ऋषियों ने सदैव इस जीवन के महत्व को स्वीकार किया है। वह आनंद रूप है। उपनिषद् की निम्न पंक्तियाँ उसका अपूर्व चित्र प्रस्तुत करती हैं-

'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखभास्ति।
भूमैव सुखं भूमैव विजिज्ञासितव्यम् इति।।[1]

प्रश्न है : क्या कांट के विचार में आनंद की स्वीकृति द्वारा यथार्थ ही में, असंगति दोष आ गया है? क्या समीक्षकों का मत उचित है? कांट ने जिस आनंद की कल्पना नैतिक जीवन की निष्पत्ति के संदर्भ में की है, वह नैतिक जीवन के पारितोषिक के रूप में कदापि नहीं है। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो विशुद्ध नैतिक जीवन स्वतः साध्य न हो कर आनंद की, सुख की, उपलब्धि का केवल एक महत्वपूर्ण सोपान ही होता किंतु कांट की दृष्टि में नैतिक जीवन, स्वतः साध्य और निरपेक्ष मूल्य रखने वाला लक्ष्य है और इसी के संदर्भ में अन्य सभी निम्न साध्य परिभाषित किये जा सकते हैं। अन्य शब्दों में, सभी लौकिक साध्य इसी 'परम् श्रेयस्' के साधन रूप में महत्वपूर्ण हैं, अतएव सापेक्ष मूल्य रखने वाले हैं। कांट ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति में इस तथ्य की कभी भी अवज्ञा नहीं की है, इसलिए आनंद और लौकिक सुख के अंतर की अवज्ञा नहीं की जा सकती है, उन दोनों का एकीकरण संभव नहीं और समीक्षकों की आलोचना इसी भ्रांति पर आधारित प्रतीत होती है।

इसलिए जिस 'आनंद' की चर्चा नैतिक जीवन की निष्पत्ति के संदर्भ में कांट ने की है उसे अनानुभविक अर्थ में ही ग्रहण करना है। आनंद एवं विशुद्ध नैतिक जीवन एक-दूसरे के पर्याप्त हैं। आनंद विशुद्ध नैतिक जीवन का चरम रूप है जहाँ लौकिक जीवन से संबद्ध संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और एक अपूर्व सौम्य स्थिति को स्थापना हो जाती है जो किसी प्रकार की लौकिक कामना एवं प्रेरणा से विकृत नहीं होती। गीता में इसी आदर्श स्थिति को साम्य स्थिति कहा है जो स्थितिप्रज्ञ के जीवन में अभिव्यक्त होती है और यह एक ऐसा 'प्राप्य' है जिसे प्राप्त करने के उपरांत कुछ भी प्राप्त करने के लिए शेष नहीं रह जाता। भारतीय दर्शन में इसी स्थिति को 'मोक्ष' अथवा 'कैवल्य' कहा गया है।

किंतु इस मुक्त स्थिति की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि यथार्थ, अपूर्ण और इसी कारण अवांछनीय स्थिति से उसका जो विरोध है, वह पूर्ण रूपेण स्पष्ट कर दिया जाय। इसी के द्वारा सामान्य व्यावहारिक चेतना के समक्ष आदर्श की महत्ता स्पष्ट हो सकेगी ओर उसे जीवन में स्वीकार करने की कामना विकसित हो सकेगी। सामान्य चेतना लौकिक लक्ष्यों एवं प्रेरणाओं में इस प्रकार उलझी रहती है कि उससे व्यक्ति का मुक्त होना प्रायः असंभव होता है और इसीलिए विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन की ओर आस्था जागृति करने के लिए, उक्त चित्र को प्रस्तुत करना वांछनीय एवं सप्रयोजनीय प्रतीत होता है। कांट के प्रस्तुतीकरण के पीछे ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः इसी प्रकार का प्रयोजन विद्यमान है।

1. छांदोग्य उपनिषद्, 7/23/1.

नैतिक जीवन की पूर्वमान्यताएँ

नैतिक जीवन की स्वीकृति एवं स्पष्टीकरण हेतु कांट ने, जिन पूर्वमान्यताओं को स्वीकार किया है, उनका भी वर्णन वर्तमान संदर्भ में अनिवार्य प्रतीत होता है। स्वीकृत प्रमाण के आधार पर इन्हें प्रमाणित नहीं किया जा सकता, किंतु नैतिक जीवन को, समुचित रूप से प्रस्तुत करने के लिए इनकी स्वीकृति नितांत अनिवार्य है, इसीलिए इन्हें पूर्वमान्यताएँ कहते हैं। ये तीन हैं : संकल्प स्वातंत्र्य, आत्मा की अनश्वरता तथा ईश्वर।

संकल्प स्वातंत्र्य संबंधी पूर्वमान्यता

नैतिक जीवन के स्पष्टीकरण हेतु, यह सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्व रखने वाली पूर्वमान्यता है। कांट कहते हैं, यदि नैतिक जीवन का आदर्श महत्वपूर्ण है, वांछनीय एवं प्राप्य है, तब अनिवार्यतः हमें इससे संबद्ध सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि मानवीय संकल्प शक्ति में उस आदर्श को स्वीकार करने की तथा उसे जीवन में अभिव्यक्त करने की पर्याप्त क्षमता है। अन्य शब्दों में, मानवीय जीवन में 'चाहिये' शब्द निष्प्रयोजनीय है, यदि मानवीय संकल्प उक्त क्षमता से मुक्त नहीं, वह स्वतंत्र नहीं है।[1]

किंतु, इस तथ्य के बावजूद भी प्राचीन तथा आधुनिक युग में ऐसे अनेक दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने मानवीय संकल्प संबंधी इस तथ्य को अस्वीकार किया है और इस प्रश्न पर नियंत्रणवाद का समर्थन किया है। स्पिनोजा कहते है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, उसके प्रत्येक व्यापार में, एक गणितीय एवं ज्यामितीय अनिवार्यता विद्यमान है। उन्होंने यह भी कहा है कि मानवीय संकल्प स्वातंत्र्य संबंधी भ्रांति का मूल आधार कारण के विषय में मानव की अनभिज्ञता है। जब मानवीय बुद्धि घटनाओं के पूर्व श्रृंखला के क्रम कों समझने में असमर्थ होती है, वह समझने लगती है कि उनका आविर्भाव मुक्त एवं अनियंत्रित रूप से हुआ है और मानवीय व्यवहार के क्षेत्र में वे स्वतंत्र संकल्प के परिणाम हैं। आधुनिक युग में हालबैक महोदय ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

मानवीय संकल्प स्वतंत्र है या नहीं इस विवाद से वर्तमान संदर्भ में हमारा कोई प्रयोजन नहीं। कांट संकल्प स्वांतत्र्य के समर्थक थे और वे इस बात पर दृढ़मत थे कि अपने आदर्शों को जीवन में स्वीकार करने की और उनके अनुरूप जीवन को व्यतीत करने की अपूर्व क्षमता व्यक्ति में निहित है। यही नहीं उन्होंने तो यह भी कहा है कि जिन आदर्शों को वह जीवन में स्वीकार करता है, उन्हें वह स्वयं से ही प्राप्त करता है। वह एक महत्वपूर्ण अर्थ में अपने जीवन का नियामक भी है और

---

1. Thou oughtst, therefore, thou canst.

उन नियमों द्वारा, जिन्हें वह स्वेच्छा से स्वीकार करता है, वह नियंत्रित भी होता है। अपने नियामक रूप के कारण ही वह अपने को स्व-स्वीकृत लक्ष्य तक ले जाने की पर्याप्त प्रेरणा पाता है और एक अपूर्व गौरव की अनुभूति करता है।

इन विचारों की स्वीकृति एवं उनका समर्थन कांट के पश्चात् हेगल तथा उनके अनुयायियों द्वारा हुआ है, जिनके विचारों को आगामी अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा।

आत्मा की अनश्वरता संबंधी पूर्वमान्यता

जिस आदर्श को व्यक्ति स्वीकार करता है, तथा जिसे वह अपने नैतिक जीवन की मध्यस्थता से अधिक अभिव्यक्त करना चाहता है, उसकी प्राप्ति एक जीवन की छोटी-सी अवधि में संभव नहीं है। इसलिए लक्ष्य की सार्थकता को प्रतिष्ठित रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम किसी-न-किसी रूप में, आगामी जीवन की संभावना को स्वीकार करें नहीं तो इस जीवन के अधूरे प्रयास चरम निष्पत्ति के अभाव में निरर्थक एवं अर्थ शून्य ही प्रतीत होंगे। अन्य शब्दों में, यदि व्यक्ति का जीवन मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है और नूतन जीवन की संभावना की कल्पना नहीं की जा सकती, मानव जीवन के आदर्श अनभिव्यक्त हो रह जायेंगे और उनकी अभिव्यक्ति के लिए किये गये उसके संपूर्ण प्रयास असफल ही रह जायेंगे। अतएव कांट का दृढ़ मत है कि मृत्यु के पश्चात् जीवन को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करना परमावश्यक है ताकि हमारे आदर्श संबंधी अधूरे प्रयास पूर्ण हो सकें और हम नैतिक जीवन की चरम निष्पत्ति को साकार कर सकें।

भारतीय दार्शनिकों ने इस सत्य को निर्विरोध स्वीकार किया है और इसी का प्रतिपादन उन्होंने कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत में किया है। बौद्ध दर्शन में भवचक्र के रूप में इसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति बड़े अर्थपूर्ण रूप से की गयी है।

यदि मनुष्य मात्र भौतिक नहीं है, यदि दैहिक व्यक्तित्व एवं उससे संबद्ध आकांक्षाएँ ही उसके संपूर्ण जीवन को परिभाषित नहीं करतीं, यदि उन्नत आध्यात्मिक प्रेरणाएँ उसके अंदर सक्रिय हैं तब शारीरिक मृत्यु हमारे जीवन की इति नहीं हो सकती। कोई भी दर्शन जो स्थूल भौतिक दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करता; इस सत्य की अवज्ञा नहीं कर सकता। उसे अनिवार्यतः आत्मा की शाश्वत एवं आध्यात्मिक जीवन की संभावना में विश्वास करना होगा। मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना ने, सदैव ही इस सत्य को स्वीकार किया है।

ईश्वर संबंधी पूर्वमान्यता

कांट की तृतीय पूर्वमान्यता ईश्वर के अस्तित्व से संबद्ध है। नैतिक जीवन में आस्था रखने वाले व्यक्ति के प्रति न्याय का व्यवहार करने के लिए, ईश्वर के

अस्तित्व को कांट ने स्वीकार किया है। प्रायः जीवन में देखा गया है कि आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति लौकिक सुख एवं शांति से वंचित रहता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न स्वाभाविक है कि मनुष्य आध्यात्मिक जीवन क्यों व्यतीत करे ? जीवन में उसे अनेक प्रकार की यंत्रणा उठाने से क्या लाभ ?

ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना ही, कांट के विचार में, मानव में उठती हुई इस प्रकार की अनास्था एवं अविश्वास का एकमात्र हल है। सामान्य व्यक्ति जो कुछ भी करता है, किसी ऐसे लाभ के लिए करता है, जो उसे निकट या दूरस्थ भविष्य में प्राप्त होने को है, किसी प्रकार के पारितोषिक की संभावना ही वस्तुतः उसके जीवन को संचालित करने की प्रमुख प्रेरणा है। शुभ जीवन में आस्था तथा उसको व्यतीत कर लेने की प्रेरणा को भी, यदि उसके द्वारा स्वीकृत होना है, उसे उसी प्रेरणा के अधीन होना चाहिये। लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में 'मूल्य' शब्द जीवन के विभिन्न प्राप्यों के संदर्भ में ही परिभाषित होता है। वे सभी वस्तुएँ, कालांतर में अपना मूल्य और महत्व खो देती हैं जो भविष्य में व्यक्ति को लाभान्वित करने की संभावना नहीं रखतीं अथवा उसकी संभावना को समाप्त कर चुकी हैं। व्यक्ति की चेतना जब पर्याप्त विकसित हो जाती है, तभी वह साध्य रूप में महत्वपूर्ण अपुरस्कृत नैतिक जीवन में अनन्य आस्था रखने की इच्छा की अनुभूति करता है, अन्यथा नहीं। सामान्य जीवन का अध्ययन हममें इस प्रकार नैतिक जीवन व्यतीत करने की आस्था नहीं उत्पन्न करता और न ही इस प्रकार का आश्वासन देता है कि निकट एवं दूरस्थ भविष्य में हमें इससे लाभन्वित होना है।

अतएव कांट ने सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण से उसमें विशुद्ध नैतिक जीवन में अनन्य आस्था विकसित करने की दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व को, पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया है। ईश्वर न्यायी है और निश्चित है, वह दया और अनुकंपा से हमारी यातनाओं का अपहरण कर असीम आनंद से आगामी जीवन को पूरित कर देगा।

स्पष्ट है, कांट की इसी स्वीकृति के पीछे उनकी धार्मिक आस्था प्रतिबिंबित हो रही है।

निरपेक्ष आदेश की समीक्षा

कांट के विचारों की आलोचना समय-समय पर होती रही है। निरपेक्ष आदेश संबंधी उनका प्रत्यय, आलोचकों का आकर्षण बिंदु रहा है। हार्टमन ने व्यक्तिनिष्ठवाद[1] के समर्थन के कारण उनकी तीव्र आलोचना की है। दर्शन एवं नैतिक विचार के क्षेत्र में इसके कारण अनुभव निरपेक्ष[2] प्रत्यय को, उन्होंने एक अनुचित मोड़ देने

1. Subjectivism इसके लिए विषयिनिष्ठवाद शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।
2. Apriori इसके लिए प्रागनुभव निरपेक्ष शब्द का भी प्रयोग होता है।

की चेष्टा की है। उनका दृढ़ विश्वास था कि, अनुभव निरपेक्ष प्रत्यय का मूल स्रोत, कर्ता के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हो सकती। इसके विपरीत हार्टमन का स्पष्ट मत है कि उसका स्रोत कर्ता से पृथक् एक स्वतंत्र, स्व-नियंत्रित, वस्तुनिष्ठ आदर्श जगत ही होना चाहिये। हार्टमन इस प्रश्न पर कांट का विरोध तथा प्लेटो के विचारों से सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं :

"व्यक्तिनिष्ठवादी एवं वृत्तिमूलक प्रागनुभववाद स्वयं एक परिभ्रांति थी और उसके द्वारा जो कुछ भी मूलतः वस्तुगत एवं अनुभव निरपेक्ष रूप से ज्ञेय था, उसकी प्रकृति को नितांत अनुचित रूप से प्रस्तुत किया गया।"[1]

हार्टमन के अनुसार, नैतिक क्षेत्र में मूल्यों को वस्तुनिष्ठ होना चाहिये और नैतिक कर्ता से पूर्णतः विमुक्त होना चाहिये। इस विषय पर अपने विचार स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं :

"अपनी सर्वव्यापकता, प्रागनुभविकता एवं निरपेक्ष रूप के लिए, नियम को किसी व्यक्तिगत उद्भव की आवश्यकता नहीं, चाहे वह उद्भव कितना ही उच्चतम सम्मान का क्यों न हो; चाहे उसकी उत्पत्ति स्वयं व्यावहारिक बुद्धि की मूल प्रकृति में ही क्यों न हुई हो। उसके उद्भव की एक ही आवश्यकता है कि वह प्रकृतिवादी वस्तुवादिता में न हो-अन्य शब्दों में, उस प्रकृति एवं विश्व में न हो, जिसका इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है।"[2]

हार्टमन के अनुसार, कांट के विचार गंभीर एवं स्थायी भ्रांति पर आधारित हैं। उनके अनुसार, कर्ता स्वयं ही प्रागनुभव का एकमात्र स्रोत है। क्योंकि प्रागनुभव मूलतः अनानुभविक है, इसीलिए, उसे आत्मनिष्ठ ही होना चाहिये। कांट की दृष्टि में अनानुभविक किंतु वस्तुगत प्रागनुभव का प्रत्यय संभव नहीं और इसीलिए उनके विचारों में उसे कोई भी स्थान नहीं दिया गया है। उनके विचार के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए हार्टमन कहते हैं :

"क्या यह संभव नहीं कि कर्ता, जिसे अनुभव निरपेक्ष समझे, वह उतना ही वस्तुगत हो जितना कि वह वस्तु, जिसका वह अनुभव सापेक्ष प्रत्यक्ष करे? इस

---

1. "Subjectivistic and functionalistic apriorism was in itself a confusion, a totol misunderstanding of the originally objective character of everything knowable apriori." Ethics, p. 164.
2. "The universality, the apriority and the categorical character of the principle have no need of a subjectivistic origin... even though it be an origin of the highest dignity-an origin in the constitution of practicl reason itself Its only need is an origin which is not to be found in naturalistic objectvity...That is, not in nature or in the world preceived by the senses." Ibid, p. 164.

एक तथ्य से कि यथार्थ (आनुभविक) विषयों से अनुभव निरपेक्ष विषय प्राप्त नहीं किया जा सकता उनकी वस्तुगतता में कोई अंतर नहीं आता।"[1]

वे पुनः कहते हैं :

"जिस पूर्वधारणा के कारण कांट में प्राग्नुभविक सत्ता की वस्तुगतता के विषय में भ्रांति उत्पन्न हो गयी थी, वह केवल इतनी ही थी कि उनके अनुसार जो आनुभविक था, (जो इंद्रिय के सम्मुख प्रस्तुत था) वही वस्तुतः वस्तुगत था। आध्यात्मवाद की सभी भ्रांतियाँ इसी एक पूर्वधारणा में निहित थीं और यही कारण है कि आदर्श वस्तुओं का समस्त क्षेत्र (जिसकी उपलब्धि एवं सैद्धांतिक स्तर पर जिसकी स्वतः अस्तित्ववान क्षेत्र के रूप में रचना प्लेटोवाद में हो चुकी थी) 19वीं शताब्दी के लिए पूर्णतः विदेशीय हो गया।"[2]

कांट में आकारवाद[3]

पुनः आकार एवं उपादान के मध्य जो भ्रांतिपूर्ण विरोध कांट ने प्रस्तुत किया, वह हार्टमन की दृष्टि में उचित नहीं। कांट के अनुसार प्राग्नुभविक तत्व संपूर्णतः आकारात्मक है-वह उपादान शून्य है और अनुभव सापेक्ष तत्व आनुभविक एवं उपादान मात्र है। विशुद्ध अमिश्रित आकार एवं उपादान संबंधी यह भ्रांति अति प्राचीन काल से चली आ रही है और इसके विपरीत हार्टमन दोनों तत्वों की पारस्परिक संबद्धता में विश्वास रखते हैं। उनकी दृष्टि में आकार के अभाव में विशुद्ध आकार की भी कल्पना नहीं हो सकती। दोनों प्रत्यय ऐसे काल्पनिक बिंदु हैं, जिनके अनुरूप यथार्थ जगत में कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता। यथार्थ जगत में दोनों के सम्मिश्रण से ही उत्पन्न वस्तुओं का प्रत्यक्ष संभव है। इसके अतिरिक्त दोनों के मध्य एक अन्य संबंध को भी हार्टमन स्वीकार करते हैं। आकार एवं उपादान लौकिक वस्तुओं की स्थायी विशेषता नहीं है। विभिन्न दृष्टिकोण से एक ही वस्तु आकार एवं उपादान दोनों ही रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है। जो वस्तु निम्न दृष्टि से आकार प्रतीत होती है,

---

1. "May not the content of what the subject, discerns 'apriori' be just as objective as what be perceives 'aposteriori' ? That the aprioristic contents are not to be extracted from the real (empirical) objects as such does not in any way derogate from their objectivity."

   Ethics, p. 163-64.

2. "The prejuidice which occasioned Kant's misunderstanding of the objectivity of the thing discerned 'apriori' was just this that with him only the empirical (only what was at the same time presented to sense) was accepted as validity objective. This prejuidice ultimately involved all the confusions of idealism. It is responsible for the fact that the whole sphere of ideal objects-which in platonism was already discovered and was theoretically constructed as a self existing sphere-became entirely alien to the nineteenth century." Ibid, pp. 163-164.

3. Formalism.

वही समुन्नत दृष्टि से उपादान प्रतीत होती है। अतएव हार्टमन विशुद्ध प्रागनुभविक आकार के संदर्भ में विशुद्ध आकार का प्रत्यय संभव नहीं है। इस विषय में, अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"आकार एवं उपादान का विरोध नितांत सापेक्ष है। जिस किसी वस्तु को आकार प्राप्त हुआ है, वह उन्नत रचना की दृष्टि से पुनः उपादान के रूप में स्वीकार की जा सकती है। और इसी प्रकार प्रत्येक विशिष्ट उपादान निम्न उपादान तत्वों से उत्पन्न माना जा सकता है। अधिक-के-अधिक विशुद्ध आकार एवं उपादान विकास के क्रम में केवल चरम बिंदुओं के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। और ये बिंदु वस्तुतः चिंतन एवं विचार के क्षेत्र से पृथक् ही हैं। प्रकृति एवं बुद्धि के प्रत्येक व्यापार में, घटनाओं के क्रम का विकास मध्यस्थ प्रांतों में, सापेक्ष के क्षेत्र में, ही लक्षित होता है, अन्यत्र नहीं।"[1]

उक्त सामान्य निष्कर्ष से, इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि निरपेक्ष आदेश स्वयं विशुद्ध अमिश्रित आकार नहीं हो सकता। निश्चित ही वह किसी-न-किसी उपादान से संयुक्त होगा और वह उपादान अपनी प्रकृति में प्रागनुभविक ही होगा। अतः उन्होंने उसे 'प्रागनुभविक उपादान' कहा क्योंकि अनुभव द्वारा बोध संभव नहीं। कांट के विचार की दो प्रमुख ध्वनियाँ-उनकी व्यक्तिनिष्ठता तथा विशुद्ध अनुभव, निरपेक्ष आकार निष्ठता, परस्पर अन्योन्याश्रित हैं और उन्हें साथ-ही-साथ स्वीकार एवं अस्वीकार किया जा सकता है। यदि उनकी व्यक्तिनिष्ठता का परित्याग किया जाय, तो अनिवार्यतः साथ-ही-साथ उनकी विशुद्ध आकारनिष्ठता का भी परित्याग करना होगा।

बुद्धिवादी प्रागनुभविकता[2]

कांट का मूलतः बुद्धिवादी दृष्टिकोण हार्टमन की आलोचना का विशेष बिंदु है। कांट की दृष्टि में नैतिक चेतना मूलतः एक परिज्ञानशील चेतना है।[3] किंतु हार्टमन के अनुसार उसका परिज्ञानशील रूप, उसकी मूल प्रकृति को आवृत किये हुए है। वह अपने मूल रूप में अ-परिज्ञानशील[4] है और उसकी इसी मूल-प्रकृति से

1. "The contrast of form and matter itself is purely relative, that everything formed can again be regarded as a matter of higher formation and that in the same way every specific matter can be concived as formed out of lower material elements At best absolute matter and absolute form can be accepted in this progression merely as extremes. And it is exactly the extremes which 'definitely fall outside of reflective and conceptual interpretation. The whole sequence of phenomena in every department of nature and of the mind moves with in intermediate members, within the sphere of relativity." Ibid, p. 168.
2. Intellectualisitic apriorism.
3. Cognitive consciousness.
4. Non cognitive or Infra-cognitive. निस्संज्ञानात्मक शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है। निम्न–परिज्ञानशील शब्द का भी वर्तमान संदर्भ में प्रयोग किया जा सकता है।

विकास के क्रम में, उसके परिज्ञानशील रूप का आविर्भाव हुआ है।

एक अ-परिज्ञानशील मूल्यात्मक नैतिक चेतना, सहज ही हमें मूल्यों का बोध करा देती है और उस संवेदन[1] के लिए उसे किसी प्रकार के इंद्रिय-बुद्धि सहयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। सहज बोध से हार्टमन का तात्पर्य मूल्यों के संवेगात्मक बोध से है। हार्टमन के मूल्यात्मक नैतिक चेतना के इस स्वरूप की स्वीकृति में, हमें ब्रैडले के विचारों की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है जिन्होंने परिज्ञानशील चेतना को मूल न मान कर विकास के क्रम में, द्वितीय एवं गौण स्थान दिया है। दोनों ही दार्शनिकों ने एक समन्वयात्मक एवं अनुभूति प्रधान चेतना को मूल चेतना के रूप में स्वीकार किया है, जो परिज्ञानशील चेतना के विकास के मूल में स्थित है।

ऐसी मूल्यात्मक चेतना के प्रत्यय का, जो कि परिज्ञानशील चेतना के संदर्भ में, मूल एवं आधारभूत है, स्पष्टीकरण करते हुए हार्टमन कहते हैं कि वह स्पष्टतः आत्मचेतन अनुभूति[2] नहीं। आत्म-चेतन अनुभूति, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि मूल अनुभूति विचार की प्रक्रिया द्वारा अछूती नहीं प्रत्युत् वह उससे आलोकित है और उसकी विशिष्टताओं में उसका स्पष्ट योग है। हार्टमन के अनुसार, मूल चेतना अनुभूति विचार है अतएव सहज एवं अंतर्दृष्टीय है और मूल्यों का बोध, उसके द्वारा सहज हो जाता है। किंतु विचार की मध्यस्थता से जब हमें मूल्यों का बोध होता है, तब उसी मूल बोध से महत्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित एवं उत्पन्न होते हुए भी वह अपनी विशेषता रखता है, जिसका मूल बोध में सर्वथा अभाव रहता है। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :

"निश्चित ही एक ऐसी विशुद्ध प्रागनुभविक मूल्यात्मक चेतना है जो सहज एवं अंतर्दृष्टीय रूप से भावना के अनुकूल, हमारी व्यावहारिक चेतना में प्रविष्ट हो जाती है, जीवन संबंधी विचारों को प्रभावित करती है और हमारी दृष्टि के समक्ष जो कुछ भी आता है, उसे मूल्य एवं अमूल्य का स्पष्ट चिह्न प्रदान कर देती है।"[3]

हार्टमन ने उसे एक 'मूल मूल्यपरक भावना'[4] के रूप मे प्रस्तुत किया है तथा कांट द्वारा उसके बौद्धिक स्वरूप के अंतिम रूप से प्रस्तुतीकरण को असंतोषप्रद माना है। उनके अनुसार उसका बौद्धिक स्वरूप जो निरपेक्ष आदेश में व्यक्त होता है, मूल एवं प्रारंभिक कदापि नहीं हो सकता और इसीलिए मूल प्रकृति की दृष्टि से

---

1. Sensing.
2. Self conscious feeling.
3. "There is a pure valuational apriori which directly intuitively, in accordance with feeling, penetrates our practical consciousness, our whole conception of life, and which lends to everything which falls within the range of our vision the mark of value or antivalue."

   Ethics, p. 177.
4. Primal feeling of value.

इस रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। कांट के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"कांट का नैतिक नियम, वस्तुतः एक भावनात्मक प्राग्नुभविक चेतना द्वारा यथा अंतरात्मा की पुकार द्वारा, ज्ञात एवं अनुभूत मूल्य पर आरोपित गौण तार्किक रूप मात्र है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[1]

अतएव मूल्यात्मक चेतना संबंधी, हार्टमन के विचार कांट से भिन्न हैं। वस्तुतः, इस प्रारंभिक मूल्यात्मक चेतना के स्वरूप का अनुसंधान करना और उसे प्रत्ययों की मध्यस्थता से व्यक्त करना ही नीति-विज्ञान का प्रमुख कार्य है। किंतु प्रत्ययों की मध्यस्थता से, जब उसकी मूल प्रकृति व्यंजित की जाती है, तो मूल और व्यंजित रूप के पार्थक्य को भी स्पष्ट सम्मुख रखना चाहिये। कांट ने इस पार्थक्य की उपेक्षा की है, इसलिए उन्होंने प्रत्ययात्मक, परिज्ञानशील बौद्धिक स्वरूप को ही प्राथमिक एवं मूल मान लिया है और उसके मूल अनुभूतिपरक रूप की स्पष्ट अवज्ञा की है। जिस यंत्र की मध्यस्थता से मूल्यात्मक चेतना व्यंजित हो रही है, उससे उसका तादात्म्य संपूर्ण नहीं हो सकता। भाषा की मध्यस्थता से, विचारों की अभिव्यक्ति, सामान्यतः संभव होती है। किंतु विचार और भाषा दो हैं, उनके इस पार्थक्य की अवज्ञा नहीं की जा सकती।

अतएव कांट के विचार, एक मूल भ्रांति पर आश्रित हैं। मूल्यात्मक नैतिक चेतना, जिस प्रत्ययात्मक यत्र की मध्यस्थता से व्यंजित हो रही है, उससे उसकी अपृथकता स्थापित नहीं की जा सकती और हार्टमन के मत में कांट ने वही करने की चेष्टा की है।

समीक्षात्मक निष्कर्ष

हार्टमन की प्रथम आलोचना उचित नहीं प्रतीत होती। जिस वस्तुनिष्ठवाद का वह समर्थन करते है, उसमें और कांट के तथाकथित आत्मनिष्ठवाद में विशेष विरोध नहीं। दोनों ही मूल्यात्मक चेतना के अनानुभविक रूप को स्वीकार करते हैं और दोनों ही उसे परम एवं स्व-अस्तित्वशील सत्ता प्रदान करते हैं। दोनों के विचारों का पार्थक्य मूल्यों के अस्तित्व से संबद्ध है। कांट ने नैतिक कर्त्ता को मूल्यों के स्रोत के रूप में स्वीकार किया है और हार्टमन ने प्लेटो की भाँति उन्हें एक स्वतः अस्तित्वशील शाश्वत जगत का वासी घोषित किया है। किंतु, वर्तमान संदर्भ में यह स्मरण रखना चाहिये कि कांट का नैतिक कर्ता विशिष्ट न होकर सामान्य ही है और इसीलिए मूल्यों के आवास एवं स्रोत के रूप में, जब उसे स्वीकार किया जाता

1. "The Kantian moral law is in truth nothing else than the secondary logical form impressed upon such a value primarily felt and discerned through emotional apriori (for e. g. the voice of conscience)."

Ibid, p. 178.

है तो मूल्य की वस्तुगतता में उस स्वीकृति से कोई अंतर नहीं आता। आध्यात्मवादी दर्शन के अनुसार, व्यक्ति एक विशेष अर्थ में, विश्व की मूल प्रकति का प्रतीक है। उसके जीवन के विभिन्न पक्षों एवं स्तरों में, विश्व के समस्त पक्ष एवं स्तर प्रतिबिंबित होते रहते हैं। अंतर केवल इतना है कि विश्व में वे सभी पक्ष अपने विराट रूप में और व्यक्ति में सूक्ष्म रूप में अभिव्यक्त होते है। अतएव दोनों सत्ताओं में उनकी आंतरिक रचना की दृष्टि से कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनों तात्विंक स्तर पर पूर्ण तादात्म्य रखते हैं और जिन्होंने उस ऐक्य को प्रत्यक्ष कर लिया हैं, उनके लिए वस्तुगत एवं आत्मगत ये दो अभिव्यक्तियाँ एक ही मूल सत्ता की दो अवियोज्य अभिव्यक्तियाँ हैं। इसीलिए उपनिषद् ने सार्थक रूप से 'तत् त्वमसि'[1] द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि के पूर्ण ऐक्य को घोषित किया है।

हार्टमन की द्वितीय आलोचना का संबंध कांट के विशुद्ध आकारवाद से है। इस प्रश्न पर उनके विचार उचित ही प्रतीत होते हैं। निःसंदेह कांट ने निरपेक्ष आदेश की व्याख्या प्रस्तुत करने में उसके विशुद्ध आकार होने पर विशेष बल दिया है। किंतु, उसका अपना विशिष्ट महत्व एवं प्रयोजन भी है। नैतिक नियम अनानुभविक है, किंतु वह अनुभव की मध्यस्थता से ही व्यक्त होता है। यह जीवन का शाश्वत विरोध है तथा एक सत्य है जिसे हम केवल स्वीकार ही कर सकते हैं, किंतु जिसके रहस्य का उद्‌घाटन करना, हमारी सीमित सामर्थ्य से बाहर है। समस्त अध्यात्मवादी दार्शनिक चिंतन इस सत्य को अनिवार्यतः स्वीकार करता है और उसे अपने ही ढंग से प्रत्ययों की मध्यस्थता से प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। किंतु कितनी ही सतर्कता से हम इस तथ्य की मीमांसा क्यों न करें, इस संबंध में ऐसे परिणाम तक पहुँचना जिसे निर्विरोध एवं प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जा सके, संभव नहीं। इस संबंध में, संभाव्य सत्यों[2] के क्षेत्र का अतिक्रमण करना नितांत असंभव है, किंतु इतना तो निश्चित है कि अनानुभविक परम सत्ता तथा आनुभविक सत्ता जिसकी मध्यस्थता से वह व्यंजित हो रही है, दोनों समस्तरीयं सत्ताएँ न होने के कारण 'अन्योन्यता'[3] अथवा सापेक्षता के प्रत्यय के माध्यम से, उनके संबंध की व्याख्या नहीं की जा सकती। अन्योन्यता व्यावहारिक जगत से संबद्ध प्रत्यय है और व्यावहारिक सत्ताओं की प्रकृति को प्रस्तुत करने में ही उसका सफल प्रयोग किया जा सकता है। उसका प्रयोग अनानुभविक सत्ता के संदर्भ में अनुचित है।

पुनः व्यावहारिक सत्ता की प्रकृति को, यदि सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाय तो यह निषेधात्मक रूप से केवल यह ही कह सकेंगे कि वस्तुतः वह एक ऐसी सत्ता है, जिसका सतत् अतिक्रमण किया जा रहा है। विपरीततः पारमार्थिक

---

1. That thou art.
2. Probable truths.
3. Correlativity.

अथवा अनानुभविक सत्ता वह है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए मानव ही नहीं वरन् विश्व की समस्त शक्तियाँ प्रयत्नशील हैं। अन्य शब्दों में, पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता में व्याप्त है और उसके विकास की सतत् एवं स्थायी प्रेरणा है। वह ही व्यावहारिक सत्ता की स्थायी प्रेरणाओं एवं आकांक्षाओं का सार है। वह आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील 'अनंत' है।

अतएव अनंत एवं सांत के संबंध का उचित प्रस्तुतीकरण अन्योन्यता या सापेक्षता प्रत्यय की मध्यस्थता से संभव नहीं। दोनों विभिन्न स्तरीय सत्ताएँ हैं, इस कारण उनके संबंध की युक्तिपूर्ण व्याख्या संभव नहीं। अपनी सहज बुद्धि एवं अंतर्दृष्टि द्वारा ही, उसके स्वरूप का बोध किया जा सकता है। यही कारण है कि, उसकी इस दुर्भेद्य प्रकृति को प्रस्तुत करने में कांट ने निषेधात्मक-प्रत्ययों का ही प्रयोग किया है यथा-अनानुभविक, अविशिष्ट आदि।

हार्टमन की तृतीय आलोचना का संबंध कांट की अत्यधिक बुद्धिवादिता से है। हार्टमन के मत में, कांट के अनुसार, मूल्यात्मक चेतना मूल रूप से बोधात्मक चेतना [1] है। इस प्रश्न पर, इतना ही कहना पर्याप्त है कि दोनों का मत मूलतः भिन्न नहीं। मूल्यात्मक चेतना, वस्तुतः स्वतः अस्तित्वमान अनानुभविक चेतना है और अंतःप्रज्ञा द्वारा ही ज्ञेय है। 'अंतःप्रज्ञा द्वारा ही ज्ञेय है' कथन मात्र से इतना ही अभिप्राय है कि स्वीकृत प्रमाणों के आधार पर उसकी प्रामाणिकता आश्रित नहीं। हार्टमन एवं कांट दोनों ही इस सत्य को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त, दार्शनिक चिंतन का प्रमुख माध्यम विचार ही है तथा इसी की मध्यस्थता से, हम किसी भी सत्ता की प्रकृति का निरूपण कर सकते हैं। किंतु, जिस बौद्धिक तत्व को, कांट ने परम एवं अनिर्वचनीय माना है तथा परम नैतिक नियम के रूप में प्रस्तुत किया है, वह उस बुद्धि से भिन्न है, जिसका अध्ययन मनोविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है और जिसकी मध्यस्थता से किसी भी सत्ता की प्रकृति का प्रस्तुतीकरण संभव है।

अतएव, निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, कांट के दर्शन में मूल्यात्मक चेतना के तात्विक स्वरूप की विकृति नहीं हुई है। पूर्व पृष्ठों में, यह पर्याप्त स्पष्ट किया जा चुका है कि मूल्यात्मक चेतना की यथार्थ प्रकृति का जैसा अपूर्व चित्र कांट के विचारों में प्राप्त होता है, वैसा अन्य किसी पाश्चात्य दार्शनिक के विचारों में देखने को मिलता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि उसकी गरिमा को प्रस्तुत करने में जिस दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया है तथा जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह लौकिक दृष्टि से अधिक प्रिय नहीं है। किंतु यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कांट के दर्शन के इस पक्ष का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट

1. Cognitive awareness.

हो जायेगा कि उनके विचारों में अतिशयता का जो दोष आ गया है, उसका कारण यही प्रतीत होता है कि, उन्होंने नैतिक नियम की विशुद्धता एवं महत्ता को, प्रतिपादित करने के लिए यह आवश्यक समझा कि ऐसे सभी तत्वों से उसके पार्थक्य को स्पष्ट कर दिया जाय, जिनसे सामान्यतः उसके स्वरूप के तिरोहित होने की संभावना है। इस विषय पर, कांट के विचार के औचित्य के समर्थन में इतना ही कहना पर्याप्त है।

ब्रांड एवं कांट : निरपेक्ष आदेश अनुभवजन्य 'सामान्य'

कांट के विचारों के अध्ययन में, ब्रांड एक नितांत नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार निरपेक्ष आदेश, 'निरपेक्ष आदेशों का परम सिद्धांत'[1] मात्र है। वह अनुभवजन्य द्वितीय स्तरीय सिद्धांत है और विभिन्न निरपेक्ष आदेशों की प्रकृति एवं सामान्य विशेषताओं के अध्ययन के उपरांत ही इसका निर्माण हुआ है। अतएव, सामान्य प्रत्ययों की जो विशेषता होती है, वही इसकी विशेषता है और तथ्यात्मक जगत् में, इसके अनुरूप किसी तथ्य का पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। इस संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"वह एक द्वितीय कोटि का सिद्धांत है, जो उन अनिवार्य एवं यथेष्ट विशेषताओं को व्यंजित करता है, जिन्हें उन सभी प्रथम कोटि के सिद्धांतों को अनिवार्यतः पूरा करना है यदि उन्हें निरपेक्ष आदेश बनना है और उनके द्वारा नियंत्रित व्यवहार को नैतिक दृष्टि से उचित होना है।"[2]

निरपेक्ष आदेश की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसे विभिन्न बुद्धिजीवियों की व्यक्तिगत अभिरुचियों एवं वृत्तियों से पृथक्, सभी के लिए समान रूप से मान्य होना चाहिये। इसके विपरीत वे सभी आदेश जो, उन व्यक्तिगत रुचियों एवं वृत्तियों से नियंत्रित होते हैं, सापेक्ष आदेश के अंतर्गत आते हैं। अतएव उनके अनुसार निरपेक्ष आदेश की विशेषता को, कांट ने उचित ही प्रस्तुत किया है।

उक्त प्रश्न पर, कांट के विचारों के साथ, अपनी सहमति व्यक्त करते हुए ब्रांड उनके 'मिश्रित कारण' के प्रत्यय पर अपना विचार प्रकट करते हैं। वे कहते हैं मिश्रित कारणों की मूलतः दो रूपों में कल्पना की जा सकती है। प्रथम प्रकार का मिश्रित कारण अनेक तत्वों से निर्मित, एक ऐसी विषम इकाई हो सकती है, जिनमें उपस्थित विभिन्न तत्वों को विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा पृथक् किया जा सकता है,

---

1. Supreme principle of the categorical imperative.
2. "For it is a second order principle which states th necessary and suflicient condition that must be fulfilled by any first order principle if the latter is to be a categorical imperative and action detrminde by it is to be morally right."

Five Types of Ethical Theory, pp. 120-121.

किंतु जिनका उस इकाई से पृथक् कोई स्वतंत्र अस्तित्व एवं रूप नहीं। द्वितीय प्रकार के कारण में उपस्थित, विभिन्न घटक एक-दूसरे से पृथक् अपना निश्चित रूप एवं अस्तित्व रखते हैं तथा संयुक्त रूप से भी और पृथक्-पृथक् मानवीय व्यवहार को अपने अनुरूप नियंत्रित करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे संयुक्त कारण का निर्माण उन घटकों द्वारा होता है, जो स्वयं स्व-पर्याप्त इकाइयाँ हैं और अन्य के अभाव में भी, स्वतंत्र रूप से प्रेरणा रूप में, कार्य करने की क्षमता रखती हैं।

ब्रांड, मिश्रित कारणों के इस द्वितीय रूप को ही, वर्तमान संदर्भ में महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इन कारणों के संदर्भ में, व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा, एक से अधिक स्रोतों से प्राप्त होती है यथा परिस्थिति विशेष में व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा कर्तव्य बुद्धि से, तत्कालीन वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति की संभावना से, अथवा भविष्य में किसी लाभ की प्राप्ति से, प्राप्त हो सकती है। ये सभी प्रेरणाएँ व्यवहार को स्वतंत्र रूप से तथा संयुक्त रूप से नियमित करने की क्षमता रखती हैं। किंतु, कांट के मत में केवल कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित कार्य ही नैतिक दृष्टि से उचित है। यही नहीं उनके अनुसार, अन्य प्रेरणाओं की उपस्थिति मात्र ही व्यवहार को अनैतिक बनाने के लिए पर्याप्त है। 'कार्यों की नैतिकता, महत्वपूर्ण अर्थ में, कर्तव्य बुद्धि से प्राप्त प्रेरणा पर ही आश्रित है, अन्य किसी प्रेरणा पर नहीं', कांट के कथन के पूर्व भाग से सहमत होते हुए भी ब्रांड उसके द्वितीय भाग में विद्यमान अतिशयता से संपूर्णतः असहमत हैं। अतएव कांट के विचारों में, संशोधन प्रस्तुत करते हुए, वे कहते हैं : "कांट यदि यह कहते कि अन्य प्रेरणाओं की उपस्थिति के उपरांत भी मानवीय कर्तव्य बुद्धि यदि परिस्थिति विशेष में कार्य संपन्न करने की क्षमता रखती है, तब उन प्रेरणाओं की उपस्थिति से कार्य की नैतिकता में कोई अंतर नहीं आता, तो उनका कथन शत-प्रति-शत उचित एवं मान्य होता।"

कांट में कठोरतावाद का पुट

कांट में विद्यमान, कठोरतावाद से भी ब्रांड असंतुष्ट हैं तथा उसकी तीव्र आलोचना करते हैं। क्या यह सत्य है कि वैयक्तिक इच्छाओं एवं प्रेरणाओं से संपूर्णतः वियुक्त रहने पर ही मानवीय जीवन के नैतिक पक्ष की यथेष्ट अभिव्यक्ति संभव है? क्या यह उतना ही सत्य नहीं है कि जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण संकल्पों में व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण ही महत्व रखता है। सामान्यतः कार्यों की नैतिकता का निर्धारण परिस्थितिगत विशेषताओं एवं व्यक्ति की अपनी रुचियों तथा आंतरिक प्रेरणाओं की पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही किया जाता है। अतएव जीवन के यथार्थ निर्णयों के संदर्भ में कांट का दृष्टिकोण अपर्याप्त ही प्रतीत होता है। इस प्रश्न पर, अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रांड कहते हैं :

"अधिक-से-अधिक, मैं इतना ही स्वीकार कर सकता हूँ कि कर्ता की

अभिरुचियों एवं मनोवृत्तियों से पृथक् कुछ इस प्रकार के आचरण हो सकते हैं जो उचित हों तथा कुछ अन्य अनुचित भी हो सकते हैं। क्योंकि, निश्चित रूप से कुछ ऐसे कार्य हैं, जिनके विषय में यह सत्य नहीं है इसलिए कांट का नीति विषयक सिद्धांत निःसंदेह अपूर्ण ही रहेगा।"[1]

जीवन अत्यधिक विषम है और किसी सुव्यवस्थित साँचे में उसे संपूर्णतः ढालना संभव नहीं। इसके अतिरिक्त जितने भी इस प्रकर के प्रारूपों की कल्पना की जा सकती है, उन्हें जीवन के किसी विशिष्ट लक्ष्य से अनिवार्यतः संबद्ध होना ही है जिनकी उपलब्धि के लिए वे कालांतर में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

अरबन इसी से सदृशता रखते हुए विचार व्यक्त करते हैं :

"नैतिक विचार की यथार्थ समस्या यह नहीं है कि वह विशिष्ट कार्यों की नैतिकता-अनैतिकता के निर्धारण के लिए, किसी आकारिक कसौटी का अन्वेक्षण करे, प्रत्युत् उसका प्रमुख कार्य, उन संस्थाओं एवं जीवन के उन रूपों के मूल्य का निर्धारण करना है, जिनसे हमारे विभिन्न कर्तव्य संबद्ध हैं और जिनकी वे अपेक्षा रखते हैं। निष्कर्षतः, हम यह कहना चाहेंगे कि व्यापक अर्थ में नैतिकता सापेक्ष है, क्योंकि सामान्यता का सिद्धांत उद्देश्यवाद की अपेक्षा रखता है।"[2]

अतएव नीति-विज्ञान का प्रमुख कार्य, मानवीय व्यवहार को बाह्य रूप से नियमित करने वाली किसी आकारनिष्ठ आचार-नीति का संस्थापन नहीं, प्रत्युत्, उसका कार्य प्रमुख रूप से जीवन के नैतिक तथ्यों के स्पष्टीकरण का है। नीति-विज्ञान, अन्य शब्दों में, समीक्षात्मक अनुचिंतन द्वारा सामान्यतः स्वीकृत आकारनिष्ठ आचार-नीति के स्वरूप की मीमांसा करने की चेष्टा करता है और यह पता लगाना चाहता है कि जीवन में उसकी मान्यता का अंतिम स्रोत क्या है। ऐसा करने में निश्चित ही वह उद्देश्यवादी आचार-नीति का समर्थन करने लगता है क्योंकि बिना जीवन के उद्देश्य को परिभाषित किये हुए किसी भी आकारनिष्ठ आचार-नीति का समर्थन संभव नहीं। कांट ने भी वस्तुतः यही करना चाहा और इसीलिए आकारवाद की आपत्ति उनके विरुद्ध सफलतापूर्वक नहीं लायी जा सकती। इस विषय पर विचार व्यक्त करते हुए अरबन कहते हैं :

---

1. "The most then that I could admit is that there may be some actions which would be right and some which would be wrong in a given situation no matter what might be the tastes and inclinations of the agent. Since there are certainaly others of which this is not true, Kant's theory of ethics must at best be incomplete." Ibid, p. 125.
2. "The real problems of moral is not the discovery of a formal test for the rightness and wrongness of the particular acts, but the determination of the value of those institutions or the forms of life with which our duties are connected and which they presuppose. We must conclude then, that morality is hypothetical in the large sense that the principle of universality pre-supposes teleology."

Fundamentals of Ethics, p. 70.

"कांट का 'सामान्यता' का सिद्धांत, वस्तुतः उन संस्थाओं के शुभ एवं मूल्य को स्वीकार करता है-उनकी अपेक्षा रखता है, जिनके प्रतिमानों का उल्लंघन, हमारी नैतिक बुद्धि बतलाती है, उन्हें हमें नहीं करना है। इन वस्तुओं की शुभता एवं मूल्य के लिए ऐसा कोई भी कारण नहीं दिया जा सकता जो अपनी प्रकृति में प्रयोजनवादी न हो। 'ये वस्तुएँ क्यों शुभ हैं' इस प्रश्न को अनिवार्यतः प्रत्येक नीति संबंधी सिद्धांत को उठाना ही है। अतएव नीति-संबंधी प्रत्येक सिद्धांत को अंतिम रूप से प्रयोजनवादी होना ही पड़ेगा।"[1] उक्त विचार किंचित् अप्रासंगिक थे, किंतु, उनका वर्तमान संदर्भ में पर्याप्त महत्व था। सूत्र को पुनः पकड़ते हुए ब्रांड के विचारों का जब हम अध्ययन करते हैं, तब स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कांट के नैतिक आदेश की निरपेक्षता संबंधी स्वीकृति का स्पष्ट विरोध किया है। उनके मत में मनुष्य प्रायः उन नियमों के अनुसार भी कार्य करता देखा जाता है, जो मूलतः निरपेक्ष न हो कर सापेक्ष हैं। वे कांट के इस विचार का भी विरोध करते हैं कि निरपेक्ष आदेश व्यावहारिक जीवन के तथ्यों से पृथक् केवल बुद्धिजीवियों की प्रकृति से संबद्ध प्रत्यय से युक्तिपूर्ण अनिवार्यता के साथ प्राप्त किये जा सकते हैं।

ब्रांड के मत में, कांट के विचारों में जो अवैयक्तिक, तटस्थ, निर्विकार, निष्पक्ष दृष्टिकोण को इतना महत्व दिया गया है, वह संभवतः इसलिए कि उन्होंने अपने निष्कर्षों को प्राप्त करने में व्यावहारिक जीवन के यथार्थ तथ्यों की अवहेलना की है। और, इसलिए, उनके अनुसार जो बुद्धि को अंतिम रूप से संतुष्ट करने वाला है, वही बुद्धिजीवी को भी पूर्णतः संतुष्ट करने वाला होना चाहिये। उसके व्यक्तित्व की अन्य सभी माँगें उनके विचार में गौण हैं और यही कारण है कि उन्हें विस्मृत कर दिया गया है। बुद्धि संगति [2] का आदर करती है उससे उसे विशेष स्नेह और उसके अतिरिक्त अन्य किसी विशेषता में उसकी आस्था नहीं। यही कारण है कि युक्तियुक्तता को ही, नैतिक जीवन की सर्वोच्च माँग के रूप में, कांट ने अपने प्रथम सूत्र में प्रस्तुत किया है; उसी नियम के अनुसार कार्य कीजिये, जिसे अपने संकल्प द्वारा आप तत्क्षण सामान्य नियम का रूप दे सकें।

ब्रांड कांट के इस कथन का स्पष्ट विरोध करते हैं कि निरपेक्ष आदेश अपना अधिकार एवं व्यावहारिक जीवन हेतु मान्यता, किसी प्रागनुभविक आकार से प्राप्त करता है तथा उसका किसी भी प्रकार के स्थूल एवं सूक्ष्म भौतिक तत्वों से संबंध

---

1. "Kant's principle of universality actually assumes or presupposes the good or value of the instituitions the norms of which our moral reason tells us we must not violate. No reasons for the good or value of these things can, however, be given which are not of a teleological nature. No theory of morals can stop short of asking these questions, why are these things good? Any theory of morality must ultimately become teleological." Ibid, p. 60.
2. Consistency. संवादिता शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।

नहीं है। किंतु जीवन संबंधी तथ्यों के यथार्थ रूप का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि मानवीय संकल्प के समक्ष जो आदेश रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है अथवा किया जाता है, उसके औचित्य का निर्धारण महत्वपूर्ण अर्थ में उन परिस्थितिगत विशेषताओं द्वारा होता है, जिनमें उस आदेश के अनुरूप कार्य संपन्न किया जाता है। उसके मूल्य निर्धारण में, इन तथ्यों की अवहेलना की ही नहीं जा सकती। अतएव निष्कर्षतः ब्रांड कहते हैं, मानवीय व्यवहार जिन सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित होता है, उनकी मान्यता तथा उनकी प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह किसी अनुभव निरपेक्ष आकार के अनुरूप है वरन् इस बात पर निर्भर करती है कि वह परिस्थिति विशेष के साथ समायोजन स्थापित करने में सफल हो सके हैं अथवा नहीं।

अस्तु, निरपेक्ष आदेश विशुद्ध प्रागनुभविक विचार से प्राप्त नहीं किया जा सकता। विपरीततः, वह वैज्ञानिक आगमन्[1] द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और इसीलिए वह अपने मूल रूप में अनुभवजन्य ही है। निरपेक्ष आदेश की प्रकृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रांड कहते हैं :

"वह वैयक्तिक पक्षपात से बचने के लिए ही मूल्यवान हो सकता है और 'संभाव्यता में तटस्थता सिद्धांत' की भाँति ही उसका यंत्रवत् प्रयोग नहीं किया जा सकता। परिस्थिति विशेष में आचरण विशेष के लिए मेरे अथवा दूसरे के दृष्टिकोण संबंधी कौन-सा अंतर नैतिक दृष्टि से महत्व रखता है और कौन-सा नहीं रखता, इसका निर्णय मुझे स्वयं ही करना है और एक सीमा के उपरांत सामान्य नियमों के रूप में उन्हें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।"[2]

"इस प्रकार आचरण कीजिये कि, मानवता चाहे आप में हो अथवा किसी अन्य में सदैव साध्य के रूप में व्यवहृत रहे, साधन रूप में नहीं।"-निरपेक्ष आदेश से संबद्ध इस द्वितीय सूत्र के द्वितीय सूत्र के विषय में ब्रांड कहते हैं कि वह एक संपूर्णतः अव्यावहारिक सूत्र है और उसके अनुरूप आचरण सदैव संभव नहीं, क्योंकि, प्रायः हमारे लिए स्वयं को अन्य के लिए और अन्य को अपने लिए साधन रूप में प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। अपने विचार की पुष्टि में वे कहते हैं, किसी छूत के रोग से ग्रस्त रोगी को सामाजिक हित की दृष्टि से सबसे अलग करना पड़ता है और ऐसा करने में निश्चित ही हमें उस रोगी के व्यक्तित्व को साधन

---

1. Scientific Induction.
2. "It is valuable only as a means of avoiding personal bias" and "like the principle of indiffernce in probability can not be used mechanically". I have to judge for myself what difference between me and another are and what are not ethically relevant to this kind of an action in this kind of situation. And beyond a certain point this cannot be reduced to general rules." Five Types of Ethical Theory, p. 131, also Urban, Fundamentals, p. 68.

रूप में प्रयुक्त करना पड़ता है। अतएव, इस व्यवहार द्वारा स्पष्टतः द्वितीय सूत्र का उल्लंघन हो जाता है।

तृतीय सूत्र, मानवीय संकल्प के मुक्त आत्म-नियंत्रित रूप से संबद्ध है। आत्म-नियंत्रण का अर्थ, सामान्यतः अपने आप से नियंत्रित होना है। कांट के दर्शन के संदर्भ में इस शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रांड कहते हैं कि इसके अनुसार वे सभी आचरण निषिद्ध माने जाते हैं, जो, इसलिए किये जाते हैं कि परंपरा द्वारा वे अनमोदित हैं अथवा इसलिए कि कर्ता को उसके न करने पर ईश्वर से दंडित होने का भय है। निश्चित है कि दोनों प्रकार का व्यवहार नैतिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता।

व्यवहार की नैतिकता के विषय में उक्त विचार के विरुद्ध आपत्ति लाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार का व्यवहार जो केवल समाज और ईश्वर से दंडित होने के भय के कारण संपन्न होता है, विशुद्ध नैतिक आचरण के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। किंतु कांट ने आत्मनियंत्रण प्रत्यय के द्वारा इससे अधिक अर्थ व्यक्त करने की चेष्टा की। नैतिक व्यवहार के संबंध में नैतिक चेतना में व्याप्त 'करणीयता' की प्रकृति के विषय में कांट के मस्तिष्क में किसी प्रकार का संशय नहीं था। नैतिक बाध्यता बाह्य न हो कर पूर्णरूपेण आंतरिक बाध्यता है किंतु इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं कि मानवीय संकल्प जिस आदेश के अधीन अपने को रखता है, वह उसका अपने गहन व्यक्तित्त्व से प्राप्त आदेश है और यही कारण है कि वह 'आदेश' उसके लिए इतना महत्व रखता है। 'नैतिक नियम' जिसका अनुसरण प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिए अनिवार्य है, स्वयं उसके अपने तात्विक व्यक्तित्व का नियम है-वही उसका अंतिम स्रोत है। अनेक स्थलों पर कांट स्पष्ट कहते हैं कि मानव व्यक्तित्व की समस्त गरिमा निरपेक्ष आदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करने की क्षमता पर आश्रित है। अतएव आत्म-नियंत्रण प्रत्यय के स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है कि 'नैतिक नियम' के इस पक्ष का समुचित प्रस्तुतीकरण किया जाय, किंतु ब्रांड के विचार में हमें उसका अपर्याप्त रूप ही मिलता है।

इसी प्रकार द्वितीय व्यवहार सूत्र का स्पष्टीकरण और उसके उपरांत जो समीक्षा ब्रांड ने प्रस्तुत की हैं, वह भी असंतोषप्रद है। वे कहते हैं, प्रायः मानवीय व्यवहार इस प्रकार का होता है, कि उसके द्वारा मानवीय व्यक्तित्व साध्य रूप में नहीं वरन् साधन रूप में नहीं वरन् साधन रूप में ही प्रयुक्त होता है। ऐसा व्यवहार नैतिक दृष्टि से अनुचित नहीं। अपने विचार के समर्थन में, वे एक ऐसे रोगी का उदाहरण देते हैं, जिसका सामाजिक हित की दृष्टि से परिस्थिति विशेष में पार्थक्य अनिवार्य हो जाता है। किंतु स्पष्ट है कि वर्तमान प्रश्न पर वे कांट के विचारों के साथ उचित न्याय नहीं कर पाते। वस्तुतः उक्त उदाहरण में जब सामाजिक हित की दृष्टि से,

व्यक्ति को पृथक् करने की व्यवस्था की जाती है, तो उसमें उसके व्यक्तित्व के प्रति किसी प्रकार के असम्मान अथवा अनादर की भावना नहीं होती और न ही उसके व्यक्तित्व का प्रयोग अन्य की स्वार्थ सिद्धि के लिए ही किया जाता है।

जिस मानवीय व्यक्तित्व को सम्मानित करने की बात कांट करते हैं, वहाँ परस्पर हितों में किसी प्रकार के विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता। जो एक के हित में है, उसमें अनिवार्यतः सभी का कल्याण निहित रहता है। मनुष्य का तात्विक व्यक्तित्व, जिसके सम्मान से वह गौरवान्वित होता है, उसका विशुद्ध बौद्धिक व्यक्तित्व है और वह 'सामान्य' ही है, विशिष्ट नहीं। वह सभी में समान रूप से व्याप्त है और वह यदि एक में व्यवहार विशेष द्वारा सम्मानित होता है तो उसी अनुपात में वह अनिवार्यतः सभी में सम्मानित होता है। तात्विक व्यक्तित्व के स्तर पर पूर्ण तादात्म्य है। अतएव ब्रांड की आलोचना, एक महत्वपूर्ण भ्रांति पर आधारित है और इस संबंध में उनकी अज्ञेयता का ही परिचायक है।

कांट 'व्यक्तित्व'[1] अथवा 'विशिष्टत्व'[2] इन दो में स्पष्ट विभेद करते हैं; इस विभेद का कांट द्वारा ही नहीं वरन् सभी अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थकों द्वारा समर्थन हुआ है। कांट द्वारा स्वीकृत इस सूक्ष्म अंतर का स्पष्टीकरण हेगल तथा उनकी विचारधारा का अनुसरण करने वाले दार्शनिकों के विचारों में पर्याप्त मिलता है, जिसका उल्लेख आगामी अध्याय में किया जायेगा।

कांट के विचारों को जिस प्रकार ब्रांड ने प्रस्तुत किया है, उससे शत-प्रतिशत सहमत होना संभव नहीं। उनके अनुसार कांट का निरपेक्ष आदेश अनुभव-जन्य सामान्य नियम है। वह द्वितीय स्तरीय नियम है और इसीलिए उसे के 'निरपेक्ष आदेश के परम सिद्धांत'[3] के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

निरपेक्ष आदेश का इस रूप में उल्लेख करना कांट के विचारों के साथ अन्याय करना है। कांट ने निरपेक्ष आदेश के संबंध में बहुवचन का प्रयोग कभी नहीं किया। उनके मत में वही एकमात्र ऐसा आदेश है जो 'नियम' है-जीवन में केवल 'नियम' का स्थान ग्रहण करने योग्य है। अन्य सभी नियम, जीवन में गौण महत्व रखने वाले हैं। क्योंकि जीवन के विशिष्ट लक्ष्यों से संबद्ध होने के कारण, वे केवल साधन रूप में ही महत्वपूर्ण हैं।

अतएव कांट के विरुद्ध 'अपूर्णता' की जो आपत्ति लायी गयी है, वह मूलतः उनके विचारों को अपर्याप्त रूप से ग्रहण करने के कारण ही है। निरपेक्ष आदेश अन्य नियमों के सदृश मात्र एक नियम नहीं है। ऐसा नहीं है कि मानव जीवन का

---

1. Personality.
2. Individuality.
3. 'Supreme principle of the categorical Imperatives'.

अर्द्ध भाग सापेक्ष नियमों द्वारा तथा शेष भाग निरपेक्ष नियमों द्वारा नियमित होता हो और दोनों नियम समस्तरीय और समान महत्व रखने वाले हों। मानवीय व्यवहार को नैतिक होने के लिए उसे संपूर्णतः नैतिक नियम द्वारा ही, उसके प्रति सम्मान एवं आस्था व्यक्त करते हुए संपन्न होना चाहिये। विशुद्ध बौद्धिक नियम के प्रति निष्ठा एवं सम्मान ही मानवीय व्यक्तित्व के सम्मान एवं गौरव की दृष्टि से उचित है। इस विषय पर कांट पूर्णतः स्पष्ट हैं और उनके विचारों को किसी अन्य रूप में प्रस्तुत करना अनुचित है।

एक मूल असंगति : ब्रैडले

कांट का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए, ब्रैडले उसमें विद्यमान एक मूल असंगति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिसकी ओर कांट का स्वयं ध्यान नहीं गया था। उनके मत में शुभ संकल्प, विशुद्ध आकारिक संकल्प हैः वह एक अविशिष्ट संकल्प है जो नितांत उपादान शून्य है। फिर भी वे कहते हैं कि ऐसे विशुद्ध आकारात्मक संकल्प को, हमें व्यवहार की मध्यस्थता से अभिव्यक्त करना है और व्यवहार की मध्यस्थता से संकल्प को अभिव्यक्त करने का अर्थ होगा जो मूलतः अविशिष्ट है, उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करना। किंतु, ऐसा करना पूर्णतः असंभव है। निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि, कांट हमें वह करने का आदेश देते हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से कदापि संभव नहीं और उसकी अव्यावहारिकता को न समझते हुए वे नैतिक जीवन की उत्कृष्टता को, इस असाध्य असंभव को संभव बनाने की चेष्टा पर आधारित करते हैं।

अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं : विशुद्ध आकारिक संकल्प के उपादान शून्य होने के कारण, अनिवार्य माध्यम के अभाव में, उसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं। अतएव, उसकी अभिव्यक्ति संबंधी प्रत्यय एक 'अद्भुत काल्पनिक मनोवैज्ञानिक कृति'[1] मात्र है, जिसके अस्तित्व की कल्पना असंभाव्यता के जगत् में ही की जा सकती है, अन्यत्र नहीं। अपने विचारों को व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

"कार्य करने के लिए संकल्प करना अनिवार्य है और संकल्प किसी निश्चित (वस्तु) का ही होना है। सामान्य का संकल्प असंभव है तथा विशिष्ट का संकल्प विशुद्ध आकार का संकल्प हो ही नहीं सकता। वह आकार के किसी विशिष्ट आकस्मिक रूप का ही संकल्प हो सकता है और उस स्थिति में 'इच्छा' ही कार्य को प्रेरित करती है, विशुद्ध आकार कदापि प्रेरित नहीं कर सकता। ऐसी संकल्प शक्ति, जो किसी विशिष्ट का संकल्प नहीं कर सकती केवल काल्पनिक है और (उसी तथ्य को अन्य प्रकार से प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है।) ठीक इसी प्रकार का वह संकल्प है, जो चेतन अथवा अचेतन, विशिष्ट अथवा सामान्य किसी भी इच्छा से प्रेरित नहीं। वह

1. A psychological monster.

एक अद्‌भुत काल्पनिक मनोवैज्ञानिक कृति मात्र है। यह स्वीकृत तथ्य है कि यदि वह यथार्थ है तो वह अविश्लेष्य है तथा किसी भी स्थिति में उसकी सत्याप्यता संभव नहीं। और शापनहायर का यह कथन, कुछ अयथार्थ नहीं, जब उन्होंने कहा कि यदि वह जो अकल्पनीय हो, अथवा जो अनुभव में भी उपलब्ध न हो सके अविश्वसनीय नहीं है तो अन्य कोई भी वस्तु अविश्वसनीय नहीं हो सकती।"[1]

अपनी पुस्तक 'एथिकल स्टडीज' में कर्तव्य के लिए सिद्धांत के अंतर्गत जिस सिद्धांत को ब्रैडले ने प्रस्तुत किया है वह संपूर्णतः कांट का सिद्धांत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेखक ने स्वयं इस सत्य को स्वीकार किया है। अतएव कांट के संदर्भ में उक्त तर्क की तीक्ष्णता बहुत कुछ कम हो जाती है। यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाय कि कांट का ही वह सिद्धांत है तब भी उसके विरुद्ध लायी हुई आपत्ति बहुत उचित नहीं प्रतीत होती।

कांट के विचार मनोवैज्ञानिक कारणों से उचित ही प्रतीत होते हैं। मनुष्य के विकास की, वर्तमान स्थिति में, बुद्धि अनिवार्य रूप से संवेदन तत्व से संबद्ध है। मनुष्य की वही स्वाभाविक प्राकृतिक रचना है। यदि मनुष्य मात्र एक संवेदनात्मक इकाई होता तो उसका जीवन सरल संघर्ष शून्य होता। किंतु उसके जीवन की सबसे बड़ी समस्या यही है कि उसी मनोदैहिक रचना की मध्यस्थता से एक अतींद्रिय, अनानुभविक चेतना अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील है। वही चेतना उसके उच्चतम व्यक्तित्व की धुरी है, वही विशुद्ध बौद्धिक तत्व है और जब तक उसकी वर्तमान चेतना उस चेतना में स्थायी रूप से अवस्थित नहीं हो जाती, तब तक उसकी विलुप्त सौम्यता एवं साम्य स्थिति, उसे पुनः वापस नहीं मिल सकती। उसी साम्य स्थिति की प्राप्ति, हमारे जीवन की स्थायी प्रेरणा है और वह वर्तमान बंधनों एवं आसक्तियों के अतिक्रमण के उपरांत ही हमें प्राप्त हो सकती है। अतएव जब कांट विशुद्ध संकल्प को अथवा नैतिक संकल्प को विशुद्ध आकारिक संकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हैं तब उनका अभिप्राय इसी अतींद्रिय, अनानुभविक चेतना से है। इस चेतना को विशिष्ट

---

1. "To act you must will something and something definite. To Will in general is impossible, and to will in particular is never to will nothing but a form. It must at best be to will a chance case of the form and then (speaking psychologically) what moves is chance (desire). The bare form can not move. Will when one wills nothing in particular is a pure fiction; and (to put the same thing differently) so is will without desire, conscious or unconscious, special or habitual. It is simply a psychologicalmonster. It is admitted that if real, it is inexplicable it is admitted in no single case verifiable and surely Schopenhauer-(Op.Cit., p. 168) is not wrong when he says that, if what is neither conceivable nor to be found in experience is not incredible, then nothing else is incredible.

Ethical studies, p. 153-154.

प्रत्ययों की मध्यस्थता से व्यक्त करना संभव नहीं क्योंकि अभिव्यक्ति के साधन रूप जो प्रत्यय सामान्यतः उपलब्ध हैं वे व्यावहारिक चेतना से संबद्ध हैं और उसी की प्रकृति को प्रकाशित करने की सामर्थ्य रखते हैं। एक विजातीय माध्यम से किसी भी सत्ता को अभिव्यक्त करने की चेष्टा कभी भी अंततः सफल नहीं हो सकती और व्यावहारिक चेतना के अनुरूप ढले हुए प्रत्यय उस अमूर्त चेतना की यथार्थ प्रकृति को प्रस्तुत कर सकेंगे, ऐसा विश्वास नहीं होता। निषेधात्मक प्रत्ययों की मध्यस्थता से हमें उसकी प्रकृति का अल्प बोध हो सकता है।

अतएव कांट के विचारों का, यदि हम सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन करें तो स्पष्ट है कि उनके विरूद्ध लायी हुई बहुत-सी आपत्तियाँ असंतोषपूर्ण ही प्रतीत होंगी। उनके विचार संबंधी, अनेक विशेषताओं पर आगामी अध्याय में पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। वस्तुतः पूर्णतावाद सिद्धांत कांट के विचारों का ही संशोधित संस्करण है, वह कांट के विचारों की पृष्ठभूमि में केवल भाष्य ही प्रतीत होता है।

उपसंहार

कांट के विचारों के प्रस्तुतीकरण में उनका नैतिक शुभ एवं उससे संबद्ध नैतिक मूल्यांकन संबंधी प्रत्यय ही अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। कांट के अनुसार नैतिक मूल्यांकन आत्मगत न होकर वस्तुगत ही है। जब नैतिक स्तर पर शुभ-अशुभ के भेद को हम स्वीकार करते हैं, तब हम अपनी आत्मगत प्रतिक्रियाओं को व्यक्त नहीं करते। हम तथ्यों की वस्तुगत विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। कांट व्यक्ति-निष्ठवादी दृष्टिकोण से अपने सिद्धांत को स्पष्ट पृथक् करते हैं। आधुनिक युग में व्यक्ति-निष्ठवाद अपने नवीनतम रूप में रसल, मूर, एयर आदि के विचारों में व्यक्त हुआ है और कांट के विचार उस दृष्टिकोण की सत्यता स्थापन हेतु निश्चित मानदंड प्रस्तुत करते हैं।

द्वितीय बात, जो वर्तमान संदर्भ में उल्लेखनीय है, वह कांट द्वारा उपयोगितावादी दृष्टिकोण का सोत्साह खंडन है।

हार्टमन ने भी इसी प्रकार उपयोगिता का खंडन किया है। दोनों विचारकों के अनुसार 'मूल्यवान' वह वस्तु नहीं जो देश एवं काल की विशिष्ट सीमा में उपयोगी सिद्ध हो, प्रत्युत् वह जो देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई प्रत्येक देश और काल में अपना मूल्य बनाये रखे।

'उपयोगी' एवं 'मूल्यवान' में इनके विचार में स्पष्ट अंतर है और दोनों किसी भी स्थिति में एक-दूसरे के पर्यायवाची नहीं हो सकते। जो वस्तु 'उपयोगी' है, उसका तात्कालिक सामयिक महत्व ही हो सकता है, वह आंतरिक निरपेक्ष मूल्य से सम्पन्न कभी नहीं हो सकती। ऐसी सामयिक महत्त्व रखने वाली वस्तु जीवन में गौण महत्त्व

ही रखती है। इसी आंतरिक मूल्य रखने वाली वस्तु के सदैव अधीन रहती है। इसी आंतरिक रूप में मूल्यवान वस्तु को नीति-विज्ञान में 'शुभ' कहते हैं और इसके रूप का स्पष्टीकरण ही उसका प्रमुख कार्य है। किंतु, सामान्य विचार के संदर्भ में शुभ अनेकार्थी है और प्रायः वह 'उपयोगी' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। कांट के विचार का विशेष महत्व इसीलिए है कि उन्होंने शुभ के दोनों अर्थों का स्पष्टीकरण किया है और साध्य रूप में शुभ को जीवन में सर्वोच्च पद पर आसीन किया है।

इसी प्रत्यय से संबंद्ध नैतिक शुभ का परम निरपेक्ष रूप है, जिसका स्पष्टीकरण कांट ने पर्याप्त किया है। नैतिक शुभ की इसी विशिष्टता के कारण वह मानवीय जीवन में विशेष महत्व रखता है और जीवन को संपूर्ण रूप से नियंत्रित रखने का परम अधिकार रखता है।

कांट के विषय में इतना पर्याप्त है। आगामी अध्याय में पूर्णतावाद का उल्लेख किया जायेगा और उसके द्वारा कांट के सिद्धांत की अनेक विशेषताएँ और भी अधिक स्पष्ट हो सकेंगी।

००

अध्याय आठ

पूर्णतावाद

'पूर्णतावाद' अथवा आत्मोत्कर्षवाद वह सिद्धांत है जो यह विश्वास करता है कि संपूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति ही यथार्थ में हमारे नैतिक प्रयासों का चरम लक्ष्य है। संपूर्ण आत्मा से उसका तात्पर्य उस तात्विक व्यक्तित्व से है जो हमारे व्यावहारिक व्यक्तित्व में आवृत रहता है और जिसकी अभिव्यक्ति के लिए सचेतन प्रयासों द्वारा, हम सदैव प्रयत्नशील रहते हैं।

इस सिद्धांत को व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'यूडिमोनियावाद' भी कहते हैं। यूनानी शब्द 'यूडिमोनियां' 'आनंद' का द्योतन करता है। अतएव इस सिद्धांत के अनुसार, सुख नहीं वरन् आनंद की उपलब्धि ही मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य है। सुखवाद से यह सिद्धांत सर्वथा भिन्न है और सुखवाद से अपना पार्थक्य सदैव इसने बनाये रखने की चेष्टा की है। सुख एवं आनंद के मध्य अत्यंत सूक्ष्म अंतर है जो कि सहज में स्पष्ट नहीं हो पाता। अतएव इस सिद्धांत ने दोनों प्रत्ययों की विशिष्टता को स्पष्ट करने का पर्याप्त प्रयास किया है।

वर्तमान युग में, इस सिद्धांत को नवीन नाम से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। नीति-विज्ञान की अनेक पुस्तकों में इसे तात्विक सिद्धांत[1] अथवा तत्वमीमांसीय नीति[2] का नाम दिया गया है। इस मत का यह नवीन नाम कदाचित् इसलिए दिया गया है कि इसके अनुसार जीवन के परम शुभ की समुचित व्याख्या उस समय तक संभव नहीं, जब तक हम मानव के तथा उस विश्व के तात्विक स्वरूप से भलीभाँति परिचित न हो जायें, जिसमें वह अवस्थित है और जहाँ वह नित्यप्रति कार्य करता है। यद्यपि प्रत्येक आचार नीति की पृष्ठभूमि में, किसी-न-किसी प्रकार की तत्व-मीमांसा प्रच्छन्न अथवा स्पष्ट रूप से सदैव विद्यमान रहती है, तथापि किसी भी अन्य सिद्धांत में इसके महत्व का समर्थन इतनी स्पष्टता से नहीं किया गया है, जितना इसमें मिलता है।

अतएव, तत्व मीमांसीय सिद्धांत, सर्वप्रथम, मानव तथा विश्व के तात्विक स्वरूप की व्याख्या का प्रयत्न करता है, तत्पश्चात् उसके संदर्भ में मानव जीवन के 'परम शुभ' को प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। ग्रीन तथा ब्रैडले के विचारों के प्रस्तुतीकरण के समय तत्व-मीमांसीय सिद्धांत की यह विशिष्टता और अधिक

---

1. Metaphysical Theory, T.E. Hill, contemporary Ethical Theory.
2. Metaphysical Ethics, G.E. Moore. Principla Ethica.

स्पष्ट हो सकेगी क्योंकि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में ये दोनों दार्शनिक इस सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग्रनी की तात्विक युक्ति, ज्ञान मीमांसीय युक्ति के नाम से प्रसिद्ध है और तत्व-मीमांसा के विद्यार्थी उससे भली-भाँति परिचित हैं। इस सिद्धांत की पूर्ववर्ती श्रृंखला का यदि हम अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि यूनानी दार्शनिक सुकरात, प्लेटो और अरस्तु के विचारों में सर्वप्रथम इस विचारधारा की अभिव्यक्ति मिलती है। आधुनिक युग में, कांट के विचारों में, हमें उसका परिपक्वतम रूप देखने को मिलता है यद्यपि कुछ विशेष कारणों से[1], उनकी विचारधारा का प्रस्तुतीकरण एक पृथक् अध्याय में किया गया है। कांट के विचारों के उपरांत हेगेल और उनके अनुवर्ती आते हैं जिनमें ग्रीन एवं ब्रैडले के विचार अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उनके विचार में हमें इस सिद्धांत का सर्वाधिक परिष्कृत रूप ही नहीं मिलता प्रत्युत् सिद्धांत के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों का विस्तृत विवेचन भी मिलता है। इस सिद्धांत का समर्थन, इनके पश्चात् म्युरहेड तथा मैकेंजी द्वारा भी हुआ है।

तात्विक सिद्धांत को 'आत्मोत्कर्षवाद' भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार मानवीय व्यक्तित्व का तात्विक स्वरूप ही उसके संपूर्ण जीवन के विकास की, प्रगति की कामना की स्थायी प्रेरणा है। विकास की प्रक्रिया में मानव का गंभीर, तात्विक व्यक्तित्व ही उसके समक्ष परम लक्ष्य एवं उससे संबद्ध निरपेक्ष आदेश के रूप में प्रस्तुत होता है, जिससे कि अपने हित में वह उस 'नियम' के अधीन हो कर, अपने भावी विकास का पथ प्रशस्त कर सके।

नैतिक अनुयोग को नियंत्रित करने वाली तात्विक अंतर्दृष्टि

नैतिक शुभ को स्पष्ट करने के लिए, जिस तात्विक अंतर्दृष्टि को, इस सिद्धांत के समर्थकों ने स्वीकार किया है, वह मानव एवं विश्व के आंतरिक संबंध से संबद्ध है। दोनों का संबंध अभिन्न है और दोनों को सूत्रबद्ध करने वाली, आध्यात्मिक सत्ता समान रूप से, दोनों में व्याप्त है। इस अध्यात्मिक सत्ता को, विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न नामों से संबोधित किया है। इसे शाश्वत आध्यात्मिक नियम, चेतना, मन, निरपेक्ष सत् आदि विभिन्न नामों से व्यक्त करने की चेष्टा की है, किंतु जहाँ तक उसकी मूल प्रकृति का संबंध है, वह सभी विचारकों द्वारा समान रूप से एक मूर्त सामान्य[2] के रूप में स्वीकार की गयी है। यह 'मूर्त सामान्य' विश्व के नानात्व की मध्यस्थता से निरंतर अभिव्यक्त होते हुए भी अपनी एकता को कभी भी विसर्जित नहीं करता।

---

1. नीति–विज्ञान की प्रायः सभी पुस्तकों में कांट को विधिवादी सिद्धांत के अंतर्गत रखा जाता है। हमारी दृष्टि में ऐसा करना कांट के साथ अन्याय करना है। क्योंकि, विधिवादी सिद्धांत तथा उद्देश्यवादी सिद्धांत के मध्य उनके विचार एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण श्रृंखला का निर्माण करते हैं, उनके विचारों का प्रस्तुतीकरण पूर्व अध्याय में किया गया है।
2. Concrete universal.

वर्तमान उद्देश्य की दृष्टि से, उन सभी युक्तियों का विस्तृत उल्लेख, जिनके द्वारा उक्त तात्विक सिद्धांत का समर्थन, समय-समय पर विभिन्न विचारकों द्वारा किया गया है, आवश्यक नहीं। उस सिद्धांत की प्रमुख विशेषताओं का विवरण ही यहाँ पर्याप्त होगा। सिद्धांत की सर्वप्रथम विशेषता है कि वह व्यष्टिवादी दृष्टिकोण का तथा उससे संबद्ध तात्विक बहुतत्ववाद का विरोधी है। हाब्स, बेंथम तथा मिल सभी तात्विक दृष्टि से व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के समर्थक थे और उनका विश्वास था कि अपनी मूल रचना में व्यक्ति स्वतंत्र, असंबद्ध तथा अपने में ही एक पूर्ण आणुविक इकाई है। व्यक्ति, अपने में ही संतुष्ट, अपने में ही सीमित रहना चाहता है और सरलता से अपने व्यक्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करना चाहता। विपरीततः जब वह अपने से पृथक् अन्य व्यक्तित्व से संपर्क स्थापित करना भी चाहता है, तब सदैव अपने व्यापक स्वार्थ एवं हित की दृष्टि से ही, वह ऐसा करता है।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के समर्थकों ने, मानवीय प्रकृति संबंधी जो चित्र प्रस्तुत किया है, तात्विक सिद्धांत अथवा पूर्णतावाद के समर्थकों ने, ठीक उसका विरोधी चित्र प्रस्तुत किया है। मानवीय व्यक्तित्व मूलतः एक स्वातिक्रमणीय इकाई[1] है और अपने इस स्वरूप की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति में ही उसका सर्वाधिक हित सुरक्षित है। विशुद्ध परार्थवादी जीवन की संभावना भी, उसकी इसी प्रकृतिगत विशेषता के कारण यथार्थ एवं उचित प्रतीत होती है। इस जीवन की संभावना के औचित्य एवं यथार्थता को ही कांट ने अपने प्रथम आचार सूत्र में निम्न प्रकार से व्यक्त किया है :- 'उस सूत्र के अनुसार कार्य कीजिये जिसे तत्क्षण आप सामान्य नियम के रूप में स्वीकार कर सकें।' कांट के अनुसार विशुद्ध नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य को किसी प्रकार की बाह्य अनुशास्तियों की आवश्यकता नहीं। उसकी प्रकृति स्वतः ऐसी संभावना को मूर्त रूप देने के लिए स्थायी रूप से उसके अंदर क्रियाशील है। मानव की इस स्वातिक्रमणीय प्रकृतिगत विशेषता को स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

"यदि मैं अपने यथार्थ अस्तित्व को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ तो मुझे अपने को मात्र 'इदम्' अथवा 'तद्' रूप से पृथक् ही अभिव्यक्त करना होगा क्योंकि हमारे व्यक्तित्व में, एक ऐसा जीवन विद्यमान है, जो किसी विशिष्ट का जीवन नहीं है और इसीलिए उसे सामान्य जीवन ही कहना चाहिये।"[2]

1. Self-transcending unity.
2. If I wish to realize my true being I must, therefore, realize something beyond my being as a mere 'this' or 'that' for my true being has in it a life which is not the life of a mere particular and so must be called a universal life."

Ethical studies, P.173

व्यष्टिवादी दृष्टिकोण की, जिसके अनुसार मनुष्य एक स्वतः पूर्ण इकाई है जो अपने अस्तित्व के लिए पूर्णतः आत्म-निर्भर है और जो उन बृहत् इकाइयों पर यथा समाज, परिवार एवं राज्य, जिनकी वह सदस्यता ग्रहण किये हैं, अपने अस्तित्व एवं प्रकृति के लिए किंचित मात्र भी निर्भर नहीं, अपर्याप्तता को स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं :

"ऐसा व्यक्ति, जिसके सारतत्व में अन्य से उसका संपर्क निहित नहीं, जो अपने व्यक्तित्व में अन्य के साथ अपने संबंध को समाविष्ट नहीं करता, हमारे मत में काल्पनिक है।"[1]

अपने कथन के समर्थन में वे आगे कहते हैं :

"व्यक्ति जो कुछ भी है, वह समुदाय के कारण ही है और इसीलिए समुदाय मात्र नाम ही नहीं हैं वरन् वे यथार्थ हैं और (यदि तथ्यों के साथ हम न्याय करना चाहें) वे अनेक में एक हैं, ऐसा सोचना ही, उनके विषय में उचित है।"[2] अतएव यह स्पष्ट है कि, नैतिक समस्या के अध्ययन में विशेष रूप से 'परम शुभ' की यथार्थ प्रकृति के स्पष्टीकरण में, दोनों मतों में पर्याप्त अंतर है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के समर्थक मानवीय प्रकृति को जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, पूर्णतावाद के समर्थक उसको संपूर्णतः भिन्न रूप में अंकित करते हैं और दोनों दृष्टिकोणों का यह भेद मूल रूप से उनके उस तत्व-मीमांसीय विश्लेषण से संबद्ध है, जिसमें मनुष्य एवं विश्व के आंतरिक संबंध की, उनकी विशिष्ट प्रकृति की, रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। यदि मानव एवं विश्व का अंतरंग, सावयविक संबंध है, तब मानव जीवन के उद्देश्य की व्याख्या उस बृहत् इकाई की पृष्ठभूमि के अभाव में, संभव नहीं। अन्य शब्दों में, मनुष्य को अनिवार्यतः अपनी प्रकृति को, विश्व की पृष्ठभूमि में ही प्रस्तुत करना होगा, जिससे एक विशिष्ट अर्थ में वह नियंत्रित है तथा जिससे उसका अस्तित्व एवं अर्थ दोनों ही महत्वपूर्ण प्रकार से परिभाषित होते हैं। वह बृहत् इकाई,उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में संपूर्ण रूप से व्याप्त है और उसको अपने व्यक्तित्व को पारिभाषित करने के प्रयास में उस 'इकाई' को भी परिभाषित करना नितांत अनिवार्य है। इकाई से पृथक् उसके व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने का प्रयास सदैव असफल ही रहेगा, उसके द्वारा एक 'काल्पनिक सत्ता' ही प्रस्तुत हो सकेगी।

---

1. "The 'individual' man, the man into whose essence his community with other does not enter, who does not include relation to others in his very being, is we say, a fiction." Ibid, p. 168.
2. "An individual man is, what he is because of and by virtue of the community, and that communities are thus not mere names but something real, and can be regarded (if we mean to keep to facts) only as the one in the many." Ibid, p. 166.

किंतु यदि दोनों का संबंध बाह्य एवं आकस्मिक है और आकस्मिक कारणों से ही वह नियंत्रित होने वाला है, तो निश्चित ही मानवीय जीवन का 'प्रयोजन' भिन्न हो जायेगा। मानवीय व्यक्तित्त्व, यदि मात्र अपने तक ही सीमित है और उस सीमा को अतिक्रमण करने की कोई सहज प्राकृतिक प्रेरणा उसमें वर्तमान नहीं तो स्वाभाविक है कि उसके जीवन का व्यक्तिगत लक्ष्य भी पूर्व चित्र की अपेक्षा संकुचित ही रहेगा।

अपेक्षा, नैतिक जीवन के लक्ष्य से संबद्ध, हमारे समक्ष दो चित्र वर्तमान हैं। द्वितीय चित्र का पर्याप्त परिचय, तृतीय अध्याय में और प्रथम की सामान्य रूपरेखा पूर्व अध्याय में प्रस्तुत की जा चुकी है। वर्तमान अध्याय में उसी चित्र की रेखाओं में और निखार लाने की चेष्टा की जायेगी। मूल दृष्टिकोण की दृष्टि से दोनों ही सिद्धांतों में पूर्ण ऐक्य है और नीति-अनीति संबंधी प्रश्न को विस्तृत एवं पूर्ण मीमांसा हमें इन दोनों के संयुक्त रूप में प्राप्त होती है। दोनों सिद्धांत वस्तुतः एक-दूसरे से संबद्ध हैं-उनमें विरोध एवं पार्थक्य का प्रश्न ही नहीं उठता।

शुभ एवं नैतिक शुभ

नैतिक प्रत्ययों के अध्ययन की ओर, जब हम अग्रसर होते हैं, हम देखते हैं कि ग्रीन ने 'शुभ' एवं 'नैतिक शुभ', दो प्रत्ययों के अंतर को, स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनके विचार में 'शुभ' वह है, जिसकी ओर प्राकृतिक रूप से, मानवीय संकल्प प्रेरित रहता है चाहे उसका हम उचित एवं अनुचित, सद् एवं असद् किसी भी रूप में मूल्यांकन करें। प्रत्येक प्रकार की संकल्पजन्य क्रिया अपने मूल रूप में समान ही होती है। वह सदैव किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति की प्रेरणा से अनुप्राणित एवं नियंत्रित होती है, जिसे उसने अपने तात्कालिक शुभ के रूप में स्वीकार कर लिया है। किंतु कार्य विशेष की शुभ रूप में स्वीकृति के पूर्व, बुद्धि पर्याप्त मात्रा में अन्य संभावनाओं पर विचार करके निश्चित कर लेती है, कि संकल्पित संभावना अन्य की अपेक्षा परिस्थिति विशेष में सर्वाधिक उचित एवं महत्वपूर्ण है। इसी तथ्य को कांट अपने ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मानवीय संकल्प अनिवार्यतः अपवाद रहित शुभ संकल्प है।

किंतु मानवीय आचरण का औचित्य संबंधी प्रश्न, वर्तमान संदर्भ में सर्वाधिक महत्व रखता है। ग्रीन प्रश्न करते हैं: आचरण संबंधी वह कौन-सी विशिष्टता है, जिनके कारण एक व्यवहार को नैतिक अथवा दूसरे को अनैतिक ठहराया जाता है ? अन्य शब्दों में, वह कौन-सा मानदंड है, जिसके आधार पर मानवीय व्यवहार की नैतिकता निर्धारित की जाती है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में, वे कहते हैं कि वह कार्य यथार्थ में नैतिक है जो कर्ता को अंतिम रूप से संतुष्ट कर सके तथा जो

ऐसा न कर सके वह अनैतिक है। इस कथन के विरूद्ध आपत्ति की कल्पना करते हुए वे कहते हैं कि इस कथन में किसी प्रकार की भ्रांति निहित नहीं है इसलिए चक्रक दोष[1] को वर्तमान संदर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपने कथन की पुष्टि में, कारण देते हुए, वे कहते हैं कि नैतिक कर्ता पूर्णरूपेण अज्ञेय नहीं। वह मानवीय कर्ता है, जिसमें पर्याप्त मात्रा में, सचेतन विचार की क्षमता विद्यमान है और व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक स्तरों पर सचेतन विचार, किस प्रकार कार्य करता है, उसकी क्या विशिष्टता है, इससे हम सभी भलीभाँति अवगत हैं।

पुनः कारण देते हुए वे कहते हैं, कि नैतिक-अनैतिक संबंधी प्रत्यय को मानवीय व्यक्तित्व के संदर्भ में, परिभाषित करने में, हम एक ऐसे प्रत्यय के स्पष्टीकरण का प्रयास कर रहे हैं जो 'विशिष्ट' है और इसी हेतु अपरिभाष्य भी। किसी भी प्रत्यय के परिभाषित होने के लिए, किन्हीं न्यूनतम् आवश्यकताओं का होना आवश्यक है और नैतिक-अनैतिक प्रत्यय मात्र विशिष्ट होने के कारण, उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सर्वथा असमर्थ है। 'विशिष्ट' होने के कारण वह किसी 'वर्ग' एवं 'जाति' के अंतर्गत नहीं लाया जा सकता है और इस कारण वर्ग विशेष में, समाविष्ट अन्य सदस्यों से उसके पार्थक्य को भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। किंतु किसी भी प्रत्यय के परिभाषित होने के लिए, यह दोनों ही विशेषताएँ अनिवार्य हैं। अतएव, ऐसे विशिष्ट के लिए केवल सांकेतिक प्राणाली का प्रयोग किया जा सकता है। उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसका संभाव्य रूप यह है और अमुक दिशा में अग्रसर हाने पर ही उसकी प्रकृति का स्पष्टीकरण एवं बोध संभव है। इसके अतिरिक्त वे कहते है कि नैतिक शुभ की पूर्ण परिभाषा तभी संभव होगी जब मानव के नैतिक व्यक्तित्व में विद्यमान सभी संभावनाएँ पूर्णतः अभिव्यक्त हो जायेंगी। सामान्यतः ऐसा संभव नहीं क्योंकि मानव के नैतिक व्यक्तित्व की संभावनाएँ अनंत है और अनंत काल में ही उनकी अभिव्यक्ति संभव है। वर्तमान में तो इतना ही कहा जा सकता है कि उसकी प्रकृतिगत विशिष्टताओं से अवगत होने के लिए उसकी अभिव्यक्ति के क्रम का हमें अध्ययन करना होगा और उस अध्ययन के आधार पर ही हम उसके पूर्ण विकसित भावी रूप के विषय में, एक अपूर्ण-सा चित्र अपनी कल्पना में बना सकते हैं।

"पूर्ण विकसित जीवन के चित्र तथा ऐसे आचरण के चित्र के विषय में जिसमें साध्य की उपलब्धि हो चुकी है हम केवल निषेधात्मक रूप से ही कुछ कह सकते हैं अथवा विचार कर सकते हैं। और इस प्रकार से ही, हम जीवन की उस स्थिति के विषय में कुछ कह सकते हैं अथवा विचार कर सकते हैं, जो हमारे सिद्धांत के अनुसार परम नैतिक शुभ की स्थिति है। किंतु इस प्रकार स्थिति अनिवार्यतः होनी ही

1. Fallacy of circular reasoning.

चाहिये, यह विश्वास चाहे इस प्रश्न पर हमारा बोध कितना ही निषेधात्मक क्यों न हो, ऐसे उच्चतर की ओर हमें प्रेरित करके जिसमें 'उच्चतम' के अतित्व का विश्वास निहित है, हमारे व्यवहार को एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रभावित कर सकता है।"[1]

अतएव निष्कर्षतः ग्रीन कहते है : वह केवल एक ऐसा 'नियामक प्रत्यय' है, जिसकी परिभाषा व्यावहारिक प्रत्ययों की मध्यस्थता से संभव नहीं क्योंकि वे प्रत्यय अपने सीमित क्षेत्र में ही-देशकाल की सीमाओं में आबद्ध व्यावहारिक सत्ता के क्षेत्र में ही, मान्य होते हैं। जो सत्ता, व्यावहारिक सत्ता से पृथक् है, जो अतींद्रिय है, उसे उन प्रत्ययों की मध्यस्थता से व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। वह इदम्[2], तद्[3] और दूसरी विशिष्ट सत्ता भी है, किंतु इनमें से किसी एक के रूप में, अथवा इन सभी के संयुक्त रूप में उसे प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वह सभी कुछ होते हुए भी, सभी का अर्थ पूर्ण प्रकार से अतिक्रमण करने वाली सत्ता है। इदम्, तद् तथा अन्य विशिष्ट सत्ताएँ उसकी ही विभिन्न देश-काल में आबद्ध स्थितियों में पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियाँ हैं। किंतु इसके परम रूप की संपूर्ण अभिव्यक्ति इनकी मध्यस्थता से संभव नहीं। वह इन सभी विशिष्ट अभिव्यक्तियों से संपूर्णतः पृथक् एवं असंयुक्त अतींद्रिय सत्ता भी नहीं इनकी मध्यस्थता से, वह क्रमशः अपनी प्रकृति को अनावृत्त कर रही है इसीलिए उसे यथार्थ में मूर्त-सामान्य कहना ही अधिक उचित होगा।

ग्रीन के विचार स्पष्टतः मनुष्य एवं विश्व के तात्विक विश्लेषण पर आधारित हैं। दोनों ही सत्ताएँ समान रूप से एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता से अनुप्राणित हैं जो मूलतः सचेतन क्रिया का ही उन्नत रूप है। इस सत्ता को ग्रीन ने प्रमाणों के आधार पर, पूर्णतः स्थापित सत्य के रूप में नहीं प्रत्युत् एक पूर्वमान्यता के रूप में ही स्वीकार किया है। वह एक ऐसी सत्ता के विषय में स्वीकृति है, जिसकी मध्यस्थता से विश्व की प्रकृति का सर्वाधिक संतोषपूर्ण स्पष्टीकरण संभव है। और जब हम नैतिक आदेश तथा नैतिक प्रत्ययों को परिभाषित करना चाहते हैं तो वस्तुतः हम इसी सत्ता को परिभाषित करने की चेष्टा करते हैं। अतएव नैतिक-अनैतिक प्रत्ययों के स्पष्टीकरण के प्रयास में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि नैतिक व्यवहार वह है, जिसकी मध्यस्थता से उक्त सत्ता क्रमशः अनावृत्त होती है और वे

---

1. "Of a life of completed development, of activity with the end attained, we can only speak or think in negatives and thus only can we speak of that state of being in which according to our theory, the ultimate moral good must consist. Yet the conviction that there must be such a state of being, merely negative as is our theoretical apprehension of it, may have supreme influence over conduct in moving us into that effort after the better which at least as a conscious effort, implies the conviction of there being a best."
Prolegomena to Ethics, p. 180.
2. This.
3. That.

सभी व्यवहार निश्चित रूप से अनैतिक हैं, जो उसकी प्रकृति के अनावरण में बाधक हैं अथवा उसके प्रति उदासीन हैं।

उक्त कथन के अनुसार, अहं केंद्रिक व्यवहार, जो जैविक माँगों की पूर्ति में केवल सहायक है, नैतिक दृष्टि से निम्न कोटि का व्यवहार है, क्योंकि उसकी मध्यस्थता से उस परम सत्ता की स्वीकृति एवं उसके प्रति सम्मान एवं निष्ठा का भाव अभिव्यक्त नहीं होता। विपरीततः वह सभी व्यवहार, जो उसके प्रति सम्मान एवं निष्ठा से प्रेरित होकर संपन्न होता है, यथार्थ में नैतिक है। वस्तुतः उसी का जीवन में विशुद्ध नैतिक मूल्य है, अन्य सभी साधन रूप में महत्त्व रखने वाले हैं। इसी सत्य को अनावृत्त करते हुए कांट अपने द्वितीय सूत्र में कहते हैः इस प्रकार आचरण कीजिये, कि मानवता चाहे आप में अथवा अन्य किसी के व्यक्तित्व में हो, सदैव साध्य रूप में सम्मानित हो, साधन रूप में नहीं।

वह परम सत्ता, अधीश्वर है और उसका साधन रूप में प्रयोग उचित नहीं। अतएव व्यक्ति को सम्मानित होने का, अन्य से आदर प्राप्त करने का उतना ही सहज प्राकृतिक अधिकार है, जितना उसका तद्जन्य कर्तव्य है, अन्य को उसी अनुपात में, उसी निष्ठा भाव से सम्मान देने का। यदि वह ऐसा नहीं करता, वह स्वयं अन्य से उनके स्वार्थों द्वारा शासित होगा और स्वयं अन्य पर अपने वैयक्तिक स्वार्थों एवं हितों से प्रेरित होकर अधिकार भाव प्रदर्शन करेगा कांट एवं ग्रीन की दृष्टि में, दोनों प्रकार के व्यवहार में, शोषण की वृत्ति स्पष्ट झलकती है और इसीलिए वह अनुचित है। परम सत्ता, परम निरपेक्ष है और अपने से पृथक् किसी बाह्य सत्ता से अनुशासित होने के लिए प्रस्तुत नहीं।

अहंकेंद्रिकता तथा उसके द्वारा मानवीय व्यक्तित्व के अपकर्ष के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए ग्रीन कहते हैं :

"अहंकेंद्रिक व्यक्ति, उन उद्देश्यों के लिए जीवित है जिनकी पूर्ति उसी दिव्य नियम द्वारा संभव है, जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। किंतु, ये सभी उद्देश्य जिनकी पूर्ति द्वारा एक का उत्कर्ष अन्य के अपकर्ष द्वारा होता है, निश्चित ही उस दिशा की ओर प्रवृत्त नहीं, जिसमें वह नियम अपने में निहित सभी आशाओं एवं संभावनाओं को यथार्थ में पूरा कर सके।"[1]

नैतिक व्यवहार की विशेषता को, भावात्मक रूप से व्यक्त करते हुए, वे कहते हैं कि, उसमें वे सभी सामान्य विशेषताएँ विद्यमान हैं जो मानवता के विकास में क्रमशः व्यक्त होती हैं। व्यक्ति का परस्पर एक-दूसरे से तथा वातावरण से, उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ सामंजस्य उसकी नैतिक प्रगति का स्पष्ट प्रतीक

1. "The ego-centric individual is living for ends of which the divine principle that forms his self alone renders him capable, but these ends, ;because in their attainment one is exalted by the depression of others, are not in the direction in which that principle can really fulfil the promise and potency which it contains." Prolegomena to Ethics, p. 183.

है। जो कुछ भी सामंजस्य स्थापन में सहायक सिद्ध होता है, वह निश्चित रूप से नैतिक है और ठीक इसके विपरीत जो उक्त सामंजस्य स्थापन में बाधक है अथवा प्रतिरोधी है वह निःसंदेह अनैतिक है। अतएव जीवन संबंधी नैतिक आदर्श को परिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि वह 'अधिकतम का शुभ' है और 'शुभ' से वर्तमान संदर्भ में हमारा तात्पर्य उससे है, जो नैतिक कर्ता को पूर्णतः संतुष्ट करने वाला हो। इतिहास उक्त विचार की सत्यता का साक्षी है। विश्व की घटनाओं का ऐतिहासिक क्रम से, यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह उस पक्ष की ओर अग्रसर है, जिसने मनुष्य को "प्रकृति के मध्य अधिक प्रकृतिस्थ किया है तथा जिसके द्वारा मानव परिवार के एक सदस्य के अंदर दूसरे को सहायता पहुँचाने की इच्छा एवं क्षमता विकसित हुई है।"[1]

जीवन में विकसित होती हुई परार्थ वृत्ति इस बात का प्रत्यक्ष संकेत है कि मानव अपनी स्वेच्छा से चुने हुए पथ पर आंतरिक प्रेरणा से नियंत्रित हो कर आगे बढ़ता जा रहा है। नैतिक तथा अनैतिक व्यवस्था के 'अंतर' का स्पष्टीकरण करते हुए ग्रीन कहते हैं :

"वह एक ऐसी पूर्णता के बोध से नियंत्रित है, जिसे प्राप्त करना ही है, ऐसा व्यवसाय है जिसे पूरा करना ही है, ऐसा नियम है जिसका अनुसरण करना ही है तथा जो, चाहे समय विशेष में व्यक्ति किसी भी वस्तु की कामना क्यों न करे, निरपेक्ष रूप से वांछनीय है, अंततः इस प्रकार के लक्ष्य की पूर्ति में कर्ता स्वयं को संतोष प्रदान करता है। कितना भी उस पूर्णता, व्यवसाय तथा नियम का अल्पबोध क्यों न हो, केवल उसकी उपस्थिति का बोध-जहाँ तक उक्त बोध मानवीय संकल्प को प्रभावित करता है, निश्चित ही, मनुष्य को उस पथ पर कायम रखेगा जिस पर आज तक उसकी प्रगति संभव हो सकी है। ऐसा बोध उसे स्थापित आचार नीति की अंतरात्मा के प्रति निश्चित ही वफादार रखेगा और उसे किसी मान्य, उपयोगी कार्य के करने में श्रमशील रखेगा।"[2]

---

1. "More at home in nature and througt which one member of the human family has become more able and more wishful to help another."
Prolegomena to Ethics.
2. "The differentia of the two forms of striving accordingly is that "it is governed by the consciousness of there being some perfection which has to be attained, some vocation which has to be fulfilled, some law which has to be obeyed, something absolutely desirable, whatever the individual may for the time desire; that it is in ministering to such an end that the agent seeks to satisfy himself. However, meagrely, the perfection, the vocation, the law may be conceive, the consciousness that there is such a thing, so far as it directs the will, must at least keep the man to the path in which human progress has so far been made. It must keep him loyal to the spirit of established morality, industrious in some work of recognized utility."
Ibid, p, 184.

उक्त पंक्तियाँ नैतिक नियम के वस्तुगत, अ-वैयक्तिक एवं परम निरपेक्ष रूप को और यदि मानवीय संकल्प, सद् संकल्प में परिवर्तित होने की इच्छा रखता है, तब उक्त संकल्प के लिए उसकी निरपेक्ष बाध्यता को स्पष्ट करती हैं। पुनः वे यह भी स्पष्ट करती हैं कि परंपरागत आचार नीति तथा नैतिक नियम में कोई मूल आंतरिक विरोध नहीं है, और, जब दोनों परस्पर संघर्ष में आते हैं, तब उसका एक निश्चित प्रयोजन होता है। परंपरागत आचार नीति, उक्त संघर्ष एवं विरोध द्वारा एक नूतन दिशा प्राप्त करती है और नैतिक नियम से उसका विरोध शनैः-शनैः कम होता चला जाता है। उक्त आचार नीति के विकास का यदि हम अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि विकास के क्रम में उसकी मध्यस्थता से विश्व में व्याप्त नैतिक नियम आदि काल से क्रमशः अनावृत होता चला आया है। यही कारण है कि सामान्य स्थितियों में, सामान्य व्यक्ति द्वारा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से, उसकी अवहेलना वांछनीय नहीं।

शुभ-अशुभ की इस प्रारंभिक चर्चा के उपरांत, नैतिक आदर्श के स्वरूप की व्याख्या की ओर ग्रीन प्रवृत्त होते हैं। विकास की प्रक्रिया द्वारा परंपरागत आचार नीति की मध्यस्थता से, नैतिक आदर्श की अनंत विशेषताओं में से केवल दो की ही अब तक अभिव्यक्ति संभव हो सकी है। विकास की प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगा कि उक्त आदर्श अनिवार्यतः एक वैयक्तिक तथा आकारिक आदर्श है।

नैतिक आदर्श का वैयक्तिक रूप

नैतिक आदर्श की वैयक्तिकता से ग्रीन का तात्पर्य है? ग्रीन जब उक्त आदर्श की वैयक्तिकता पर बल देते हैं, तो वे उसे एक अमूर्त काल्पनिक आदर्श के रूप में स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत् स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि वह आदर्श मानवीय व्यक्तित्वक की मध्यस्थता से अभिव्यक्त होने की पर्याप्त क्षमता रखता है। पुनः वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपनी आंतरिक रचना की दृष्टि से, नैतिक आदर्श मानवीय आत्म-बोध युक्त चेतना का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप है। अतएव, नैतिक विकास के क्रम की दिशा, आत्मबोध की प्रारंभिक, बीज रूप अभिव्यक्ति से प्रारंभ होती हुई उसकी उत्तरोत्तर विकसित परिपक्व अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होती हुई परिलक्षित होती है। उसी प्रारंभिक अ-विकसित आत्मबोध रूप चेतना को हमें सुदृढ़ करना है : उसे परिपुष्ट, सक्रिय एवं विकसित करना है। मानव का समस्त नैतिक व्यवहार इसी एक लक्ष्य को प्राप्त करन में संलग्न है : यही उसके विकास एवं परिपूर्णता की अंतिम कसौटी है।

अतएव, मानव की नैतिक प्रगति के विषय में विचार व्यक्त करते हुए ग्रीन

कहते हैं :

"आध्यात्मिक एवं नैतिक प्रगति एक निरर्थक पद समुदाय है, जब तक कि उसका तात्पर्य, वैयक्तिक विशेषताओं का विकास और वैयक्तिक विशेषताओं की ओर विकास से नहीं है; जिसमें भावना, विचार एवं संकल्प की योग्यता रखने वाला कर्ता उसका वाहक एवं पोषक है तथा जिसका प्रत्येक पग, ऐसे कर्ता की क्षमताओं की पूर्णाभिव्यक्ति की दिशा में है। और यदि जीवन के पूर्ण रूपों की अभिव्यक्ति की दिशा में, उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता तो उसका स्वरूप नितांत अविज्ञेय ही है।[1]

नैतिक आदर्श को 'वैयक्तिक' स्वीकार करने के कारण का यदि अनुसंधान किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि ग्रीन की उक्त स्वीकृति मानवीय चेतना की एक विशेषता से संबद्ध है। मानवीय चेतना अपनी अंतरंग प्रकृति एवं रचना में एक ऐसे आध्यात्मिक नियम को आवृत्त किये है जिसके अभाव में उसका अपना अस्तित्व एवं प्रकृति संभव नहीं। और क्योंकि आध्यात्मिक नियम की स्वीकृति मानवीय चेतना के अस्तित्व की स्वीकृत्ति से अनिवार्यतः संबद्ध है, इसलिए नैतिक, अंततः आध्यात्मिक नियम की अभिव्यक्ति, उस चेतना से असंबद्ध हो कर संभव हो सकती है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। मानवीय चेतना की मध्यस्थता से ही उस आध्यात्मिक नियम की अभिव्यक्ति संभव है। उक्त स्वीकृति से संबद्ध, एक अन्य महत्वपूर्ण स्वीकृति ग्रीन में मिलती है। मानवीय चेतना उक्त आध्यात्मिक नियम की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम ही नहीं प्रत्युत् उसकी अभिव्यक्ति की शैली है और उसके तात्विक रूप की अभिव्यक्ति भी है। इसी तथ्य को ग्रीन ने नैतिक लक्ष्य की 'वैयक्तिकता' के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वे कहते हैं :

"अपने को विषय रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता रखने वाली चेतना को अन्य किसी रूप में अभिव्यक्त करने की तथा इसकी परिणाम रूप में व्याख्या करने की असंभाव्यता के कारण ही, हम इसे, उस महती चेतना की उपस्थिति के रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य होते है, जिसके लिए विश्व का अस्तित्व है। अतएव, यह स्वीकार करना, कि दिव्य नियम की अभिव्यक्ति, एक

---

1. "It is thus an unmeaning phrase, unless it means a progress of personal character and to personal character a progress of which feeling, thinking and willing subjects are the agents and sustainers, and of which each step is a fuller realization of the capacities of such sbjects. It is simply unintelligible unless understood to be in the direction of more perfect forms of life."

Prolegomena, p. 193.

ऐसी चेतना से पृथक् संभव है, जो स्वतः अपने लिए विषय रूप है-उस कारण के स्पष्ट विरोध में होगा जिसके आधार पर हम यह विश्वास करते हैं कि एक दिव्य नियम, मनुष्य में इस प्रकार अभिव्यक्त होता है।"[1]

'आत्म-सीमन' अनंत तत्व की अभिव्यक्ति की अनिवार्य स्थिति

वर्तमान संदर्भ में जो प्रश्न सबसे अधिक महत्व रखता है, वह यह है कि एक अनंत सत्ता, एक अनंत नियम किस प्रकार उन मनोदैहिक सीमाओं की मध्यस्थता से, जो मानवीय व्यक्तित्व की आंतरिक रचना है, अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकता है? ग्रीन का निश्चित मत है कि किसी भी संभावना की अभिव्यक्ति के लिए सीमाओं का होना अनिवार्य है और इसलिए अनंत संभावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए तो अभिव्यक्ति की इस अनिवार्य स्थिति का होना नितांत आवश्यक है। इसी संदर्भ में नैतिक आदर्श की एक अन्य विशिष्टता का, उसकी 'सामाजिकता' का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। नैतिक आदर्श सामाजिक आदर्श है और समाज की मध्यस्थता से ही उसकी अभिव्यक्ति संभव है। उदाहरणार्थ, 'क' व्यक्ति सीमित शक्ति एवं क्षमता से युक्त है। वह उस शक्ति एवं क्षमता का एक से अधिक क्षेत्र में उपयोग कर सकता है : यथा स्वास्थ्य वृद्धि में, बौद्धिक विकास में, खेलकूद में असामान्य क्षमता के विकसित करने में इत्यादि। किंतु, बौद्धिक क्षमता के विकास की ओर ही उसकी आंतरिक वृत्ति है। यदि वह अध्ययन-अध्यापन से पृथक किसी अन्य क्षेत्र में कार्य करने का संकल्प करता है अथवा परिस्थितियाँ उसे वैसा करने के लिए विवश करती हैं, तो निश्चित है कि, उस क्षेत्र में कार्य करने पर उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव नहीं। अतएव, उस व्यक्ति के हित में है कि वह बौद्धिक विकास हेतु अध्ययन-अध्यापन संबंधी क्षेत्र का चुनाव करे और अपनी निष्ठा द्वारा अपना ही नहीं, प्रत्युत् उस समाज का भी कल्याण करे जिसकी वह सदस्यता ग्रहण किये है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि, व्यक्ति के जीवन में उसकी प्रगति एवं सफलता इस बात पर प्रमुख रूप से आश्रित है कि व अपनी शक्तियों को उचित दिशा में प्रवाहित करे। यदि दिशा का उचित चयन नहीं होता तो शक्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में एक से अधिक दिशा में एक बार में ही स्खलित हो जाती हैं और व्यक्ति को,

---

1. "It is the irreducibility of this self-objectifying conciousness to anything else, the impossibilty of accounting far it as an effect, that compels us to regard it as the presence in us of the mind for which the world exists. To admit, therefore, that the self realization of the divine principle can take place otherwise than in a consciousness which is an object to itself, would be in contradiction of the very ground upon which we believe that a divine principle does so realize itself in man." Ibid, p. 191.

किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं होती। उक्त उदाहरण की पुष्टि जीवन में इस प्रकार के अनेक उदाहरणों द्वारा की जा सकती है। शक्तियों के उचित दिशा में प्रवाहित होने से ही जीवन में विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति होती है और वह ही अंततः मानव में निहित संभावनाओं की अभिव्यक्ति का एकाकी साधन है। सामान्य शक्ति वाले व्यक्ति के लिए एक या अधिक-से-अधिक दो या तीन दिशाएँ उसकी आत्माभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त हैं, किंतु असाधारण योग्यता वाले प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए, एक साथ कई क्षेत्र में कार्य करना तथा समान योग्यता से उनमें सफलता प्राप्त करना संभव होता है। जीवन में प्रायः ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति देखने को मिलते हैं, जो अपूर्व बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न होते हुए शारीरिक दृष्टि से भी सक्षम होते हैं और संगीत, कला इत्यादि अनेक क्षेत्र में अपूर्व योग्यता प्रदर्शित करते हैं। उनके द्वारा न केवल उनका वैयक्तिक जीवन समृद्ध होता है, वरन् संपूर्ण समाज समृद्ध होता है। यदि, ऐसी असामान्य प्रतिभा संपन्न व्यक्ति के लिए आत्माभिव्यक्ति के लिए एक से अधिक कार्य क्षेत्रों की आवश्यकता है तो स्पष्ट है कि अनंत संभावना से युक्त उस अनंत सत्ता की अभिव्यक्ति हेतु कितने अधिक कार्य क्षेत्रों की आवश्यकता होगी। और, उन सभी में यदि उसे अपना विशिष्ट और परिपक्वतम रूप देना है तो निश्चित है कि उसे आत्माभिव्यक्ति की सहज-प्रेरणा को नियंत्रित करना होगा और पुनः उसे उचित दिशा में प्रवाहित करना होगा। आत्माभिव्यक्ति हेतु उक्त नियंत्रण आंतरिक ही होता है और यही कारण है कि वह अभिव्यक्ति में बाधक न हो कर उसमें सहायक ही होता है। अतएव जो बाह्य एवं स्थूल दृष्टि से अवरोधक प्रतीत होता है वही आंतरिक, सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि से अभिव्यक्ति की, एक ऐसी सहज अनिवार्य स्थिति प्रतीत होती है जिसके अभाव में आत्माभिव्यक्ति संभव ही नहीं हो सकती।

अतएव अनंत संभावनाओं एवं क्षमताओं से युक्त, इस अनंत सत्ता की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वयं आत्मबोध संपन्न मानवीय इकाइयाँ ही हैं और उनमें से प्रत्येक की मध्यस्थता से, वह सत्ता अपने को निरंतर अनावृत्त कर रही है। और मानव समाज, जो आत्म-बोध संपन्न इकाइयों से निर्मित है, तथा उस अनंत दिव्य सत्ता का संबंध आकस्मिक न होकर आंतरिक, सावयविक एवं स्थायी है। इन दोनों के अभिन्न संबंध की व्याख्या करते हुए, जिसकी तुलना भाषा तथा विचार के परस्पर संबंध से की जा सकती है तथा उसके संदर्भ में मानवीय चेतना की मध्यस्थता से जिस 'अनंतता' की अभिव्यक्ति हो रही है, उसके संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए, ग्रीन कहते हैं :

"मानवीय पूर्णता में योग देने वाले वस्तुओं की प्राप्ति अनन्य निष्ठा के उपरांत भी उस उद्देश्य को सफलतापूर्वक अग्रसर करने की शर्त यही है कि वे वस्तुएँ जिनमें

वह यथार्थतः रुचि रखता है तथा जिनकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील होता है उन्हें सीमित विस्तार का होना चाहिये। किसी परम निरपेक्ष एवं सर्वव्यापक उद्देश्य का अनभिव्यकत एवं अवर्णनीय 'प्रत्यय' उक्त निष्ठा का स्रोत अवश्य हो सकता है, किंतु वह किसी व्यापार विशेष की पूर्ति में ही फलीभूत हो सकता है जिसके द्वारा वह केवल एक सीमित अभिव्यक्ति को ही प्राप्त कर सकता है।"[1]

अतएव, वह दिव्य नियम विशेष उद्देश्यों की स्वीकृति द्वारा जिस 'सीमित अभिव्यक्ति' को प्राप्त करता है, वह भी सम्मिलित जीवन के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा ही संभव होता है। अन्य शब्दों में, विवेकपूर्ण चुने हुए विशिष्ट लक्ष्यों की स्वीकृति की मध्यस्थता से अनंत आध्यात्मिक नियम की 'आंशिक अभिव्यक्ति' भी समाज के अभाव में संभव नहीं क्योंकि समाज उसकी अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम है। उक्त सत्य से संबद्ध, सत्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए ग्रीन कहते हैं कि यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह वांछनीय ही नहीं प्रत्युत् अनिवार्य है कि परिवर्तित स्थितियों के अनुरूप समय-समय पर जो भिन्न स्थान उसे प्राप्त होते हैं, उन्हें निष्ठा के साथ स्वीकार करते हुए तद्‌जन्य कर्तव्य का पालन करे। वे कहते हैं :-

"हम ऐसे समाज की सदस्यता ग्रहण किये हैं, जिसके सामान्य शुभ की हम अपने व्यक्तिगत शुभ के रूप में कल्पना कर सकते हैं, इसीलिए उक्त प्रत्यय का हम पर एक व्यावहारिक अधिकार है और इस सदस्यता का तात्पर्य है कि 'नियामक प्रत्यय' की विशिष्ट अभिव्यवित्त में हमें अपने को आबद्ध रखना है। प्रत्येक को अन्य शब्दों में, मूलतः अपने स्थान से संबद्ध कर्तव्य का पालन करना है। इन कर्तव्यों की परिधि से बाहर, उसकी कार्य क्षमता निश्चित ही सीमित है और उसके साथ ही उसकी व्यक्तिगत रुचियों का क्षेत्र, उसका चरित्र तथा उसकी अभिव्यक्ति विषयक संभावना भी सीमित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार जो सीमित है, वह अपनी मध्यस्थता से सक्रिय, उस आध्यात्मिक तत्व में निहित समस्त संभावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। किंतु क्या इस प्रकार का नियंत्रण, उस व्यक्तित्व का जिसके हम परिचित हैं, एकमात्र आधार नहीं? वह सामाजिक जीवन के अस्तित्व की अनिवार्य स्थिति है और सामाजिक जीवन का

---

1. "Granted the most entire devotion of a man to the attainment of objects contributory to human perfection, the very condition of his effectually promoting that end is that the objects in which he is actually interested and upon which he really exercises himself should be of limited range. The idea unexpressed and inexpressible of some absolute and all embracing end is, no doubt, the source of such devotion but it can take effect, in the fulfilment of some particular function in which it can find restricted utterance." Prolegomena, 192.

व्यक्तित्व से वही संबंध है, जो भाषा का विचार से है।"[1]

अतएव 'अपना स्थान और तज्जन्य कर्तव्य' के रूप में ही मानव जीवन के चरम लक्ष्य की परिभाषा संभव है। ब्रैडले ने अपनी पुस्तक ऐथिकल स्टडीज में परम निःश्रेयस को परिभाषित करते हुए इसी सिद्धांत का समर्थन किया है। अपने व्यक्तित्व में पूर्ण निखार लाने के लिए तथा संयुक्त जीवन में संपूर्ण सफलता से सम्मिलित होने के लिए जिसमें व्यक्ति अवस्थित है तथा जिसके द्वारा वह पोषित होता है, यह आवश्यक है कि वह अपनी आंतरिक रचना के अनुकूल स्थान का पता लगाये और उसके अनुरूप कार्य करे। अन्य शब्दों में, व्यक्ति के कर्तव्य उसके विशिष्ट स्थान से उत्पन्न होते हैं और ये अंतिम रूप से उस सावयविक इकाई से निर्धारित होते हैं, जिनमें व्यक्ति तथा वह विशिष्ट स्थान अवस्थित है। यही कारण है कि इन कर्तव्यों का पालन निष्ठा से होना चाहिये और इनके अनुकूल व्यतीत जीवन द्वारा व्यक्ति न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन को सर्वोत्तम प्रकार से अभिव्यक्त करने में सफल होगा, प्रत्युत् वह उस सम्मिलित जीवन की भी सर्वाधिक उपयुक्त प्रकार से सेवा करने में सफल होगा जिसका वह स्वयं एक जीवित तंतु है।

उन समग्र इकाइयों की चर्चा करते हुए जिनके अंतर्गत व्यक्ति सदस्यता ग्रहण करता है, ब्रैडले तीन विशिष्ट इकाइयों का वर्णन करते हैं, जिनमें सर्वप्रथम 'परिवार' है। व्यक्ति जन्म के साथ ही एक विशिष्ट परिवार की सदस्यता ग्रहण करता है। परिवार में उसके माता-पिता, भाई-बहन और अन्य संबंधी होते हैं, जिनकी संख्या में क्रमशः वृद्धि होती जाती है। इन सदस्यों के कारण तथा इनसे उसके विशेष संबंधों के कारण उस 'इकाई' में उसका एक विशेष 'स्थान' होता है और उससे संबद्ध, उसके विशिष्ट अधिकार एवं कर्तव्य होते हैं। इनसे अपने को पृथक् करना उसके लिए संभव नहीं होता, और न ही ऐसा करना उसके अपने हित में है। अतएव अधिकार-कर्तव्य की इस श्रृंखला को, जिससे वह आबद्ध है, स्वीकार करना-अधिकारों के प्रति सजग रहना और कर्तव्यों का निष्ठा से पालन करना, ही व्यक्ति के अपने हित की दृष्टि से तथा उस पारिवारिक इकाई के हित की दृष्टि से वांछनीय है, जिसके

1. "It is only so far as we are members of a society of which we can conceive th common good as our own, that the idea has any pracical hold on us at all; and this very membership implies cofinement in our individual realization of the idea. Each has primarily to fulfil the duties of his station. His capacity for action beyond th range of thosr duties is definitely bounded and with it is definitely bounded also his sphere o f personal interests; his character, his realized possibility. No one so confined, it would seem, can exhibit att that the, spirit working through and in him properly and potentially is, yet is not such confinement the condition of the only personality we know? It is the condition of social life and social life is to personality what language is to thought."

Prolegomena, 192.

साथ वह अभिन्न रूप में संबद्ध है तथा जिसमें सम्मिलित हो कर ही उसे अपना व्यक्तित्व, उसके अधिकार और तत्संबंधित कर्तव्य प्राप्त हैं।

यदि परिवारिक इकाई में सम्मिलित होने वाली सभी चेतन इकाइयाँ इस प्रकार, अपने अधिकार तथा कर्तव्य के प्रति सजग रह कर कार्य करेंगी, तो निश्चित है कि पारिवारिक जीवन सुचारु रूप से संभव हो सकेगा और प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उसके द्वारा सुख, शांति और समृद्धता को प्राप्त होगा।

अन्य समग्र इकाइयों के विषय में भी, यह उतना ही सत्य है जितना पारिवारिक इकाइयों के विषय में समग्र है। व्यक्ति, उन सभी इकाइयों के सम्मिलित जीवन में अनिवार्यतः सम्मिलित होता है यथा-'समाज' और 'राज्य'। 'समाज' की सदस्यता वह अपने सक्रिय जीवन के विभिन्न पक्षों के आधार पर ग्रहण करता है-वह अन्य को अपना सहयोग देता है और अन्य से प्राप्त सहयोग के आधार पर अपने जीवन को संभव बनाता है। उदाहरणार्थ, यदि वह किसी कार्यालय में, किसी स्थान पर अवस्थित है, तो कार्यालय सौम्य एवं सुचारु रूप में तभी कार्य कर सकेगा, जब वह निष्ठा के साथ अपने कार्य को तथा उससे संबंद्ध उत्तरदायित्व को निभायेगा। कितना भी छोटा और अमहत्वपूर्ण उसका कार्य और उससे संबद्ध दायित्व क्यों न हो, उसका निष्ठा से कार्य करना और संबंधित दायित्व का निर्वाह करना न केवल उसके अपने हित में है प्रत्युत् सम्मिलित जीवन की उस इकाई के हित में भी है, जिसकी वह अनिवार्य सदस्यता ग्रहण किये है। दोनों का हित परस्पर अभिन्न रूप से संबद्ध है और दोनों एक-दूसरे के लिए पूरक तत्व हैं। अपने स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना व्यक्ति की अनभिज्ञता का द्योतन करती है और उसके व्यापक एवं स्थायी हित की दृष्टि से घातक भी है। 'राज्य'-जो मानवीय सम्मिलित जीवन की वृहत्तम इकाई है, उसकी सदस्यता के विषय में यह उतना ही सत्य है। उसके सुचारु रूप से कार्य कर सकने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वे सभी चेतना इकाइयाँ जो उसकी सदस्यता ग्रहण किये हैं, एक विशेष स्तर की जागृति रखें। राज्य की प्रभुता एवं प्रशासकीय शक्ति ही उसके सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूप से कार्य करने के लिए आवश्यक नहीं होती। 'शक्ति' का प्रयोग तो बहुत कम विशेष स्थितियों में ही होना चाहिये। इसीलिए संभवतः योगी अरविंद ने उच्चतम सम्मिलित जीवन की कल्पना में 'अराजकता' शब्द का प्रयोग किया है जिसका सामान्य अर्थ होता है-नियम का, नियंत्रण का संपूर्ण अभाव और ऐसी स्थिति जिसमें 'नियम' का, 'नियंत्रण' का, अभाव होता है, सामान्यतः नितांत अव्यवस्था की स्थिति होती है। किंतु इस उच्चतम स्थिति के विषय में इस प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती। वह एक ऐसी आदर्श, मंगलमयी स्थिति होगी जिसमें नियम की, अनुशासन की, आवश्यकता इसीलिए न होगी कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार स्वयं नियमवत् होगा। इसी

स्थिति की कल्पना कांट ने 'साध्यों के साम्राज्य' के रूप में अपने तृतीय सूत्र में की है।

ग्रीन ने भी, इस आदर्श मंगलमयी स्थिति की कल्पना निम्न पंक्तियों में व्यक्त करने की चेष्टा की है :

"ऐसे समाज की स्थापना, मानव द्वारा एक-दूसरे को मानव रूप में स्वीकार करने पर, उनमें रुचि लेने पर संभव है-ऐसे रूप में स्वीकार करने पर, जिसमें वे स्वतः साध्य हों और उनका व्यवहार सचेतन रूप से, केवल इस प्रत्यय से नियंत्रित हो कि वे स्वयं अपने लिए कार्य कर रहे हैं : वे परस्पर एक-दूसरे में मानव रूप में ही रुचि रखते हैं और प्रत्येक को इस बात का स्पष्ट बोध रहता है कि दूसरा व्यक्ति अपने आत्म-संतोष के लिए प्रयत्नशील ता होता है, किंतु उसे उस संतोष की उपलब्धि उन्हीं के आत्म-संतोष, के लिए कार्य करने में अथवा उसके प्रत्यक्ष बोध में ही होती है। समाज की स्थापना, ऐसे ही व्यक्तियों के परस्पर रुचि लेने पर संभव होती है और यदि इस प्रकार का भाव सक्रिय न होता (चाहे उसकी अभिव्यक्ति अमूर्त प्रत्ययों में कितनी ही कठिन क्यों न प्रतीत होती हो) तो वह धरातल भी न होता, जिसके आधार पर अपने व्यवहार द्वारा एक व्यक्ति दूसरे को साधन रूप में प्रयुक्त नहीं करता प्रत्युत् उसे साध्य रूप में ही सम्मानित करता है और यही वह धरातल है जिस पर समाज को अपने आदि एवं लघुतम रूप में भी अवस्थित होना चाहिये।"[1]

अध्यात्मवादियों ने, सदैव ही समाज के सम्मिलित जीवन की इस आदर्श, मंगलमयी स्थिति की कल्पना तथा उसका चित्रण इसी रूप में किया है। आदर्श की इस रूप में कल्पना इसलिए संभव है कि समाज में सम्मिलित होने वाली चेतन इकाइयों के पास स्वातिक्रमण की-अपने मनोदैहिक व्यक्तित्व द्वारा निर्मित सीमाओं के उल्लंघन की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। परार्थवादी आचार नीति का तात्विक आधार मानवीय चेतना का यही स्वातिक्रमणीय रूप है, जिसके अनुसार प्रत्येक

---

1. "Such society is founded on the recognition by persons of each other, and their interest in each other, as persons, i. e. as beings, who are ends to themselves, who are consiously determined to action by the conception of themselves, as that for the sake of which they act. They are interested in each other as persons in so far as each, being aware that another presents his own self-satisfaction to himself as an object, finds satisfaction for himself in procuring or witnessing the self-satisfaction of the other. Society is founded on such mutual interest, in the sense that, unless it were operative, however, in capable of expressing itself in abstract formulae, there would be nothing to lead to that treatment by one human being of another as an end, not merely as means, on which society even in its narrowest and most primitive forms must rest"

Prolegomena to Ethics, pp 199-200.

व्यक्ति नियमवत् व्यवहार करता है और अधिकारों से अधिक अपने उन कर्तव्यों के प्रति सजग रहता है, जो उसे समाज के वृहत् जीवन में अपने विशिष्ट 'स्थान' द्वारा प्राप्त है।

नैतिक चेतना के इस स्वातिक्रमणीय रूप की तथा विश्वव्यापी बृहत् चेतना से उसके तादात्म्य की, जहाँ से नैतिक जीवन की प्रेरणा प्राप्त होती है, चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं :

"नैतिक होने के लिए यह आवश्यक है कि मैं अपने विशिष्ट स्थान तथा तद्जन्य कर्तव्य का संकल्प करूँ अर्थात, किसी दी हुई स्थिति में नैतिक व्यवस्था को उसके यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करने का निर्णय लूँ और इसी व्यवहार का द्वितीय पक्ष यह है कि उक्त नैतिक व्यवस्था, विशिष्ट स्थान एवं प्रक्रिया द्वारा-मेरे कार्य एवं संकल्प द्वारा, विशिष्ट होने का संकल्प लेती है। अन्य शब्दों में, मेरा नैतिक व्यक्तित्व मात्र मेरा नहीं, वह एक नितांत व्यक्तिनिष्ठ अन्तःस्थल नहीं प्रत्युत् वह आत्मा है, जो शरीर को अनुप्राणित करती है। पुनः वह आत्मा न होती यदि उसका शरीर न होता, वह भी उसका अपना निजी शरीर। वस्तुगत सावयविक इकाई तथा व्यवस्थित नैतिक जगत्, नैतिक संकल्प की यथार्थता है। आंतरिक रूप से जो मेरे कर्तव्य हैं वे ही बाह्य रूप से समुचित व्यवहार में व्यक्त होते हैं। यहाँ पर पूर्व स्थापित अथवा पूर्व स्वीकृत सामंजस्य की आवश्यकता नहीं, क्योंकि, नैतिक समग्र इकाई वस्तुतः दोनों पक्षों का तादात्म्य है। मेरा व्यक्तिगत संकल्प, जहाँ तक कि मैं नैतिक हूँ, नैतिक सावयविक इकाई के संकल्प से, जिसकी मध्यस्थता से उसकी स्वयं अपनी तथा मेरी अभिव्यक्ति हो रही है, तादात्म्य स्थापित करने की तथा उस पर अपने को आरोपित करने की प्रक्रिया है। अतएव स्पष्ट है, मुझे जो कुछ भी करना है, उसे एक असहयोगी विश्व पर आरोपित नहीं करना है, मुझे तो केवल एक स्थान की पूर्ति करनी है-एक ऐसे स्थान की, जो पूर्ति हेतु मेरी प्रतीक्षा में है, मुझे अपने व्यक्तित्त्व को माध्यम तथा निजी जीवन को समग्र इकाई की आत्मा के क्षेत्र एवं सक्रिया के रूप में प्रस्तुत करना है- जो मुझ में इस प्रकार व्यक्तिगत होते हुए भी, मुझे तथा अपने को एक ऐसी ठोस यथार्थता में, जो मेरी तथा इसकी दोनों है, अभिव्यक्त करता है।"[1]

---

1. "To be moral, I must will my station and its duties, that is, I will to particularize the moral system truly in a given case; and the other side to this act is, that the moral system wills to particularize itself in a given station and function, i. e. in my actions and by my will. In other words, my moral self is not simply mine; and further is not a mere inner at all, but it is the soul which animates the body and lives in it, and would not be the soul if it had not a body and its body. The objective organism, the systematized moral world, is the reality of the moral will, my duties on the inside answer to due functions on the outside. There is no need here for a pre-established or a postulated harmony, for the moral whole is the identity of both sides; my private choice, so far as I am moral, is the mere form of bestowing myself, on, and identifying myself with, the will of the moral organism

नैतिक जगत् के आत्मगत एवं वस्तुगत पक्षों में पूर्ण ऐक्य है, क्योंकि दोनों एक ही आध्यात्मिक सत्ता की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव, किसी विशेष परिस्थिति में मेरा कर्तव्य है, वह केवल मेरे नैतिक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं प्रत्युत् वह एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा अनंत चेतना, अनंतता स्वयं, अपने विभिन्न पक्षों में से किसी एक पक्ष की अभिव्यक्ति करती है ताकि उसके द्वारा तथा वैसी अन्य अभिव्यक्तियों द्वारा, वह एक ऐसी नैतिक सावयविक इकाई का सृजन कर सके, जिसकी मध्यस्थता से परम सत्ता की संपूर्ण प्रकृति का प्रकाशन हो सके।

नैतिक आदर्श का आकारिक रूप

नैतिक आदर्श की द्वितीय विशेषता, उसकी आकारिक प्रकृति है और उसकी इस प्रकृति की समीक्षकों द्वारा विशेष आलोचना हुई है। मानवीय चेतना के समक्ष नैतिक आदर्श एक ऐसे 'परम लक्ष्य' के रूप में प्रस्तुत होता है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत इच्छा एवं रुचि की विपरीतता के बावजूद भी स्वीकार करना पड़ता है। कांट के दर्शन में भी नैतिक आदर्श की इसी विशेषता को पर्याप्त महत्व दिया गया है। उन्होंने उसे वस्तुगत, अ-वैयक्तिक, निरपेक्ष, परम लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया है जिसे मानवीय संकल्प को आदर्श रूप में अनिवार्यतः स्वीकार करना ही है। ब्रैडले ने भी अपनी पुस्तक 'एथिकल स्टडीज' के पाँचवे अध्याय में उसके इसी रूप का चित्रण किया है। अपनी अपूर्व शैली में विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि इस प्रश्न पर दो ही विकल्प हमारे समक्ष हैं :

"नैतिक चेतना कहती है कि नैतिकता का या तो अस्तित्व ही नहीं है अथवा नैतिक कर्तव्यों का अस्तित्व इस अथवा उस व्यक्ति द्वारा उनके समर्थन से पृथक् है। मेरा कर्तव्य किसी अन्य व्यक्ति का न हो कर मेरा ही क्यों न हो, किंतु मैं उसे अपना नहीं बना लेता हूँ। यदि वह कर्तव्य है, तो वह मेरी स्थिति एवं दशा में किसी भी व्यक्ति का कर्तव्य होगा चाहे उसने वैसा सोचा हो अथवा नहीं; एक शब्द में कहा जा सकता है कि कर्तव्य, इस विशेष अर्थ में, वस्तुगत है कि वह इस व्यक्ति अथवा उस व्यक्ति के मात्र संकल्प एवं विचार पर आश्रित नहीं।"[1]

---

which realizes in its process both itself and myself. Hence, we see that what I have to do. I have not to force on a recalcitrant world; I have to fill my place-place that waits for me to fill it; to make my private self the means, my life the sphere and the function of the soul of the whole, which thus, personal in me, externalizes both itself and me into a solid reality, which is both mine and its."

Ethical Studies, pp. 180-81.

1. "Either there is no morality, so says the moral consciousness or moral duties exist independently of their position by this or that person : my duty may be mine and no other man's, but I do not make it mine. If it is duty, it would be the duty of any person in my case and condition, whether he thought so or not. In a word, duty is 'objective' in the sense of not being contingent of the mere opinion or choice of this or that subject." Ethical Studies, p. 162.

अतएव ग्रीन एवं ब्रैडले के अनुसार नैतिक आदर्श अ-वैयक्तिक, वस्तुगत एवं सामान्य है। उसे इस रूप में प्रस्तुत करना, उसके विषय में, पूर्व पृष्ठों में, जो कुछ भी कहा जा चुका है, उस सभी को एक बार तो अस्वीकार करना होगा, क्योंकि पूर्व कथन के अनुसार ग्रीन ने नैतिक आदर्श को मूलतः वैयक्तिक स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि नैतिक आदर्श संबंधी इस असंगति को किस प्रकार सुलझाया जा सकता है?

वस्तुतः नैतिक आदर्श संबंधी, इस असंगति के मूल में मानव की नितांत विरोधी प्रवृत्ति है। मानव एक 'अनंत-सांत' व्यक्तित्व है। हमारे नैतिक प्रयासों द्वारा जिस व्यक्तित्व का पोषण एवं संरक्षण होता है, वह मानव में विद्यमान अनंत चेतना ही है, जो विश्व में व्याप्त परम आध्यात्मिक सत्ता से पूर्ण ऐक्य रखती है, और जिस व्यक्तित्व का, इन प्रयासों द्वारा निषेध तथा अतिक्रमण होता है, वह मानव का सीमित व्यक्तित्व है-उसका मनोदैहिक व्यक्तित्व, जिसकी मध्यस्थता से विश्वव्यापी आध्यात्मिक चेतना अपने दिव्य प्रयोजन को साकार बनाने में सफल होती है। जब नैतिक आदर्श का अनानुभविक एवं अवैयक्तिक प्रस्तुत किया जाता है तो वैयक्तिक एवं अनानुभविक शब्द उसके इस द्वितीय रूप की ओर इंगित करते हैं, जिसके अतिक्रमण के लिए हम सतत् प्रयत्नशील रहते हैं।

मानवीय व्यक्तित्व के संबंध में, उपरोक्त विचार किंचित अप्रासंगिक थे, किंतु, मानवीय व्यक्तित्व के रूप में, विश्व जो एक पहेली प्रस्तुत करता है, उसके अनावरण के लिए ये आवश्यक भी थे। विचार को पुनः विषय से संबद्ध करते हुए, हम यह कहना चाहेंगे कि अनुभव की वर्तमान स्थिति में नैतिक आदर्श का एक प्रतीकात्मक चित्रण ही संभव है। ग्रीन, ब्रैडले तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के सभी समर्थकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि नैतिक आदर्श की, प्रकृति के अनावरण के सभी प्रयास किसी-न-किसी रूप में 'चक्रक तर्क' का आश्रय लेते हैं और यदि किसी सिद्धांत में उसका अभाव प्रतीत होता है तो निश्चिय है कि वह भ्रांति है और चक्रक तर्क प्रच्छन्न रूप से उसमें अवश्य विद्यमान है। ग्रीन इस बात को स्पष्ट स्वीकार करते हैं। यदि शुभ संकल्प को हम परिभाषित करना चाहें तो उसे एक निरपेक्ष शुभ अथवा नैतिक शुभ हेतु प्रयत्नशील संकल्प के रूप में ही हम प्रस्तुत करेंगे। और हमसे जब यह पूछा जाय कि नैतिक शुभ क्या है, तब प्रत्युत्तर में हम केवल इतना ही कह सकेगे कि वह एक ऐसी 'वस्तु' है, जिसकी ओर शुभ संकल्प प्रेरित है।

ग्रीन कहते हैं कि कांट के विचारों में चक्रक तर्क का अभाव स्पष्ट दिखायी देता है और उसका कारण यह है कि उन्होंने निरपेक्ष शुभ के स्थान पर एक अन्य शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रश्न पर अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"चक्रक प्रक्रिया से मुक्त हुए बिना हम उसे किंचित आवृत ही कर लेते हैं, यदि 'शुभ संकल्प निरपेक्ष हेतु संकल्प है, कथन के स्थान पर हम यह कहें कि वह सामान्य नियम के अनुरूप, केवल उसी के लिए कार्य करने वाला संकल्प है अथवा यह कहें कि क्योंकि सामान्य नियम के रूप में उसकी कल्पना की जाती है, इस सामान्य नियम के प्राधिकार की स्वीकृति निरपेक्ष शुभ से उसके संबंध के प्रत्यय पर आश्रित होना चाहिये।"[1]

एक शाब्दिक संवरण का आश्रय लेकर ही, हम उपरोक्त कठिनाई से बच सकते हैं। वस्तुतः जहाँ पर हम किसी मूलतः अपरिभाष्य सत्ता को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं, इस कठिनाई से बचना असंभव है। सुखवादियों ने तो, इससे भी गंभीर प्रकार के संवरण का प्रयोग किया है। 'शुभ संकल्प' को परिभाषित करते हुए वे उसे एकमात्र 'शुभ' के रूप में नहीं स्वीकार करते प्रत्युत उसे अपने से पृथक् एवं बाह्य तत्व से संबद्ध करते हैं जिसके लिए वह स्वयं मात्र साधन है, इससे अधिक कुछ नहीं। अतएव, यदि 'प्रिसिप्या ऐथिका के लेखक की भाषा का प्रयोग, वर्तमान संदर्भ में उचित है, तो 'परतंत्रता'[2] की आपत्ति सुखवादियायों के विरुद्ध लायी जा सकती है। शुभ एवं नैतिक संकल्प तथा सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील संकल्प के मध्य जो तादात्म्य सुखवाद ने प्रस्तुत किया है, उस पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ग्रीन कहते हैं :

"सुखवादी उपयोगितावाद का यह विशेष आकर्षण है कि वह इस प्रकार की तार्किक उलझन से बचता प्रतीत होता है। यदि हम यह कहें कि निरपेक्ष शुभ 'सुख' है और शुभ संकल्प वह है जो परिणामतः अधिकतम सुख उत्पन्न करता है, तो निश्चित ही यह आपत्ति हमारे विरुद्ध नहीं लायी जा सकती कि अपनी किसी भी परिभाषा में हम उन प्रत्ययों को स्वीकार कर लेते हैं जिन्हें हमें परिभाषित करना है। किंतु, हम इस प्रकार तभी बच सकते हैं, जब हम शुभ संकल्प को अपने से पृथक् किसी तत्व से संबद्ध स्वीकार करें, उसके मूल्य को शुभ से नितांत भिन्न एवं विजातीय किसी 'साध्य' के साधन रूप में स्थित मान लें।"[3]

सुखवाद द्वारा 'शुभ' एवं 'सुख' के मध्य स्थापित तादात्म्य के विरुद्ध ग्रीन

---

1. "We do but slightly disguise the circular process without escaping from it, if instead of saying directly that the good will is the will for the unconditional good, we say that it is the will to conform to a universal law for its own sake or because it is conceived as a universal law, the recognition of the authority of such a universal law must be founded on the conception of its relation to an unconditional good." Prolegomena, p. 204.
2. Heteronome-परायत्तता शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।
3. "It is one of the attractions of hedonistic utilitarianism that it seems to avoid this logical embarrassment. If we say that the unconditional good is pleasure and that the good will is that which in effect turns out to produce most pleasure on the whole, we are certainly not chargeable with assuming in either definition the idea to be defined. But we only

की आलोचना कांट का स्मरण कराती है और हमारे इस मत का समर्थन करती है कि हेगेल और उनकी विचारधारा के समर्थक दार्शनिक कांट की विचार परंपरा के अंतर्गत ही आते हैं। नैतिक 'शुभ' एवं 'संकल्प' के इस अयथार्थ प्रस्तुतीकरण के विरुद्ध, अपने विचार व्यक्त करते हुए ग्रीन कहते हैं कि नैतिक आदर्श को अनिवार्यतः एक मानवीय आदर्श होना चाहिये। उसे, अन्य शब्दों में, एक ऐसा आदर्श होना चाहिये जो मानवीय व्यक्तित्व की मध्यस्थता से तथा मूलतः उसी रूप में अभिव्यक्त होने की क्षमता रखता हो। पूर्व पृष्ठों में, नैतिक आदर्श की इस विशेषता पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है और इसलिए उसकी एक अन्य विशेषता का उसके प्राग्नुभविक रूप का, प्रस्तुतीकरण किया जायेगा।

नैतिक आदर्श का प्राग्नुभविक रूप

नैतिक आदर्श का अनुभव निरपेक्ष रूप, उसकी प्राग्नुभविकता, उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। मानवीय संकल्प के लिए उक्त आदर्श, जो बाध्यता रखता है, वह अनुभव सापेक्ष बाध्यता नहीं है, वह एक ऐसी अनुभूति का परिणाम नहीं जिसमें व्यक्ति द्वारा उसका आस्वादन किया जा चुका है और जिसके कारण उसके पुनः प्राप्ति की इच्छा उसके मन में उठती है। व्यावहारिक लक्ष्यों के विषय में ही यह सत्य होता है। किंतु ये लौकिक लक्ष्य मानवीय संकल्प के लिए अनिवार्य नहीं प्रत्युत् वैकल्पिक होते हैं और मूल रूप से उन विशिष्ट परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं, जिनके मध्य उक्त संकल्प का कार्य करना पड़ता है। विपरीततः नैतिक आदर्श मानवीय चेतना में अनुस्यूत है; उसमें प्रारंभ से ही वह विद्यमान है ओर अपनी अभिव्यक्ति के लिए, उसे सदैव प्रेरित करता रहता है। अतएव, मानवीय संकल्प पर जिस 'बाध्यता' को वह आरोपित करता है, वह एक प्राग्नुभविक बाध्यता है; वह एक ऐसी स्थिति की कल्पना प्रस्तुत करता है, जिसमें मानव अपने सर्वोपरि रूप को प्राप्त करता है और जिससे उत्कृष्टतर स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। यही कारण है कि यद्यपि उस स्थिति की पूर्ण कल्पना नहीं की जा सकती तथापि प्रेरणा रूप में वह इस प्रकार कार्य करती है, जिस प्रकार कोई भी अन्य प्रेरणा कार्य नहीं कर सकती। सैद्धांतिक स्तर पर वह 'उत्कृष्टतम' की कल्पना है और व्यावहारिक स्तर पर वह एक ऐसी आंतरिक प्रेरणा के रूप में अभिव्यक्त होती है, जो व्यक्तित्व को निरंतर स्वातिक्रमण के लिए प्रेरित करती रहती है। बोसांक्वे ने इस प्रेरणा को 'संपूर्ण' की प्रेरणा[1] के रूप में व्यक्त किया है, जिसका तात्पर्य 'तद्' और 'किम्'[2] के विरोध से अपने को मुक्त करने की तथा पूर्णता की

---

avoid doing so by taking the good will to be relative to something external to itself; to have its value only as a means to an end wholly alien to and different from goodness itself". Ibid, p. 205.

1. "Nisus for whole."
2. That-what.

यथार्थ स्थिति में, स्थायी रूप से अवस्थित होने की इच्छा से है। वस्तुतः यह तो मानव के तात्विक व्यक्तित्व की माँग है, जो निरंतर अपने विस्तार की, अनंतता को अभिव्यक्त करने की इच्छा के रूप में व्यक्त होती रहती है।

एक ऐसे संकल्प के संदर्भ में जो पूर्णता को, समग्रता को, अभी प्राप्त नहीं कर सका है, उक्त आदर्श स्थिति एक ऐसे 'आदेश' के रूप में व्यक्त होती है, जो मानवीय संकल्प के लिए निरपेक्ष बाध्यता रखती है। कांट के 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए' सिद्धांत की महत्ता उपरोक्त विचार के आधार पर स्पष्ट हो जाती है। मानवीय संकल्प, जब मानवीय चेतना में अनुस्यूत, आदर्श को अभिव्यक्त करने का निश्चय करता है, तब उसका रूप क्या होता है तथा उसे किस पकार कार्य करना चाहिये, इसका स्पष्टीकरण इस सिद्धांत का प्रयोजन है। जीवन में किसी अन्य प्रकार की निष्ठा इतना महत्व नहीं रखती जितना कि उस संकल्प की स्वयं अपने प्रति निष्ठा। यही कारण है कि कांट के विचार में कोई भी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण नहीं कि हमें उससे प्राप्त आदेश से विमुख कर सके। कांट के दर्शन का यही संदेश है जिसको प्रायः समीक्षकों ने अनुचित रूप से प्रस्तुत किया है। उसकी आलोचना के अनुसार कांट का शुभ अथवा नैतिक संकल्प एक 'ऐसा संकल्प है, जो विशिष्ट का संकल्प नहीं करता।'[1] किंतु यदि मानक जीवन में से इच्छाओं, वृत्तियों एवं भावनाओं का संपूर्ण बहिष्करण कर दिया जाय, तो जीवन यथार्थ में शुष्क और प्रेरणा विहीन हो जायेगा। इसके अतिरिक्त विशिष्ट से नितांत असंबद्ध संकल्प अयथार्थ है।

निःसंदेह, समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत उक्त आलोचना उचित होती यदि मानवीय व्यक्तित्व एक भावनात्मक व्यक्तित्व मात्र होता। किंतु स्पष्ट है कि हमारा भावनात्मक व्यक्तित्व हमारा संपूर्ण व्यक्तित्व नहीं, वह उसका सबसे महत्वपूर्ण भाग भी नहीं। यही कारण है कि उक्त आलोचना मानवीय व्यक्तित्व विषयक एक महत्वपूर्ण भ्रांति पर आधारित है। जब तक मानवीय चेतना भावनात्मक व्यक्तित्व को ही सर्वोपरि मानती है और उच्च व्यक्तित्व की उपस्थिति से अनभिज्ञ है, तब तक वह जीवन में भावनाओं, इच्छाओं एवं वृत्तियों को ही महत्वपूर्ण मानती है और उन्हीं से अपने व्यवहार की प्रेरणा को प्राप्त करती है। किंतु, जब वह अपने तात्विक व्यक्तित्व की उपस्थिति के प्रति सजग हो जाती है, तब वह सहजता के साथ इन सभी का अतिक्रमण कर लेती है और ऐसा करने में एक स्थायी संतोष का अनुभव करती है। इसी को पूर्णत्व की प्राप्ति कहते हैं। यीशु मसीह का तथा अन्य संतों का जिन्होंने पूर्णत्व की प्राप्ति की है, यही संदेश है। कांट ने जब संकल्प को बौद्धिक आदेश के प्रति अटूट निष्ठा रखने के लिए कहा, तब संभवतः उनके विचारों की पृष्ठभूमि

1. "A will which wills nothing."

में इसी प्रकार की कल्पना रही होगी। इसी प्रकार ग्रीन भी जब नैतिक आदर्श को अमूर्त एवं काल्पनिक आदर्श के रूप में नहीं, प्रत्युत् यथार्थ और सार्थक आदर्श के रूप में स्वीकार करते हैं, तब वे भी उपरोक्त विचार का ही समर्थन करते प्रतीत होते हैं। नैतिक आदर्श की असीमता की, उसकी समृद्धि की, सीमा नहीं। वह अनंत है और इसीलिए अपनी किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति द्वारा तथा उनके योग द्वारा उसे संपूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता।

परंपरागत आचार नीति एवं नैतिक आदर्श

परंपरागत आचार नीति एवं नैतिक आदर्श के संबंध का विश्लेषण करते हुए, वे कहते हैं कि दोनों का परस्पर संबंध बहुत निकट का है। दोनों का, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, सावयविक संबंध है क्योंकि आदिकाल से नैतिक आदर्श मानवीय चेतना के समक्ष उसी की मध्यस्थता से अपने को अभिव्यक्त कर रहा है। जब उस आदर्श की अभिव्यक्ति के लिए नूतन भाषा का प्रयोग आवश्यक हो जाता है, तब परंपरागत आचार नीति में देश-काल के अनुरूप यथोचित संशोधन भी अनिवार्य हो जाता है। ये परिवर्तन आकस्मिक एवं बाह्य न हो कर आंतरिक ही होते हैं, इसीलिए ग्रीन परंपरागत आचार नीति को सामान्य व्यक्ति एवं सामान्य स्थिति की दृष्टि से अत्यंत ही महत्वपूर्ण मानते हैं। परंपरागत आचार नीति, जिन कर्तव्यों को व्यक्ति के लिए मान्य स्वीकार करती है, उन्हें निष्ठा से स्वीकार करना और उनके अनुरूप व्यवहार करना व्यक्ति के अपने हित में है। वह एक साधारण प्रकार की निष्ठा नहीं है प्रत्युत् एक ऐसी निष्ठा है, जो अटूट है। असाधारण प्रतिभा वाले असामान्य व्यक्ति ही, वह अंतर्दृष्टि रखते हैं, जिसके आधार पर परंपरागत आचार नीति को एक नवीन मोड़ दिया जा सकता है।

अतएव अध्यात्मवाद के अंतर्गत प्रस्तुत नैतिक आदर्श एक 'शून्य' नहीं और सुविज्ञ समीक्षकों ने जब उसे इस रूप में प्रस्तुत किया है तब निश्चित ही वे उसके साथ न्याय नहीं कर सके हैं। नैतिक आदर्श के विषय में इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह परंपरागत आचार नीति की आत्मा है और उसकी मध्यस्थता से अपने को परिभाषित कर रहा है। अधिक-से-अधिक उसके विषय में क्या कहा जा सकता है, इसके लिए सीमा निर्धारित करना असंभव है। इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, ग्रीन कहते हैं : "इस दृष्टिकोण से, निरपेक्ष आदेश उपादान रहित न होकर उसमें उसका अतिरेक ही प्रतीत होता है। मानव की उस पूर्णता हेतु साधन रूप में वह मान्य कर्तव्यों के पालन का आदेश देता है, जिसकी प्राप्ति के विषय में, वह निरपेक्ष रूप से आदेश देता है और वह उन कर्तव्यों के अनुसरण का आदेश उसी निरपेक्ष भाव से देता है, जिस निरपेक्ष भाव से वह उस 'साध्य' की प्राप्ति के विषय में आदेश देता है, जिसके लिए उक्त अनुसरण साधन है और तब

तक देता है, जब तक वह इस प्रकार का साधन बना रहता है। किसी के सुख प्राप्ति के हित में नहीं प्रत्युत् निरपेक्ष साध्य की संपूर्ण प्राति के हित में ही, वह उससे पृथक् व्यवहार की अनुमति देगा।"[1]

आध्यात्मवादी दृष्टिकोण के सभी समर्थकों ने, नैतिक साध्य के विषय में कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। वे सभी समान रूप से, यह स्वीकार करते हैं कि 'नैतिक साध्य' की प्रकृति लौकिक साध्यों से भिन्न है। उसकी भावात्मक प्रकृति का भी पर्याप्त प्रस्तुतीकरण पूर्व पृष्ठों में हो चुका है। स्पष्ट है कि भावात्मक एवं अभावात्मक-ये दोनों ही ध्वनियाँ उसकी प्रकृति के निरूपण के लिए नितांत आवश्यक हैं। और, इन दोनों को, अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थकों ने, पर्याप्त महत्व दिया है। किंतु नैतिक साध्य की प्रकृति के निरूपण में जब वे उसके अनानुभविक रूप को प्रस्तुत करते हैं, तब उनकी भाषा, सामान्य भाषा से इतनी भिन्न हो जाती है कि सामान्यतः समीक्षक उसके साथ न्याय नहीं कर पाते। नैतिक विचार के क्षेत्र में जो प्रमुख दृष्टिकोण विकसित हुए हैं, उनका प्रस्तुतीकरण समाप्त होता है। यह अंतिम दृष्टिकोण सबके पश्चात् आता है और इसीलिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी है। मूल्यात्मक चेतना का जो विश्लेषण, इसके अंतर्गत प्राप्त होता है, वह व्यापक, गंभीर और दार्शनिक अनुचिंतन की प्रकृति के अनुरूप है। इस दृष्टिकोण के समर्थक अपनी सीमाओं से भलीभाँति अवगत हैं। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मानव की मूल्यात्मक चेतना में जो आदर्श, प्रेरणा रूप में विद्यमान है और जिसकी अभिव्यक्ति के लिए वह निरंतर प्रयत्नशील है, वह मूलतः एक अनानुभविक प्रेरणा और साध्य है और उसे संपूर्ण रूप से प्रस्तुत करना असंभव है। अधिक-से-अधिक हम उसकी ओर संकेत कर सकते हैं-उसे प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त कर सकते हैं-इससे अधिक का प्रयास निरर्थक होगा।

किंतु, उपरोक्त कथन के आधार पर यह न समझना चाहिये कि पूर्णतावाद की आलोचना नहीं की गयी है। आधुनिक युग में 'प्रिंसिप्या एथिका' के लेखक जी० ई० मूर ने इसकी आलोचना की है। उन्होंने इस सिद्धांत में 'प्रकृतिवादी दोष'[2] को स्वीकार किया है। यह आलोचना, कुछ उचित नहीं प्रतीत होती। किंतु, चूँकि

1. "Upon this view, so far from the categorical imperative having no particular content, it may rather seem to have too much. It enjoins observance of the whole complex of estabished duties as a means to that perfection of man of which it unconditionally enjoins the pursuit. And it enjoins this observance as unconditionaly as it enjoins the pursuit of the end to which this observance is a means, so long as it is such a means. It will only allow such a departure from it in the interest of a fuller attainment of the unconditional end, not in the interest of any one's pleasure."
Prolegomena, p. 208.

2. Naturalistic fallacy.

मूर ने अपनी उक्त पुस्तक में इस सिद्धांत के प्रस्तुतीकरण एव उसकी समीक्षा हेतु पर्याप्त स्थान दिया है, इसलिए उनकी प्रमुख युक्तियों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा, और उसके पश्चात् उनकी समीक्षा भी।

तात्विक आचार नीति और मूर

तात्विक आचार नीति को परिभाषित करते हुए मूर कहते हैं कि इस आचार नीति के अंतर्गत आंतरिक एवं नैतिक शुभ की समुचित व्याख्या के लिए सत्ता का तात्विक विवेचन अनिवार्य है। जब तब सत्ता के तात्विक स्वरूप की मीमांसा न की जाय, तब तक आंतरिक शुभता की प्रकृति का अनावरण असंभव है। एक-दूसरे के निरूपण के लिए आवश्यक ही नहीं है, प्रत्युत् उसकी प्रकृति का भी निर्माण करता है और इसीलिए उसकी आंतरिक रचना की दृष्टि से नितांत अनिवार्य है।

मूर के अनुसार, सत्ता के तात्विक स्वरूप के संदर्भ में आंतरिक शुभ को परिभाषित करना अनुचित है। दोनों प्रश्न एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं और उनके पार्थक्य को कोई भी व्यक्ति स्पष्ट देख सकता है। किंतु तात्विक आचार नीति के समर्थक, उन दोनों प्रश्नों को एक-दूसरे से अभिन्न रूप से संबद्ध मानते हैं और उनके सिद्धांत की प्रमुख भ्रांतियाँ इसी एक विश्वास पर आश्रित हैं। मूर कहते हैं कि तात्विक आचार नीति के समर्थकों को भी इस बात का बोध है कि नैतिक शुभ तथा व्यावहारिक जगत् की सत्ता के यथार्थ रूप में, इस प्रकार का तादात्म्य संभव नहीं। इसलिए, वे नैतिक शुभ का तादात्म्य अतींद्रिय जगत् में अस्तित्वमान सत्ता की आंतरिक प्रकृति से करते हैं। वे अन्य शब्दों में, नैतिक शुभ को अतींद्रिय दिव्य संकल्प की प्रकृति से अथवा उससे प्राप्त आदेश से अभिन्न मानते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के समर्थकों में, ये दोनों ही प्रत्यय मिलते हैं और मूर, कांट में विद्यमान इस प्रकार की भ्रांति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इससे पूर्व कि इस प्रश्न पर मूर के विचारों को प्रस्तुत किया जाय, मूर द्वारा शुभ एवं अस्तित्ववान तथा मूल्यात्मक एवं तथ्यात्मक निर्णयों के स्वीकृत तादात्म्य पर व्यक्त विचार को प्रस्तुत किया जायेगा जो उनके अनुसार उक्त भ्रांतियों का कारण है। अपनी पुस्तक में वे कहते हैं :

"सभी निर्णयों को, उस प्रकार के निर्णयों में घटित करना जो यह कहते हैं कि किसी वस्तु का अस्तित्व है, अथवा यह कि वह वस्तु, जिसका अस्तित्व है, एक विशेष गुण रखती है (जिसका तात्पर्य यह है कि एक विशेष संबंध के अंतर्गत दोनों का अस्तित्व है) भ्रांतिपूर्ण है, और इस सरलता के साथ, नैतिक निर्णयों के संदर्भ में देखा जा सकता है। क्योंकि, हमने किन्हीं भी वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध किया हो तथा किन्हीं भी दो सत्ताओं को अनिवार्य रूप से परस्पर संबद्ध सिद्ध किया हो, यह फिर भी एक भिन्न और पृथक् प्रश्न रह ही जाता है कि क्या जिसका इस प्रकार अस्तित्व है, वह शुभ है? क्या उनमें से कोई भी एक अथवा दोनों ही इस

प्रकार से है और क्या उनका इस प्रकार से साथ रहना शुभ है? निश्चित ही और स्पष्टतः ही एक कथन दूसरे कथन के समान नहीं है। हम इस प्रश्न के अर्थ को समझते हैं कि क्या यह जिसका अस्तित्व है अथवा जो अनिवार्यतः अस्तित्ववान है, शुभ है? और हम स्पष्ट देखते हैं कि हम एक ऐसा प्रश्न कर रहे हैं, जिसका उत्तर अभी तक नहीं दिया गया है। इस अपरोक्ष प्रत्यक्ष के सामने कि दोनों प्रश्न भिन्न हैं, इनको एक होना ही है इस विषय में दिये हुए किसी भी प्रमाण का मूल्य नहीं हो सकता।"[1]

तात्विक आचार नीति, जिस मूलभूत समीकरण[2] पर आधारित है, उसे इस प्रकार अस्वीकार करते हुए, मूर, उन दो गौण समीकरणों[3] पर विचार व्यक्त करते हैं; जो उनकी दृष्टि में तात्विक आचार नीति के अंतर्गत महत्वपूर्ण हैं। प्रथम समीकरण के अनुसार नैतिक नियम या आंतरिक शुभता दिव्य अथवा अतींद्रिय संकल्प के लिए, जो कुछ भी प्राकृतिक है, उससे एक रूप है। इस अतींद्रिय संकल्प का मूल्यांकन संभव नहीं क्योंकि वह स्वयं समस्त नैतिक मूल्यों का स्रोत है। शुभ-अशुभ प्रत्ययों के अंतर्गत वह नहीं आता। अन्य शब्दों में, इस विश्व में जो कुछ भी 'शुभ' अथवा 'सद्' है वह उसकी प्रकृति के अनुरूप है और जो कुछ उसकी प्रकृति से भिन्न अथवा विपरीत है, वह अशुभ अथवा असद् है। और, मानवीय संकल्प को यदि नैतिक संकल्प बनना है, तब उसे अनिवार्यतः इस अतींद्रिय संकल्प की प्रकृति के अनुरूप अपने को बनाना होगा-उसके व्यवहार को अनिवार्यतः उस व्यवस्था के अनुरूप होना होगा, जिसे दिव्य संकल्प अपनी प्रकृति में सहज रूप में अभिव्यक्त करता है।

उक्त विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए 'मूर' कहते हैं कि कांट का तथा तात्विक आचार नीति के समर्थकों का दृष्टिकोण मूलतः अस्वीकार्य है क्योंकि उसमें प्रकृतिवादी दोष विद्यमान है। प्रकृतिवादी दोष का स्पष्टीकरण करते हुए, वे कहते हैं कि जब भी शुभ की सरल, विशिष्ट, अ-विश्लेषणीय प्रकृति का, हम किसी

1. "That such a reduction of all propositions to the type of those which assert either that something exists or that some thing which exists has a certain attribute (which means that both exist has a certain relation to one another) is erroneous, may easily be seen by reference to the particurla class of ethical propositions. For whatever we may have proved to exist, and whatever two existents we may have proved to be necessarily connected with one another, it still remains a distinct and different question whether what thus exists is good; whether either or both of the two existents is so; and whether it is good that they should exist together. To assert the one is plainty and obviously not the same thing as to assert the other. We understand what we mean by asking : Is this, which exists, or necessarily exists, after all good? And we perceive that we are asking a question which has not been answered. In face of this direct perception that the two questions are distinct, no proof that they must be identical can have the slightest value" Principia Ethica, pp. 125-26.
2. Basic equation
3. Second order equation.

सत्ता विशेष की प्राकृतिक स्थिति से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, चाहे वह सत्ता ऐंद्रिक जगत में अथवा अतींद्रिय जगत में विद्यमान हो, शुभ का यथार्थ स्वरूप आवृत हो जाता है और हम उसके अयथार्थ रूप को ही यथार्थ मान लेते है। प्रकृतिवादी आचार-नीति में उक्त भ्रांति का प्रथम रूप और तात्त्विक आचार नीति में उसका द्वितीय रूप देखने को मिलता है। तात्विक आचार नीति ने 'शुभ' को अतींद्रिय संकल्प की सहज प्रकृति से एक रूप माना है। उसके अनुसार जो कुछ उस संकल्प के लिए स्वाभाविक एवं सहज है, वह ही नैतिक और उससे भिन्न संकल्प अनैतिक है।

इस मूल भ्रांति के अतिरिक्त कांट के विचारों में एक और दोष है, जिसके कारण उनके विरुद्ध 'परतंत्रता'[1] की आपत्ति लायी जा सकती है। उनके विचारों के अंतर्गत 'शुभ' का स्पष्टीकरण स्वयं उसकी अपनी प्रकृति के आधार पर नहीं किया गया है, प्रत्युत् उसे एक ऐसे स्रोत से संबद्ध किया गया है जो निर्नैतिक अथवा अति-नैतिक है, किन्तु निश्चित रूप से नैतिक नहीं। मूर के अनुसार, नैतिक जीवन का आधार, उसको निर्धारित करने वाली सत्ता को, प्रमुख रूप से नैतिक होना चाहिये। उसके संकल्प को 'शुभ होना ही चाहिये। एक अतींद्रिय, अति-नैतिक संकल्प के आधार पर नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या संभव नहीं। वर्तमान स्थिति में, नैतिक जीवन, एक विजातीय स्रोत से बाह्य रूप से संबद्ध है, नैतिकता तथा उस स्रोत का संबंध आंतरिक न होकर आकस्मिक है और नैतिक अनिवार्यता भी आंतरिक न हो कर बाह्य ही है। किंतु विशुद्ध नैतिकता ठीक इसके विपरीत है, वह अपने स्रोत से आंतरिक रूप से संयुक्त है और उसकी अनिवार्यता भी आंतरिक है।

इस सिद्धांत के विरुद्ध, जो अंतिम आपत्ति, 'मूर' द्वारा लायी गयी है, वह महत्वपूर्ण एवं रुचिकर है। वे कहते हैं कि यदि किसी प्रकार यह सिद्ध हो जाय कि नैतिकता का उक्त विजातीय अतींद्रिय स्रोत काल्पनिक है तब तो तात्विक आचार नीति का प्रमुख आधार ही नष्ट हो जायेगा और उसके साथ ही साथ, नैतिक जीवन तथा उससे संबद्ध मूल्य विषयक प्रत्यय सभी निरर्थक हो जायेंगे।

द्वितीय गौण समीकरण का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसका प्रस्तुतीकरण एवं मूल्यांकन का रूप, प्रथम समीकरण की भाँति ही है। इसके अनुसार 'शुभ' वह है, जिसका उक्त अतींद्रिय संकल्प द्वारा आदेश प्राप्त हो। मूर कहते हैं कि इस सिद्धांत के अंतर्गत अतींद्रिय संकल्प को क्यों स्वीकार किया गया है, इसका कारण स्पष्ट है। नैतिक आदेश जिस स्रोत द्वारा प्राप्त हो उसे 'पूर्ण' होना चाहिये और स्पष्ट है कि ऐंद्रिक जगत की कोई भी सत्ता पूर्ण नहीं हो सकती। अतएव नैतिक आदेशों को जीवन में मान्यता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें एक अतींद्रिय संकल्प से संयुक्त कर दिया जाय। यह संकल्प पूर्ण है और इसीलिए मानव जीवन को नियंत्रित करने की क्षमता रखता है। नैतिक आदेश

1. Heteronomy.

का यह स्रोत स्वयं किसी 'आदेश' द्वारा नियंत्रित नहीं होता। उसका आदेश मानवीय संकल्प हेतु 'नियम' है, जिसे कि उसे अनिवार्यतः स्वीकार करना ही है। स्पष्ट है कि नैतिक जीवन की यह व्याख्या भी उतनी ही असंतोषप्रद है जितनी पहली और पूर्व की भाँति इसके विरुद्ध भी 'परतंत्रता' की आपत्ति लायी जा सकती है। अतएव, इसके विषय में अधिक कहना आवश्यक नहीं है।

इन दो भ्रांतियों के अतिरिक्त, 'मूर' एक अन्य भ्रांति की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिसके कारण तात्त्विक आचार-नीति के निष्कर्ष मूल रूप से अस्वीकार्य हैं। उसके अनुसार ज्ञान मीमांसा के अंतर्गत, अध्यात्मवादी जिस भ्रांति से प्रभावित हैं, ठीक उसी प्रकार की भ्रांति, उनकी आचार-नीति को भी प्रभावित करती है। 'मूर' द्वारा उनकी आचार नीति विषयक भ्रांति की आलोचना पहले की ही भाँति हुई है क्योंकि दोनों भ्रांतियाँ मूलतः एक ही हैं। मूर के अनुसार कांट, तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के अन्य समर्थकों ने 'बोध' और 'संकल्प' को समान ही माना है। यही कारण है कि उनसे संबद्ध उनके निष्कर्ष भी एक ही हैं। उनका कहना है कि 'बोध' और 'संकल्प' दोनों ही अपने विषयों से अभिन्न हैं, बोधात्मक प्रक्रियाएँ सत्य से और सांकल्पिक प्रक्रियाएँ शुभ से अपृथक हैं। अन्य शब्दों में, सत्य एवं शुभ, दोनों का सार, उन प्रक्रियाओं द्वारा निर्मित है और उनसे पृथक् तथा उस कर्ता से पृथक् जिनमें के वे प्रक्रियाएँ संभव हैं, उनके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

उक्त समीकरण के प्रस्तुतीकरण मात्र से ही स्पष्ट हो जायेगा कि वह अयथार्थ है और इसीलिए अस्वीकार्य भी। जिन मानसिक प्रक्रियाओं से सत्य एवं शुभ संबद्ध हैं, वे केवल उनकी प्रकृति की अभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम हैं। किंतु वे प्रक्रियाएँ उनकी प्रकृति का निर्माण करती हैं, यह संभव नहीं। भौतिक सत्ता की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम प्रकाश है, किंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि प्रकाश भौतिक सत्ता तथा उसकी आंतरिक प्रकृति का कारण है। आंतरिक रचना की दृष्टि से विभिन्न धातुएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। सोना-चाँदी से और दोनों लोहे से भिन्न हैं, किंतु ये सभी अपनी अभिव्यक्ति के लिए समान रूप से 'प्रकाश' को माध्यम के रूप में स्वीकार करते है। इसी प्रकार, मन के समक्ष 'सत्ता' की अभिव्यक्ति के लिए इन मानसिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता है, किंतु इस कारण सत्ता का उनसे ऐक्य है, यह संभव नहीं। 'शुभ' के विषय में भी यही कहा जा सकता है। सांकल्पिक प्रक्रियाएँ 'शुभ' की प्रकृति को अनावृत्त करने के लिए अनिवार्य हैं किंतु शुभ उनकी ही सृष्टि है अथवा उनसे उसका तादात्म्य है, यह नहीं कहा जा सकता। किंतु मूर के मत में कांट और ग्रीन दोनों के विचारों में, इस प्रकार का तादात्म्य मिलता है। अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :-

"इस पुनरुक्ति-वाक्य का, कि किसी वस्तु को सत्य समझने के लिए यह

आवश्यक है कि उस पर विचार हो, सामान्यतः इस वाक्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया जाता है, कि वस्तु के सत्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उस पर विचार हो।"[1]

और, इसके बाद यह सोचना कि 'विचार' का अर्थ 'मेरा विचार है' सरल एवं स्वाभाविक है। किंतु इसके कारण 'सत्य' का वस्तुगत रूप नष्ट हो जाता है और वह एक व्यक्ति के व्यक्तिगत चिंतन पर महत्वपूर्ण अर्थ में आश्रित हो जाता है। ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में, सिद्धांत को व्यक्तिनिष्ठवाद कहते हैं और यदि इसी प्रकार के तर्क के आधार पर, नीति सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाय तो वह भी व्यक्तिनिष्ठवाद के अंतर्गत ही आयेगा। 'शुभ' तब किसी विशिष्ट संकल्प पर, आपका, मेरा अथवा अन्य किसी के संकल्प पर, आश्रित होगा, उसके द्वारा विशेष अर्थ में निर्मित होगा। 'मूर' के अनुसार, इस विचार को सरलता से अस्वीकार किया जा सकता है। एक सामान्य व्यक्ति से यदि यह पूछा जाय कि क्या उक्त कथन सत्य है, तो उत्तर निषेधात्मक ही मिलेगा। अपने अनुभव के आधार पर वह यह जानता है कि 'शुभ' और 'सत्य' दोनों ही उनसे संबद्ध उसके अपने विचार से भिन्न हैं। अन्य शब्दों में, वे दोनों आत्मगत न हो कर वस्तुगत हैं, वे उसके संकल्प एवं बोध से भिन्न हैं और उसके संकल्प और बोध को यदि शुभ और सत्य होना है, तो उन्हें उनके अनुरूप ही बनना होगा-उनका अनुसरण करना होगा। 'सत्य' के विषय में विचार व्यक्त करते हुए 'मूर' कहते हैं :-

"अतः जब मैं यह कहता हूँ कि यह सत्य है तो निश्चित है कि मैं इस तथ्य से भिन्न कुछ कहना चाहता हूँ कि 'मैं इस प्रकार सोचता हूँ।"[2]

पुनः वे कहते हैं :

"मैं, जिस वस्तु पर विचार करता हूँ-यथा, 'कोई वस्तु सत्य है' वह सदैव इस तथ्य से भिन्न है कि मैं उस पर विचार करता हूँ।' 'यह सत्य है' कथन 'मैं इस प्रकार विचार करता हूँ' कथन को अपने में समाविष्ट भी नहीं करता, यद्यपि, जब मैं किसी वस्तु को सत्य सोचता हूँ, यह भी[3] उतना ही सत्य है कि मैं ही उसे इस प्रकार सोचता हूँ।

---

1. "This tautologous proposition that for a thing to be thought ture it is necessary that it should be thought, is however, commonly identified with the proposition that for a thing to be ture it is necessary that it should be thought." Principia Ethica, p. 132.
2. "When, therefore, I assert that it is true I mean to assert something different from the fact that I think so." Ibid, p. 132.
3. "What I think, namely, that something is true, is always quite distinct from the fact that I think it. The assertion that it is true does not even include the assertion that I think it so; although, of course, whenever I do think a thing true, it is a matter of fact, also that I do think it." Ibid, p. 132.

मूर का कथन उचित है। सत्य और शुभ दोनों ही वस्तुनिष्ठ हैं और उन सचेतन प्रक्रियाओं से भिन्न एवं स्वतंत्र हैं, जिनके द्वारा वे ज्ञेय हैं। किंतु मूर जब कांट को व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण के समर्थक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तब उनके कथन से सहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कांट ने दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में, जिस क्रांति का प्रारंभ किया था, उसका तात्पर्य एवं महत्व केवल इतना ही है, ऐसा कहना उचित नहीं प्रतीत होता। कांट तथा ग्रीन, दोनों ने ही व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण से सदैव अपने पार्थक्य को व्यक्त किया है, और इसमें भिन्न मत रखने का प्रश्न ही नहीं उठता।

कांट तथा ग्रीन के तात्विक विचारों की पुष्टि तथा इस प्रकार की असहानुभूतिपूर्ण आलोचना से उनकी रक्षा करना, वर्तमान में हमारा प्रयोजन नहीं। निःसंदेह यथार्थवादी दृष्टिकोण-जिसके आधुनिक युग में प्रमुख समर्थक मूर हैं, अध्यांत्मवादी दृष्टिकोण के साथ न्याय करने में असमर्थ है। अतएव, तात्विक आचार नीति से संबद्ध वर्तमान खंड को और साथ ही इस अध्याय को इस विचार के साथ समाप्त किया जायेगा कि मूर की उक्त आलोचना, उचित नहीं और तात्विक आचार नीति के मूल तत्वों के विषय में, उनकी अबोधता का ही प्रकाशन करती है।

oo

अध्याय 9

नैतिक कसौटियाँ : अस्तित्ववादी चिन्तन में

–श्वेता त्रिपाठी

(i) सोरेन किर्केगार्ड-

अस्तित्ववादी अध्ययन के प्रस्थान-बिन्दु सोरेन किर्केगार्ड (1813-1855) ने अपने विषयीनिष्ठ चिन्तन के साथ-साथ वैयक्तिक बोध के तर्कों को लेते हुए नीति और नैतिक जीवन-शैली को मुखर किया। धर्मशास्त्र (Theology) से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त किर्केगार्ड ने अपनी अवधारणाओं के साथ ना केवल धर्मशास्त्र बल्कि दर्शन के क्षेत्र को भी नयी दृष्टि प्रदान किया।

'द कॉन्सेप्ट ऑफ आइरनी' (1841) नामक अपने शोध प्रबंध के बाद बहुत कम समय में ही 'आइदर/और' (1843), 'फियर एण्ड ट्रेम्बलिंग' (1843), 'रिपिटीशन' (1843), 'फिलॉसोफिकल फ्रेग्मेन्ट्स' (1844), 'द कॉन्सेप्ट ऑफ ऐन्ग्ज़ाइटी' (1844), 'स्टेजेज़ ऑन लाइफ्ज़ वे' (1845), 'कन्क्लूडिंग अन्साइन्टिफिंक पोस्टस्क्रिप्ट' (1846), 'क्राइसिस इन द लाइफ ऑफ ऐन ऐक्ट्रेस' (1848), 'द सिकनेसं अन्टू डेथ' (1849), तथा 'ट्रेनिंग इन क्रिश्चिर्येनिटी' (1850) जैसी पुस्तकों के साथ किर्केगार्ड महान चिन्तन के रूप में स्थापित हो गए।

किर्केगार्ड का चिन्तन वस्तुपरक दृष्टि को अपर्याप्त मानता है। –और चिन्तन या बौद्धिकता प्रायः वस्तुपरक ही होती है। प्रत्येक व्यक्ति चिन्तन करता है। यह चिन्तन एक भाषा, एक परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य में ही रखकर तय होती है। भाषा चाहे वो कोई भी हो उसकी अपनी सीमा होती है। अपनी सीमाओं के साथ वह व्यक्ति उस भाषा से वस्तु को प्रत्ययों में बाँधने की कोशिश करता है। उसके बाद वह समझता है कि उसने उस वस्तु के साथ न्याय कर दिया है। जबकि वास्तविकता यह है कि जिस भाषा से उसने अपने मन को अभिव्यंजित किया, वही जब उसे अपनी सीमाओं के कारण पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दे सकी- तो अनुभूति से अभिव्यंजना के बीच का फर्क कैसे अभिव्यक्त प्रत्यय के रूप में आकर अनुभूति के साथ न्याय कर सकता है? इटली के महान विचारक बेनेदोते क्रोचे भी मात्र अभिव्यंजना को ही पूर्ण भाव प्रकाश्य मानने से इंकार कर देते हैं। भाषा के इन तर्कों के साथ यह भी कि-क्या जो कल्पित किया गया है वही वस्तु का निष्कर्ष होगा ? वह वस्तु क्या उतनी ही मौजूद है जितना वह व्यक्ति उसे सोच पाया है या अपने कल्पित प्रत्ययों के साथ बोध कर पाया है? यदि नहीं तो वस्तु को एक

निश्चित प्रत्यय में बाँधना क्या उसके साथ न्याय करना है?

परिकल्पनात्मक दर्शन भी इसी प्रकार संपूर्ण विश्व को प्रत्ययों में बाँधना चाहता है। वह बुद्धि को सर्वोपरि मानता है। बुद्धि के आधार पर वह संपूर्ण विश्व के स्वरूप को समझना चाहता है। विश्व को इस प्रकार प्रत्ययों में बाँधने की कोशिश करता है कि लगने लगे-जितना यह विश्व है, उतना हमने जान लिया है। इसमें जो कुछ भी छिपा हुआ था, वह अब इतना समझा जा चुका है कि हम अपने अभिव्यक्त प्रत्ययों के साथ ना सिर्फ इसे खोल सकते हैं, बल्कि अपने मेज पर ही इसे इन प्रत्ययों के माध्यम से पूरा देख सकते हैं। किर्केगार्ड के अनुसार हेगल दर्शन के इस स्वरूप को परिपूर्णता प्रदान करते दिखते हैं। हालांकि किर्केगार्ड हेगेल के विकास की प्रक्रिया को मानते हैं; लेकिन वो यहीं तक नहीं रूकते। हेगेल की युक्ति 'सत्‌बौद्धिक' है-जो विश्व को पूर्णतः जानने के बाद रूक जाती है। इसके बाद कुछ भी और जानने को शेष नहीं रह जाता। जबकि प्रश्न उठता है कि क्या विश्व के बाद और कुछ भी मौजूद नहीं हैं? क्या विश्व ही समझ की आखिरी सीमा है?-सत्य तो यह है कि इसके बाद भी बहुत कुछ है जो बुद्धि की सीमित व्यापकता के दायरे से बाहर है। इतना ही नहीं यह भी हम कैसे मान लें जितना बुद्धि ने इस विश्व को समझा है-यह उतना ही मौजूद है? जब इस प्रकार से असमर्थ बुद्धि अपने प्रकाश्य होने के क्रम में अधूरी ही अभिव्यक्त होती है, तो यह अधूरा प्रकाशन किस तरह से व्यापक विश्व को कुछ प्रत्ययों में बाँध सकता हैं?

किर्केगार्ड सत्य को इसी कारण हेगेल के सत्‌ बौद्धिक युक्ति से आगे ले जाते हैं। ब्रेडले के समान ही किर्केगार्ड भी बुद्धि के प्रयोग की सीमायें और उसके द्वारा जीवन को स्पर्श करने की कृत्रिम शैली की बात उठाते हैं। बुद्धिपरक दृष्टि की इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही किर्केगार्ड आत्म-परक दृष्टि को विकसित करने का आह्वान करते हैं। आत्मगत दृष्टि में सत्य के प्रति मात्र ज्ञान-प्राप्ति की तत्परता ही नहीं रहती, बल्कि सत्य को आत्मसात करने की प्रबल आकांक्षा समाहित रहती है, उस किनारे तक पहुँचने की लालसा होती है, जिससे सम्पूर्ण जीवन प्रभावित होने लगे। किर्केगार्ड इस आत्मपरक दृष्टि को जिन मानवीय चेतना के आयामों के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं वे हैं नैतिक तथा धार्मिक। व्यक्ति का जीवन ही यदि किसी सत्य को पूर्णतः आत्मसात करने में लगे, तो निश्चित रूप में उसमें उस व्यक्ति की आंतरिकता भी जुड़ी हुई है। क्योंकि आत्मसात करने की या अन्तर्निहित करने की ऐसी प्रक्रिया जिससे सम्पूर्ण जीवन ही प्रभावित होने—आंतरिक संलग्नता के बिना संभव ही नहीं है। और हृदय कहीं-न-कहीं एक आस्था से जुड़ा होता है। फिर चाहे वो आस्था समाजबद्ध हो या फिर

फिर व्यक्ति ने खुद से अपने लिए गढ़ा हो, प्रत्येक स्थिति में आंतरिक चेतना की उपस्थित अनिवार्य है। आंतरिक चेतना की इस सुनिश्चित संलग्नता में बनी आस्था निश्चित रूप से उस व्यक्ति के नैतिक और धार्मिक पक्ष का प्राथमिक और प्रबल निर्माण करती है। यही कारण है कि अंतरंग चेतना से जुड़ती आत्मपरक दृष्टि की बात करते हुए किर्केगार्ड मानवीय चेतना के नैतिक तथा धार्मिक आयामों को प्रमुखता से स्थान देते हैं।

पुनः किर्केगार्ड की आत्मपरक दृष्टि में उपस्थित 'सत्य' पर लौटें तो-सत्य विषयनिष्ठता है-अपनी विषयनिष्ठ दृष्टि के साथ किर्केगार्ड इस बात को अनेक संदर्भों के साथ पुष्ट करने की चेष्टा करते हैं। उनका मानना है कि किसी एक बात को ही हम सत्य नहीं कह सकते। इसके लिए किसी व्यक्ति द्वारा उसकी अंतरंग चेतना की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ स्वीकृत संकल्प या जीवन-शैली ही 'सत्य' हो सकता है। किसी एक निर्धारित मापदंड पर खरा उतरता सत्य ही सत्य नहीं है। बल्कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक स्वीकृत हो सकता है। यह सत्य उसके नैतिक जीवन का उत्तरदायी है। यहाँ किर्केगार्ड हेगेल के उसी बुद्धिपरक दृष्टि को केन्द्र में रखकर बात करते हुए दिखते हैं-जिसमें बुद्धि द्वारा स्थापित सत्य ही अंतिम सत्य तय हो जाता है। जबकि यह सत्य के कई रूपों में एक 'सत्य' ही होता है। अतः कोई एक सत्य निर्धारित कर उसे प्रत्यय में नहीं बाँधा जा सकता। व्यक्ति इसी कारण किर्केगार्ड के यहाँ अपने-अपने सत्य के साथ स्वीकृत है। इस प्रकार किर्केगार्ड का व्यक्ति किसी भी बाह्य कसौटी के आधार पर तौला नहीं जा सकता। ना ही वह किसी केन्द्रीय प्रतिबद्धता के अनुसार चलने को बाध्य है। बल्कि प्रत्येक वस्तु के प्रति उसकी अपनी सोच है, जिन्हें वह अपने प्रत्यय में ढालता है। किन्तु इसके साथ ही यह भी कि उसे अपने से इतर व्यक्ति को चिन्तन को अस्वीकार करने का अधिकार भी नहीं है। किर्केगार्ड इसी आधार पर मानवीय स्वतंत्रता को उठाते हुए व्यक्ति को तभी स्वतंत्र मानते हैं जब उसे अपनी दिशा चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। यह दिशा कोई जरूरी नहीं कि सभी व्यक्तियों की एक जैसी ही हो। किर्केगार्ड का मानना है कि हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ किसी भी दिशा का चुनाव आप्त है, सही है। मानवीय व्यवहार की इसी आप्तता के साथ किर्केगार्ड अस्तित्ववादी दर्शन में प्रेरणा-स्रोत बनते हुए इसे प्रमुख स्वर दे जाते हैं।

आप्त दिशा के इस चुनाव के संबंध में किर्केगार्ड के चिन्तन का अध्ययन यह प्रश्न खड़ा करता है कि यह कैसे मान लिया जाए कि जो दिशा चुनी गई उसमें व्यक्ति मनमानी नहीं करेगा। किर्केगार्ड यहाँ अपनी जीवन-शैली चुनने को स्वतंत्र व्यक्ति से अपेक्षा करते हैं कि वह उस चयन संबद्ध दायित्वों को हृदय की पूरी निश्छलता और समर्पण के साथ स्वीकार करे। इस अपेक्षा के बाद किर्केगार्ड

अपने चिन्तन में व्यक्ति को यह छूट भी देते हैं कि यदि वो चाहे तो अपने चुने जीवन-शैली को छोड़कर दूसरे में छलांग भी मार सकता है। किर्केगार्ड के यहां यह 'छलांग' किसी भी तार्किक आधार से मुक्त होता है और पुनः हृदय की प्रतिबद्धता से जुड़ा होता है। व्यक्ति की यह 'छलांग' तभी संभव हो पाती है, जबकि वह दूसरे के लिए भीतर से पूर्णतः तैयार हो चुका है। यही कारण है कि उसकी यह स्वीकृति किन्हीं वस्तुपरक तार्किक आधारों की अपेक्षा नहीं करती। ये आधार वस्तुतः मनौवैज्ञानिक हैं और एक-एक जीवन-शैली के भीतर से गुजरते हुए व्यक्ति के संघर्षों, उसके भावों एवं संवेगों, उसकी प्रतिक्रियाओं के साथ बनते-बिगड़ते हैं। किर्केगार्ड आइदर/और नामक अपनी कृति में इनका गहरा विवेचन करते हैं।

किर्केगार्ड इस प्रकार सीधे-सीधे कांट के बौद्धिक प्रतिमान से अलग एक नैतिक प्रतिमान खड़ा करते हैं, जहाँ व्यक्ति ही केन्द्र में प्रतिष्ठित है। यह व्यक्ति कांट के सार्वभौम, निर्विकार सत् के समक्ष तिरोहित होने वाला नहीं बल्कि स्वयं द्वारा संचालित एक ऐसा अस्तित्व है, जो पूर्णतः अपनी अस्मिता की खोज में रत है-और अपनी इस खोज में उसे किसी बाह्य निर्देशन की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि वह सभी बंधे प्रत्ययों से मुक्त है। उस अनुभूति को जब प्रतीकात्मक बना कर सोचा ही नहीं गया, तो अभिव्यक्त प्रत्यय के द्वारा समाज की सदस्यता-निर्धारण-प्रक्रिया से जुड़ने की भी आवश्यकता उसे नहीं पड़ती। और इस प्रकार से व्यक्ति वहाँ अपने 'एकाकीपन' के साथ खड़े होकर स्व का बोध करता है। सामान्य से भिन्न यह व्यक्ति इस प्रकार सबसे सहज जीवन जी पाता है। क्योंकि वह अपने अनुसार अपना जीवन जीने को स्वतंत्र है और इस 'अपने' में उसका स्व भी संतुष्ट है।

किर्केगार्ड व्यक्ति को जब ऐसी स्वतंत्रता देते हैं, तब वो अपनी स्वतंत्रता में कौन-सी दिशा चुनते हैं? किर्केगार्ड मूलतः धार्मिक प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति थे। यीशू के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। यही कारण रहा कि उन्होंने ईश्वर के लिए अपनी प्रेमिका रेजिना ऑल्जेन से सगाई होने के बाद भी उसे छोड़ दिया। रेजिना से उन्हें गहरा लगाव था। लेकिन एक जीवन-शैली से दूसरी में 'छलांग' ने उन्हें रेजिना से ईश्वर की ओर मोड़ दिया और हृदय की प्रतिबद्धता के द्वारा यीशू के प्रति उन्होंने अपनी आस्था व्यक्त की।[1] यहाँ वे ऐब्राहम के उदाहरण को लेकर चलते हैं-जिसने ईश्वर के प्रति अपनी आस्था के कारण ही बिना किसी अविश्वास

---

1. "By my own strength I am able to give up the Princess, I shall not become a grumbler, but shall find joy response in my pain, but by my won strength I am not able to get her again. For I am employing all my strength to be resigned. But by faith, says that morevellous knight, by faith I shall get her in virtue of the obsured." Translate Note fear trembling walter Lowrie. P128

के ईश्वरीय आदेश का पालन करते हुए अपने सबसे प्रिय पुत्र की बलि देने में भी कोई संकोच नहीं किया-और इतने आस्थावान ऐब्राहम को इसी कारण सबकुछ दे दिया, वह पुत्र भी जिसकी मोरेन पर्वत पर बलि देनी थी। किर्केगार्ड ने ऐब्राहम के इसी उदाहरण के साथ रेजिना को छोड़ा और अपनी आस्था के साथ विश्वास व्यक्त किया कि जिस प्रकार ऐब्राहम को उसका पुत्र वापस मिल गया उसी प्रकार रेजिना भी वापस मिल जाएगी। किन्तु जब वापस शहर लौटने पर उन्हें रेजिना के विवाह की खबर मिली तो उसके वापस मिलने की उनकी आशाएं तो ध्वस्त हुई ही साथ ही उनके मन में यह हीन भावना भी बैठ गई कि उनकी आस्था में कहीं कुछ कमी अवश्य थी जिसके कारण उन्हें उनकी प्रिया रेजिना, जो उनके लिए संपूर्ण विश्व का प्रतीक थी (ध्यान रहे कि ईश्वर के लिए किर्केगार्ड संपूर्ण विश्व को छोड़ने की बात कहते हैं हुए यीशू के लिए रेजिना का त्याग कर देते हैं) वापस नहीं मिली।

इस प्रकार अपनी आस्था के विरोध में किर्केगार्ड 'नाइट ऑफ फेथ' का चित्र प्रस्तुत करते हैं, जिसकी ऊँचाइयों को वे प्रस्तुत तो.कर सकते हैं पर जिन्हें वे स्वयं प्राप्त करने में असमर्थ हैं। अपनी आस्था के बारे में वो मानते हैं कि उन्होंने इस आस्था से एक ही तरफ का रास्ता तय करने में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने जीवन से अपरिमित सत्ता तक के रास्ते को तो तय कर लिया है, किन्तु पुनः जगत्-वापसी के रास्ते को तय करने में वे असफल रहे हैं। अतः उनका त्याग और ईश्वर के प्रति उनका विश्वास अधूरा है। जबकि 'नाइट ऑफ फेथ' ने तो वापसी का रास्ता भी उसी सहजता से तय किया है। इस प्रकार वह आस्थावान होकर भी अंततः संपूर्ण विश्व से जुड़कर जीवन को भरपूर जीता है। किर्केगार्ड यहाँ 'नाइट ऑफ फेथ' के साथ 'नाइट ऑफ इनफाइनाइट रेज़िग्नेशन' का चित्र भी प्रस्तुत करते हैं।

'नाइट ऑफ रेज़िग्नेशन' एक ऐसा व्यक्ति है, जो ईश्वर के प्रति शरणागत हो चुका है और पुनः जीवन से सहजता के साथ संयुक्त नहीं हो पाता। वह सामान्य व्यक्तियों से बिल्कुल अलग दिखता है। उसने अपनी इच्छाओं को पूर्णतः छोड़ दिया है। यही नहीं हृदय के अन्यतम साध्य तक का उसने ईश्वर के सामने पूर्णतम परित्याग कर दिया है। उस साध्य को पुनः प्राप्त करने की वह कोई आशा भी नहीं रखता, किन्तु यह भी वह उसे पूर्णतः विस्मृत भी नहीं कर पाता। चाहे उससे जुड़ी स्मृतियां कितनी ही दुखद क्यों न हों, पूर्ण विस्मृति उसके लिए असंभव है। वह उसके अन्तस् में कहीं-न-कहीं छिपा रहता है। यह अलग बात है कि अब वह उसे पाने की कामना भी नहीं करता। इस प्रकार वह अपने त्याग की गरिमा को बनाए रखते हुए ईश्वर में संपूर्ण आस्था के साथ संतुष्ट रहता है। वह उस अपरिमित सत्ता के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए यह मान लेता है कि मानव कभी भी उस शाश्वत के समान

नहीं हो सकता। अपनी इस आस्था के साथ ही वो पूर्णतः संतुष्ट रहता है और इससे आगे की संभावना को असंभव मानते हुए स्वीकार करता है कि मनुष्य इससे आगे अपने प्रयासों द्वारा कभी पहुँच भी नहीं सकता।[1]

जबकि, 'नाइट ऑफ फेथ' का व्यक्ति उपर्युक्त उदात्त, भिन्न मानव से अलग एक सामान्य मानव जैसा दिखता है। वह मानवीय संभावनाओं से आगे बढ़ता हुआ असंभव को भी संभव बना देता है। ईश्वर को जो कुछ भी उसने अर्पित किया है, वह सब उसे वापस मिल जाता है। यह व्यक्ति खोने-पाने से कभी विचलित नहीं होता। उसके लिए दोनों ही बराबर हैं। जिस सहजता के साथ वह त्याग के लिए तत्पर होता है, उसी सहजता के साथ वह उस वस्तु को प्राप्त भी कर लेता है। उसे देखकर कभी भी महसूस नहीं किया जा सकता कि उसके जीवन में कभी कोई व्यवधान भी आया था।[2] वह व्यक्ति इतने महान आचरण के बावजूद सामान्य जनों की तरह ही रहता है। वह उसी प्रकार खाता, पीता, सोता है जिस प्रकार व्यक्ति रहता है। उसके मन में सामान्य मनुष्य से अलग दिखने की कोई कामना भी नहीं होती। वह सभी जीवनबद्ध नैतिक-दायित्वों को एक ही 'छलांग' में पार करते हुए उस परम सत्ता में तल्लीन हो जाता है जिसे उसने अपनी स्वतंत्रता के साथ चुना है। उस परम सत्ता के प्रति उसके इस समर्पण के बाद उचित-अनुचित का कोई भी द्वंद्व उसके अंदर नहीं रह जाता। वह जो कुछ भी करता है, उसके पीछे उसी सत्ता के प्रति उसका समर्पण निहित होता है और इसी के साथ वह अपने इस कर्त्तव्य के प्रति पूर्णतः आश्वस्त भी होता है। इसी कारण वह अपने किसी भी कार्य के लिए अनिश्चितता से भरा नहीं होता। केवल एक सत्ता के प्रति उसके इस एकाग्र समर्पण भाव के नाते ही वह अन्य किसी भी विचलन से विचलित नहीं होता और इसी कारण वह उस ईश्वर को बड़ी सहजता के साथ अपना सबकुछ आर्पित कर देता है।

---

1. "Spiritually speaking everything is possible, but in the world of the finite there is much which is not possible. This impossible, however, the knight makes possible by expressing it spiritually but he expresses it spiritually by waiving his claims to it. The wish which could carry him out into reality, but was wrecked upon the impossibility is now bent inward, but it is not therefore, lost, neither is it forgotten." Ibid P.123
   "He recollects her in an eternal sense". "He has comprehended the deep secret that even in loving another person one must be sufficient into himself." Ibid, P.124
   One, "who has made the act of resignation infinitely is sufficient into himself. The knight does not annul his resignation, he preserves his love just as young as it was in the first moment, he never lets it go from him, precisely because he makes the movements infinitely....." Ibid, P.124
2. "Why he looks like a tax-collector 'he belongs entirely to the World, no Phillistine more so one can discover nothing of that aloof. Superiors nature. "Where by one recognises the kinght of the infinite." Ibid P.119

किर्केगार्ड मानते हैं कि इस कोटि का व्यक्ति मात्र ऐब्राहम ही दिखता है। वह कहते हैं कि ऐब्राहम का त्याग अपने आप में अनूठा उदाहरण हैं, जिसकी कल्पना मात्र से मैं हिल जाता हूँ क्योंकि यह मानवीय शक्ति से बिल्कुल परे है और किसी भी दशा में संभव नहीं है।[1] वह तो एक ऐसे अतिशय प्रतिभावान व्यक्ति के द्वारा ही संभव है जो ईश्वरीय शक्ति से इस प्रकार जुड़ा है कि उसके लिए कुछ भी संभव हो चुका है। जब भी मैं उसके त्याग को याद करता हूँ तो मेरा हृदय़ उसके प्रति असीम श्रद्धा से आप्लावित हो उठता है।

किर्केगार्ड का यह व्यक्ति मनुष्येतर मनुष्य है, जो स्वयं उनके शब्दों में अपने में एकांकी है। किर्केगार्ड स्वयं ऐसे पुरुष को विस्मय की दृष्टि से देखते हैं, उसके प्रति नतमस्तक होते हैं किन्तु उस जैसा बनने की शक्ति नहीं जुटा पाते।[2]

नैतिक से भी कहीं अधिक उदात्त और वंदनीय यह व्यक्ति अपने अप्रतिम स्वरूप के साथ समझ की परिधि से पूर्णतः बाहर है। इसी कारण इसे बौद्धिक चर्चा का विषय नहीं बनाया जा सकता है। यही पर किर्केगार्ड प्रेरणागत आस्था को भी लाते हैं जिस पर चलने वाला व्यक्ति भीषण से भीषण त्रासदी का वरण कर सकता है पर उसे इस बात का कभी भी एहसास नहीं हो सकता कि वह पूर्णतः एकांकी है और उसके विश्वास को समझने की शक्ति किसी में भी नहीं है। इसी नैतिक आस्था के सहारे हम सभी जीवन व्यतीत करते हैं, जो अपने प्रेरणामयी होने के साथ-साथ मूल्यवान है। इस नैतिक आस्था के अनुसार व्यतीत जीवन श्लाघनीय भी होता है जो राष्ट्र के व्यापक हित के लिए पारिवारिक दायित्वों को समर्पित कर देते हैं-ऐसे लोगों की स्मृति अपने मानस में संजोते हुए उसे आने वाली पीढ़ी के समक्ष आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं। और ये ही उदाहरण प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति में विद्यमान होकर राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण करते हुए संपूर्ण मानवता के लिए आदर्श बन जाते हैं।

किर्केगार्ड इन्हें 'ट्रैजिक हीरो' की संज्ञा देते हैं और 'नाइट ऑफ फेथ' से इन्हें पृथक करते हैं। किन्तु यह 'ट्रैजिक हीरो' अपने संपूर्ण उत्सर्ग के साथ ही संपूर्ण मानवता के समर्थन के साथ साहस और शक्ति भी पाता है, जबकि 'नाइट ऑफ फेथ' का जीवन पूर्णतः एकांकी होता है। वह अपने संपूर्ण उत्सर्ग के बावजूद सामान्य मनुष्य ही दिखता है। शेष सभी उसे विस्मय से देख तो लेते हैं, किन्तु इसे समझ सकने में वे भी सर्वथा अक्षम है।

---

1. This 'makes my heart swim' for it' is beyond human power. It is a prodigy 'a prodigious dread grips my soul for what is it to tempt God? bretall, R Kierkegaard anthology, rethes in Princeton, 1973, P.127
2. "He belongs entirely to the would, no philistino more so. One can discover nothing of the aloof superior nature whereby one recognises the knight of infinite resignation. Ibid p.119

किर्केगार्ड अपरोक्ष रूप से 'नाइट ऑफ फेथ' को ही अपनी आस्थापरक दृष्टि के साथ आदर्श रूप मानने को आह्वान करते हैं। उनकी दृष्टि में यही व्यक्ति अपनी उच्चतम स्थिति को प्राप्त करता है। यद्यपि इसने ईश्वर के लिए नैतिक जीवन का भी पूर्णतः त्याग कर दिया है, किन्तु यह व्यक्ति अपनी चुनी दिशा के प्रति पूर्ण आस्था के कारण इसे अन्तर्निहित कर चुका है, जहाँ पहुंचकर भक्त और ईश्वर का द्वैत भी समाप्त हो चला है। इस प्रकार से अपने में अद्वैत बन चुकी उसकी आस्था इतनी परिपूर्ण होते हुए भी पुनः उसे बुद्धिपरक प्रत्ययों में बांधने का कोई प्रयास नहीं करती। इसी वह महान होते हुए भी सामान्य दिखता है और बिना किसी अभिव्यक्त प्रत्यय के लगातार समझते रहने की गुंजाइश छोड़ देता है। विस्तार का अवकाश देता है।

किर्केगार्ड ने अपनी चुनी जीवन-शैली में ईश्वर के प्रति आस्था का मार्ग चुनते हुए भी 'नाइट ऑफ फेथ' तक न पहुँच पाने के बावजूद इसी कारण 'फियर ऐण्ड ट्रेम्बलिंग' में इसे समझते रहने का प्रयास किया है। महान अपरिमित सत्ता के प्रति उनकी आस्था दरअसल यीशू के उस स्वरूप से है, जिसमें यीशू ईश्वर के पूर्णावतार हैं। यहाँ किर्केगार्ड इन्हें एक ऐसे अस्तित्व के रूप में मानते हैं जो मानवीय नहीं है, बल्कि शाश्वत शक्ति का नर-रूप है-और यह बात बुद्धि की समझ में कैसे आ सकती है? इसीलिए आस्था का सहारा हमें लेना पड़ता है।[1]

आस्था को बुद्धि से परे कहते हुए किर्केगार्ड इसी कारण ईसाई धर्म को ऐतिहासिक दृष्टिकोण अथवा परिकल्पनात्मक दर्शन के दृष्टिकोण के तहत रखकर समझने के प्रयास के तर्क को खारिज कर देते हैं। वे मानते हैं कि इतिहास अपनी तमाम प्रामाणिकताओं के बावजूद स्थूल से ही हमें परिचित कराएगा। परिकल्पनात्मक दर्शन के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है। जबकि शाश्वत शक्ति को स्थूल रूप के साथ प्रमाणित कर देने से क्या वह समझ में आ सकती है? क्या इतने के बावजूद हम संतुष्ट होकर मान सकते हैं कि जिसे बुद्धि द्वारा अंतिम सत्य माना गया है, वह शाश्वत सत्य हो चुका है?

अस्तित्ववादी तर्क इसे पूरी तरह अस्वीकृत करता है। किर्केगार्ड यहाँ कहते हैं कि बुद्धि कभी भी यह नहीं समझ सकती कि जो शाश्वत एवं अपरिमित चेतना है, वह किस प्रकार एक परिमित कार्य में अपनी संपूर्णता में विद्यमान हो सकी?

किर्केगार्ड आगे ईसाई धर्म को सोक्रेटीज़ की सत्य संबंधी अवधारणाओं

1. "When the retreat out of existence into the eternal by way of rscollection is inpossible: when, with truth confronting the individual as a poradon, gripped in the anguish pain of sin, facing the tremendous risk of the abjective in security the individual belives. But without risk no faith, nor even the socratic form of faith, much less the form of which we have speak. Ibid, 219

से आगे बढ़ता प्रतीत मानते हैं। ईसाई धर्म सत्य की विषयनिष्ठता को मानते हुए बुद्धि का विरोध करता है। सोक्रेटीज़ के अनुसांर हम सत्य से अनभिज्ञ हैं, पर यदि हम अपने प्रयास द्वारा सत्य के प्रति समुचित ग्रहणशीलता रखें तो हम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। सोक्रेटीज अपने इसी विश्वास के साथ एथेंस के नवयुवकों की चेतना को सत्य की दिशा में सक्रिय करने के लिए सतत् प्रयत्नशील थे। जबकि ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य ने अपने ही कार्य द्वारा सत्य के पथ को पूर्णतः अवरुद्ध कर रखा है और कोई भी प्रयास उसे इस स्थिति से उबार नहीं सकता। अतः उसे एक मसीहा ही उबार सकता है-जो यीशू के रूप में प्राप्त हुआ है।

ईसाई धर्म किर्केगार्ड के अनुसार सत्य के साथ इसी कारण सोक्रेटीज़ से आगे बढ़ जाता है, जहाँ ईश्वर को ही सत्य मान लेने के बाद व्यक्ति के अंदर कोई भ्रम नहीं रह जाता। और वह सत्य क्या है जैसे प्रश्नों से उलझे बिना ही उसे पहचान कर बिना अपने को बिखराए एक दिशा पर ध्रुवित कर सकता है। यीशू के द्वारा शाश्वत सत्य के नर-रूप में इस अवतार को ही किर्केगार्ड गॉडमैन की कल्पना द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

गॉडमैन के रूप में जीसस क्राइस्ट को स्वीकार करने के साथ ही किर्केगार्ड ने दर्शन के क्षेत्र में एक नितांत नवीन कोटि का सृजन कर डाला है और वह है 'ऐब्सर्ड' की अस्तित्वपरक कोटि। ऐब्सर्ड के अपने अवधारणा के साथ ही किर्केगार्ड ने अस्तित्वपरक चिन्तन के द्वारा जड़ हो गए दर्शन के चिन्तन को नयी दृष्टि दी, जिससे न जाने विचारक प्रभावित हुए हैं।

ईश्वरपरक यह आस्था किर्केगार्ड द्वारा चुनी जीवनशैली थी, जिसमें वह पूर्ण स्वतंत्र से इतर दूसरे जीवनशैली को चुनने वाले लोगों को उन्होंने अस्वीकृत करने की बात कभी की भी नहीं। उनका मानना था तो सिर्फ इतना कि दिशा व्यक्ति के हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता से ही आप्लावित होनी चाहिए। यह कारण रहा किर्केगार्ड 'नाइट ऑफ फेथ' को आदर्श मानते हैं, जिसमें अपनी आस्था के प्रति एक संकल्पित और समर्पित भावना संलग्न है।

कुल मिलाकर यह कि किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी चिन्तन में नैतिकता बुद्धि के प्रत्ययों से परे हृदय को आधार बनाती है, जो निष्ठावान और आस्थावान 'मैजिस्टर किर्केगार्ड' की दृष्टि का भव्य दर्शन कराती है और अपने साथ सत्य की व्याख्या के नए रास्ते भी खोल जाती है।

(ii) कार्ल यास्पर्स-

अस्तित्ववादी दर्शन के दूसरे प्रमुख विचारक कार्ल यास्पर्स का चिन्तन किर्केगार्ड और नीत्शे से प्रभावित, किन्तु उससे आगे बढ़ता दिखता है। यास्पर्स सत्य को संप्रेषणीयता के आधार पर तौलते हुए आप्त संबंधी हमारी संभावनाओं को सक्रिय करने की बात उठाते हैं। यहाँ संप्रेषणीयता मात्र प्रत्यक्षगत व्यक्तित्व को ही नहीं, बल्कि

व्यक्तित्व में गहराइयों में छिपे पर्तों का भी साक्षात्कार करती है, उसे समझती है, आत्मसात करती है। यह संप्रेषणीयता बुद्धि की सक्रियता से न्याय करते हुए उससे आगे बढ़ने का आह्वान करती है। इसके साथ ही यह भी कि यह आगे बढ़ना तभी संभव है जब हम बुद्धि का विस्तार अतिक्रमित कर लें। यहाँ यास्पर्स अपरिमितता के अनंत विस्तार और बुद्धि के सीमित फैलाव को ध्यान में रखकर टॉर्च की रोशनी और अंधकार का उदाहरण देते हैं। यास्पर्स कहते हैं कि टॉर्च की रोशनी अँधियारे से हमें दूर करती हैं, क्योंकि जब भी हम टॉर्च से अँधियारे को प्रकाशित करने की चेष्टा करते हैं, तो वह अँधियारा अपना रूप बदल कर ही हमारे समाने पुनः-पुनः आ जाता है। पर, टॉर्च के एकबारगी बंद होने पर, यद्यपि कि हम अँधियारे को देख नहीं सकते जिस प्रकार से हम वस्तुओं को देखते-जानते हैं, हमें उसकी उपस्थिति का स्पष्ट एहसास जरूर होता है और इसके साथ ही हम अँधियारे को जैसा वह अपने में है-उसी रूप में मान लेते हैं। अतः अपरिमितता को जानने-समझने, उसे महसूस करने के लिए आवश्यक है कि हम अपने बोध का अतिक्रमण करें और उस असामान्य, अपरोक्ष बोध को निरंतर अपने में जाग्रत किए रखें। आप्त-अस्तित्व के स्तर पर जीने के लिए यह नितान्त आवश्यक है। वैसे भी बुद्धि अपनी तमाम प्रासंगिकताओं के बावजूद अपने उपलब्ध तर्कों के आधार पर प्रत्ययों के साथ सीमित हो जाती है। चाहे वह कितना भी प्रसार कर ले, अपने निष्कर्षों के बाद उसकी सीमा भी निर्धारित हो जाती है। जबकि अपरिमित बोध को अपने में बनाए रखने के लिए इस प्रकार की किसी भी सीमा से बाहर आना होगा। अतः बुद्धि के इस सीमित विस्तार का अतिक्रमण करना होगा। इसी को यास्पर्स पोतभंग (शिवरेक) की संज्ञा देते हैं। यानी जब बुद्धि रूपी पोत ध्वस्त हो जाता है, तभी हमें उस अपरिमितता का एहसास होता है, जो हमारे अस्तित्व का सही आधार है और जिससे हम पूर्णतः आप्लावित हैं।[1] यास्पर्स इसी क्रम में कहते हैं कि यदि हमें प्रकाश की अपने लिए महत्ता को भूल नहीं जाना है, तो हमें अंधियारे के एहसास को अपने भीतर बनाए रखना है। यहाँ यास्पर्स भाषा विज्ञान के संरचनावादी शब्द बाइनरीज (Binaries) के निकट आते दिखते हैं, जहाँ प्रत्येक शब्द का एक विपरीत शब्द मौजूद होता है और अपने इस विपरीत शब्द के साथ ही वह पूर्ण भी है अन्यथा उसकी सार्थकता संदिग्ध है। प्रकाश की पूर्ण सार्थकता अंधियारे के बिना कभी भी स्पष्ट नहीं हो सकती। इतना ही नहीं यदि अंधियारा न हो तो प्रकाश के बारे में हम भिज्ञ भी नहीं हो सकते। अतः प्रकाश का अस्तित्व अंधकार के कारण ही है और इसी प्रकार अंधकार भी प्रकाश के कारण अस्तित्व में है।

---

1. "Can we not be aware of this darkness as the limits of our light? The eye cannot literally see the dark, but is it not aware of it? And faspers would insists, we must be aware of that darkness if, we are not to forget what light means. W: rarle, Translator's introduction to Beason rxistenz, London, 1956, P.14

चूंकि यारपर्स किर्केगार्ड तथा नीत्शे के स्वतंत्र मनुष्य के चिन्तन से प्रभावित थे, अतः उन्होंने भी मनुष्य की निर्द्वन्द्व रूप से स्थापना पर जोर दिया। यास्पर्स भी दोनों के समान जीवन के अचिंत्य आयामों को चिन्तन के माध्यम से आलोकित करने का प्रयास करते हैं। यही उनकी दृष्टि में दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख उद्देश्य है। शेष सारा चिन्तन उपयोगी होते हुए भी निर्जीव और इसीलिए बेमानी होता है। यही कारण है कि यास्पर्स के चिन्तन में हमें किर्केगार्ड के इस विश्वास का जीवंत रूप देखने को मिलता है कि सत्ता विचार नहीं, आस्था है, प्रतिबद्धता है। जिस सत्य के लिए जिया न जा सके, जो जीवन को प्रभावित नहीं करता, वह लौकिक उद्देश्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकता है, पर आप्त अस्तित्व की अन्यतम संभावनाओं की दृष्टि से अर्थहीन होता है।

यास्पर्स अस्तित्वपरक बोध को बोध के परिचित रूपों से पृथक करते हुए कहते हैं कि इसमें जानने की प्रक्रिया अपने अन्तर्विषय से जुड़ीं रहती है। यहाँ जानने की यह समूची प्रक्रिया अन्तर्विषय में ही चलती रहती है, अतः उसे अलग करके देखने से अन्तविर्षय का ज्ञान ठीक-ठीक प्राप्त नहीं हो सकता। जबकि सामान्य चिन्तन में ये दोनों पक्ष अलग-अलग ही देखे जाते हैं। मात्र यही नहीं, जहाँ हम अन्तर्विषय को, उस अनुभूति को जानते होते हैं, वहाँ भी हम उनसे अपने अवचेतन में अलगाव रखते हैं। कहीं-न-कहीं से हम उससे पूरी तरह से अपनी दूरी बनाए रखते हैं। यही कारण है कि दूसरों का दुःख हम महसूस कर लेते हैं, उसका दर्द हमें भी पीड़ित करता है, लेकिन अपना और उसका अवचेतन में बैठा भेद हमें उससे तटस्थ किए रखता है। जबकि वही दुःख जब हम भोगते हैं तो हम उन अनुभूतियों को मात्र महसूस नहीं करते उन्हें जीते हैं। वहाँ हम सही-गलत के फेर में न पड़कर पूरी तरह उस दुःख में ही डूब जाते हैं। हमारा संपूर्ण अस्तित्व उस अनुभूति-विशेष में उसी दुःख-विशेष में रूपान्तरित हो जाता है।[1] यास्पर्स यहाँ पहुँचकर अस्तित्वपरक चिन्तन के माध्यम से 'अस्तित्व बोध? को उभारते हुए जानने की प्रक्रिया से जुड़े दो रास्तों की बात करते हैं। उनके अनुसार अस्तित्व बोध को हम इन्हीं दोनों के माध्यम से तय करते हुए प्राप्त कर सकते हैं जिनमें एक तो विश्व के अनुसंधान द्वारा अस्तित्व का अचिंत्य, अवस्तुपरक आयाम प्राप्त करना और दूसरा स्वयं अपने व्यक्तित्व की पर्तों को उलटते हुए इसका बोध

1. "When rxistenz understands itself, it is not like my understanding of another, not the sort of understanding whose contents can be abstracted from the person understanding, nor a sort of looking at, rather it is an origin which itself first arises in its own self-clarification. It is not like sharing in something else, but is at once the understanding the being of what is understood..... it is the difference between the love of another, which I understand but really understand, my own love, which I understand because I am that love." Ibid,p.63

करना। कांट के दर्शन के पश्चात् यह द्वितीय रास्ता ही उपयुक्त दिखता है। अतः अपने व्यक्तित्व की पर्तों को ही उलटकर देखने पर प्रथम दृष्टया तो हमें ज्ञेय प्रतीत होता है, पर जब हम इसमें गहरे उतरते जाते हैं, तब समझ में आता है कि दरअसल जो दिख रहा था, बात उतनी ही नहीं है। हम जितना अपने ज्ञेय रूप के साथ अपने को जानते हैं वह दरअसल हमारी ही बनाई एक सीमा है, जिससे हम अपने को ही पूर्णतः ज्ञात कर पाने से रोकते रहते हैं। मात्र यही नहीं, बल्कि अपने इस सीमित रूप के कारण हम विश्व में जो भी दूसरी इकाइयाँ मौजूद हैं उनके समान अपने ही लिए मनुष्य होने के उपरांत भी ज्ञानहीन हो गए हैं। अतः हमें अपने इस वस्तुगत बोध से, जोकि हमारे सीमित ज्ञान का उदाहरण है। ऊपर उठते हुए गहराई से अस्तित्वबोध के रास्ते को तय करना होगा जो व्यक्ति को सही अर्थों में अपने होने का बोध कराएगा।

यास्पर्स ने अस्तित्वबोध के इस रूप को 'परिव्याप्तता' जो हम हैं (Encompassing that we are) की संज्ञा दी है।[1] यह हमारे सभी वस्तुबोध का व्यापकतम आधार है, इसलिए इसे वस्तु-रूप में प्रस्तुत करना अनुचित है, असंभव है। यास्पर्स इस 'परिव्याप्तता' को समस्त सीमित बोधों के आधार के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके तीन विशिष्ट प्रारूपों की चर्चा करते हैं जिनके माध्यम से हमें इसका बोध होता है ये प्रारूप हैः-(1) इन्द्रियानुभविक अस्तित्व के माध्यम से इसकी प्रतीति (2) स्वयं अपने या 'विशुद्ध चिन्मात्र रूप में चेतना' के अधिष्ठान के रूप में उसकी स्वीकृति तथा, (3) आध्यात्मिक या चित चेतना के रूप में (Spirit) उसकी अभिव्यक्ति। ये प्रारूप एक दूसरे के पूरक होने के साथ-साथ अपने-अपने में विशिष्ट भी है। इसलिए यास्पर्स इन सभी की पृथक-पृथक चर्चा करते हैं।

---

1. "It is that in which all other things appear to us. In general, we donot appropriately cognize it as an object, rather we become aware of it as a limit. This is confirmed when we abandon the determinate. clear because objective knowledge which is directed to particular things distinguishable from other. Ibid, p.54

"The Encompassing never appears as an object in appearance, not as an explicit theme of thinking, therefore night seen to be empty. But precisely here is where the possibility for our deepest insight into being arises, whereas all other knowledge about being is merely knowledge of particular, individual being. Ibid, p.52

"........It moves by a reflexivity of knowledge instead of by some merely biologicopsychological process. Understood from within r' notcapable of being investigated as a natural object, spirit is always directed towards the universality of consciousness as such. But as spirit we are consciously related to everthing which is comprehensible to us. We transform the word ourselves into the intelligible which encloses totalities. As objects in this mode of the Encompassing we know ourselves from within as the one, unique, all embracing reality which is wholly spirit r' only spirit."Ibid. p.58

मनुष्य जब अपने दैनिक-स्वरूप के साथ इस धरती पर जन्म लेता है। फिर धीरे-धीरे जैसे वह बड़ा होता है उसका अनुभव-क्षेत्र भी विकसित होता है। वह अपने जैसे अन्य दैहिक-इकाइयों के साथ मिलकर अपने संसार का निर्माण करता है। किन्तु इसके साथ यह भी कि अपने अवचेतन में वह लगातार अपना उसका भेद बनाए रखता है। किन्तु प्रकृति जो इन दैहिक-स्वरूपों से इतर है, उसके लिए इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यही कारण है कि हम वस्तुपरक दृष्टि से अध्ययन करते हैं, तो हम प्रकृति के समझ में न आने वाले विशाल तंत्र में एक इकाई बन कर ही रह जाते हैं। इसके साथ-साथ हम अपने लिए भी उतने ही अपरिचित अपारदर्शी हो जाते हैं जितना कि प्रकृति-निर्मित हमसे इतर तंत्र। अपने लिए स्वयं की इस अपरिचितता के बावजूद हमें यह एहसास होता है हम एक परिव्याप्तता से जुड़े हुए हैं। कुछ है जो हमें ऊर्जावान करती है। हमें लगातार प्रेरित करती रहती है और यह भी कि इसी ने हमें दूसरी इकाईयों से भी जोड़े रखा हैं।

किन्तु अपने इस बोध के साथ यह भी सही है कि यह हमें हमारी सीमित बुद्धि से समझ में नहीं जा सकता। ना ही अपने तार्किक प्रत्ययों से हम इसे पकड़ सकते हैं। हमें इस अपरिमित आधार को बोध तो हैं, किन्तु इसे समझ पाना हमारे वंश की बात नहीं है। यास्पर्स ऐसे ही इन्द्रियानुभाविक अस्तित्व के माध्यम से परिव्याप्तता की प्रतीति की बात अपने पहले प्रारूप में करते हैं।

परिव्याप्तता के दूसरे रूप में हमें सार्वभौम चेतना के स्तर पर केवल इकाइयों की परस्पर सदृशताओं का ही बोध नहीं होता, बल्कि हम इकाइयों को एक जैसी ही देखना चाहते हैं। यहाँ वैविध्य-बोध का स्थान एकत्व-बोध ले लेता है। चिन्तन का यह आयाम मूलतः प्रथम से भिन्न है। यहाँ यह एकत्व-बोध, बोधगम्य है, किन्तु पुनः इससे कहीं अधिक व्यापक वह प्रदेश है, जिसे अभी सुस्पष्टता प्राप्त करनी है या फिर जो बागी है और उस परिधि में आना ही नहीं चाहता। यास्पर्स इसे ही चिंत्य है कि परिव्याप्तता कहते हैं और मानते हैं कि जो चेतना है उसकी परिधि पर खड़े होकर ही, उसकी सीमाओं का एहसास अपने भीतर जगाकर ही हम उस परिव्याप्तता का बोध अपने भीतर सक्रिय कर सकते हैं और यह भी कि यह बोध अमूल रूप से वस्तुगत बोध से भिन्न तो है ही, उसका अदृश्य, अचित्य आधार भी है।

परिव्याप्तता के तीसरे रूप में हम चित्त के संदर्भ को लेकर चलते हैं। यहाँ पहुँचकर एकत्व-बोध भी पूर्ण होता है। क्योंकि चित्त के स्तर पर हम सभी एक स्तर से युक्त हैं। ब्रेडले भी इसी बोध को व्यक्ति की चेतना के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं।

परिव्याप्तता के इन तीनों रूपों के बाद क्या हमें मान लेना चाहिए कि

ये रूप उस अपरिमित सत्ता के प्रश्न का समुचित समाधान देते हैं। दरअसल 'हम है' का जो नकारा नहीं जा सकता यह भी कि अपने सभी रूपों से हमने जो इस विश्व को जानने की समझ हासिल की है-वह इन सबसे व्यापक है। अतः अपने बोध के स्तरों के देने के बाद जब हम सारा आँकलन तय कर चुके होते है, तब अंततः हमें बोध की अपनी सीमा-रेखा पर खड़े होकर यह महसूस होता है कि इस बोधगम्य जीवन के बाद हमारे जीवन को चलाने वाली कोई और सत्ता है। यह सत्ता इन सभी बोधगम्य तर्कों से परे है और हमारे जीवन और बोध की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसके साथ यह भी कि इस सत्ता की उपस्थिति हमें तभी पता चलती है जब हम अपने बोधगम्य संसार की यात्रा तय कर लें।[1]

यहाँ तक पहुँचकर यास्पर्स सत्ता की अनुभूति को दो रूपों में विभाजित करते हैं। ये रूप हैं-जगत और अतिक्रमणता। यास्पर्स यह मानते हैं कि यदि वह सत्ता हमारे सभी बोधगम्य रूपों के बाद ही हमें अपनी उपस्थिति का एहसास देती हैं, तो निश्चित रूप से वह हमारे अनुभवों में स्थित है। यह अनुभव हमें जगत के रूप से प्राप्त होता है। अर्थात् सत्ता की उपस्थिति हम इस जगत के ही विभिन्न प्रसंगों में हम उसका अनुभव करते हैं। किन्तु जब हम अपने व्यक्ति अस्तित्व को लेकर सोचते हैं तो सत्ता का एक द्वितीय रूप भी हमें एहसास होता है। यहाँ पहुँचकर यह बात दिखती है कि यदि हमारा अपना अस्तित्व है, तो निश्चित रूप से हमसे पहले वह सत्ता है जो हमारे मूल में स्थिति होकर हमारी सभी गतिविधियों का संचालन करती है। यह हमारे साथ है, हमारे मूल में है-किन्तु हम इसे देख नहीं सकते, सुन नहीं सकते। हम उसे अपने समूचे बोध के बाद अपनी अंतिम सीमा-रेखा पर ही खड़े होकर उसका एहसास कर सकते हैं। भले ही वह एहसास अपने रूप के साथ हमें दिखाई न दे। यास्पर्स बोध के इसी भाव को अपने चिन्तन में गहराते हैं-जिसे वे सीमा रेखीय चिन्तन (Philosophiging of the limits) के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अपने एहसास के बावजूद सत्ता की यह परिव्याप्तता हमारे स्वीकृत आयामों के भीतर बंध नहीं सकती। अतः जैसी भी वह है, वैसा ही रूप हम कभी भी नहीं देख पाते। वह हमें हमारे भीतर होने का कारण एकत्व में महसूस होती है। किन्तु इसके साथ यह भी कि वह एक सर्वग्राही एकता है, जिसमें हम नहीं प्रत्येक इकाई का निजत्व प्रायः विस्मृत हो जाता है। वह ऐसी अंतहीन

1. "....this uncompassing which I am and know as empirical existence, consciousness as such and spirit, is not conceivable in itself but refers beyond itself. The uncompassing which we are is not being itself but rather the gennine appearance in the encompassing of being itself. This being itself which we feel as indicated at the limits, and which therefore is the last thing we reach through questioning from our situation, from our situation is in-itself the first. It is not made by us is not interetation, and is not an object rather it itself brings forth our questioning and permits it no rest."
Ibid p.59

परिव्याप्तता है, जिसमें सबकुछ समा जाता है, फिर भी जगह शेष रह जाती है। अतः ऐसी अंतहीन परिव्याप्तता को जगत में देख पाना संभव नहीं है। अतः हमें अपने व्यक्तित्व के ही भीतर गहराइयों में घुसना होगा। यास्पर्स व्यक्तित्व के इस तलीय स्वरूप को ही आप्त अस्तित्व कहते हैं और आश्वस्त करते हैं कि यहीं हम सत्ता का साक्षात्कार करने में सफल हो सकते हैं।

यास्पर्स आप्त अस्तित्व के इस अवधारणा में किर्केगार्ड के समान ही आत्मगत चिन्तन को ही आप्त दर्शन मानते हैं। यद्यपि यास्पर्स आप्त अस्तित्व के स्तर पर व्यक्ति की निजता का विलय नहीं होने देते। यहाँ सामान्य निजता और इस निजता में फर्क है। आप्त अस्तित्व के स्तर की यह निजता दरअसल ईश्वर की ओर उन्मुख होने वाली निजता है। यह व्यक्ति अपनी निजता के साथ यदि किसी के प्रति समर्पित होता है तो वह ईश्वर ही है।[1] अतः यास्पर्स के लिए यह आप्त अस्तित्व से भरा मनुष्य अपनी निजता और महान संभावनाओं के साथ मनुष्य कहलाने का सच्चा अधिकारी होता है। यह तलीय अस्तित्व बोध की जिस व्यापक प्रेरणा को दिखाता है उसमें जीवन और जगत को आलोकित करने की शक्ति निहित है। यास्पर्स के अनुसार यह प्रेरणा ही 'जीवन है' जिसने हमारी परिव्याप्तता संबंधी जिज्ञासाओं का उत्तर दिया है।

आप्त अस्तित्व से बना मनुष्य सत्ता का उन्मुक्त प्रकाशन करता है। वह अपने बोध के साथ उस सत्ता के निकट पहुँचाता है, जो प्रायः अंतहीन थी। सत्य के इस साक्षात्कार से ही भरा मनुष्य अपने होने को सही अर्थों में पहचान पाता है, क्योंकि वहाँ वह अपनी निजता से जुड़ी उस निजता का साक्षात्कार कर पाता है जो दरअसल उसके लौकिक अस्तित्व का आधार है। यास्पर्स का उद्देश्य प्रमुख रूप से सत्य का साक्षात्कार करने वाले इस बोध की महत्ता को ही जगाना है, जो मनुष्य के अंतरंग, अभिव्यक्त सभी भावों का समुचित समाधान कर सके। यहाँ अतिक्रमणता और आप्त अस्तित्व की अंतरंग संबद्धता को व्यक्त करते हुए यास्पर्स कहते हैं कि यह स्वतंत्र एवं स्वयंभू नहीं है। बल्कि वह इसी के माध्यम से अपनी सम्पूर्णता-यानि स्वयंभू रूप प्राप्त करती है। अतः यास्पर्स आप्त अस्तित्व के मूल के रूप में अतिक्रमणता को स्वीकार करते हैं।[2] यास्पर्स की यह स्वीकृति अपने

---

1. Spirit is the will to become whole, potential existenz is the will to be authentic. Spirit lets everything disappear & vanish into universality & totality....... existenz however is irreducibly in another, it is the absolutely firm, the irrex placeable, and therefore, as against all mere impirical, existenz, consciousness as such, and spirit, it is the authentic being before transcendence to which alone it surrenders itself without reservation..." Ibid, p62
2. "Existenz is also oriented toward another. It is related to transcendence through which it first becomes an independent cause in the would, for existenz did not create itself. Without transcendence, existenz becomes a sterile, lovelost and demonaic defiance. existenz, oriented to reason through those clarity it first experience unrest and the appeal of transcendence, under the needling questioning of reason first comes into its own authentic movement."Ibid p.67-68

में अस्तित्व की आप्तता को उद्घाटित करती है। इसमें "हम हैं-तो वह हैं" तर्क का क्रम जहाँ व्यक्त जगत को समझने के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिप्रेक्ष्य में रखना ही होगा और इस प्रकार उसके अस्तित्व का आधार बनाना होगा।

इस प्रकार परिव्याप्तता अपने विभिन्न रूपों के साथ ही सीमित अभिव्यंजनाओं का मूल है। चूंकि ये सभी अभिव्यंजनाएं अपने-अपने रूपों में संप्रेषित होती हैं, अतः यास्पर्स के अनुसार आंतरिक सत्य भी अंततः संप्रेषित होता है। यदि यह संप्रेषित नहीं होता, तो वह सत्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता। यही उसकी आप्तता की पहचान है, जिसके बिना वह भी मिथ्या से जुड़ जाता है। आगे यास्पर्स मनुष्य और पशु में अंतर स्पष्ट करते हुए मनुष्य को ईश्वर से जोड़ते हैं और उसके चेतन अस्तित्व को ध्यान में रखते हुए संप्रेषणीयता को ही मानवीय अस्तित्व का सार मानते हैं। सत्य भी है, मनुष्य की परिमित से अपरिमित तक की सम्पूर्ण यात्रा बिना उससे संप्रेषणीय हुए पूरी भी नहीं हो सकती। और वह भी कि जब तक उस तक संप्रेषित सत्य सम्पूर्ण मानवीयता में संप्रेषित नहीं हो जाता, तब तक अस्तित्व का सम्पूर्ण एकीकरण कैसे हो सकता है? अतः संप्रेषणीयता ना सिर्फ मानवीय अस्तित्व के असली पहचान से जुड़ा है, बल्कि इसके जीवन को विकसित भी करता है।

संप्रेषणीयता के सत्य के प्रारूप की बात करते हुए यास्पर्स आप्त-संप्रेषणीयता की बात भी करते हैं, जो निश्चित रूप से निजत्व के विलय से ही संभव है। किन्तु उसकी व्याख्या करने की बात असंभव है। अतः आप्त-संप्रेषणीयता प्रत्ययों में व्याख्यायित नहीं हो सकती। अतः इसके लिए पुनः अपने अस्तित्व का बोध होना आवश्यक है।

अतः स्पष्ट है यास्पर्स अपने नैतिक चिन्तन के अन्तर्गत अस्तित्व बोध और इसके से आप्त अस्तित्व की नीतिगत चर्चा करते हैं जो अन्ततः मनुष्य को उसी मूल सत्य से जोड़ता है और उसके होने को पूर्णतः सार्थक करता है। संदर्भवान् बनाता है।

(iii) ज्याँ पॉल सार्त्र (1905-1980)

ज्याँ पॉल सार्त्र (सन् 1905-1980) 20वीं शताब्दी के महानतम दार्शनिक माने जाते हैं। अस्तित्ववादी दर्शन के प्रमुख स्वर बने सार्त्र के महानतम योगदान को देखते हुए उन्हें 1964 का नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा की गई, जिसे उन्होंने अमान्य ठहराते हुए वापस लौटा दिया।

सार्त्र की कृतियों में नॉसिया प्रथम कृति है, जो 1937-40 के बीच उनके दार्शनिक निबंधों के साथ प्रकाशित हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान युद्ध-बंदी बनने के बाद सार्त्र अपने पहले बड़े ट्रीटाइज़ 'बीइंग ऐण्ड नथिंगनेस' (1943) के

साथ पेरिस वापस लौटे। अपने अस्तित्ववादी विचारों के साथ सार्त्र ने समूचे फ्रांस को प्रभावित किया 1945 में उन्होंने 'ली टेम्प्स मॉडर्न' (Le Temps moderne) पत्र प्रकाशित किया। इसी समय के आसपास सार्त्र की पुस्तक 'एक्जिस्टेन्श्यलिज्म ऐण्ड ह्यूमेनिज्म' और 'व्हॉट इज़ लिट्रेचर' भी आई। क्रिटीक ऑफ डायलेक्टिकल रीज़न (1960) के द्वारा सार्त्र ने मार्क्सिस्ट दर्शन का विश्लेषण किया। लगभग इसी समय सार्त्र द्वारा लिखी गई अस्तित्ववादी जीवनियाँ भी आई, जिनमें 'संत जेने' की जीवनी- जिसने अच्छाई और बुराई के बीच संबंधों की पड़ताल की थी-महत्वपूर्ण है। सार्त्र के अंतिम कार्य रहे 3000 पृष्ठों का गुस्ताव फ्लॉबर्ट के वैयक्तिक विकास और ऐतिहासिक कालक्रम को विश्लेषित करता 'फेमिली ईडियट' और बेनी लेवी के साथ किया गया कार्य 'होप नाउ'। अपनी इन महानतम कृतियों के साथ सार्त्र ने समूचे विश्व को एक नई प्रेरणा दी और दार्शनिक आयामों के महान शिखर को छुआ, जहाँ सार्त्र के बाद कोई नहीं पहुँच सका।

सार्त्र का संपूर्ण दर्शन उनके प्रमुख स्वर दुरास्था पर आधारित है। इसी के साथ उनके दर्शन के शेष सभी स्वर जुड़े हुए हैं। दुरास्था के ही माध्यम से हमें सार्त्र के 'आप्त-जीवन' की कल्पना भी उभरती हुई दिखलाई देती है। अतः सार्त्र की कृतियों की विवेचना के क्रम में 'दुरास्था' पर सर्वप्रथम ध्यान देना आवश्यक है।

मनुष्य जो कुछ भी करता है, विचारता है-निश्चित रूप से उसमें उसके समाज का, आसपास के परिदृश्य का प्रभाव होता है। उसके सभी क्रिया-कलाप, उसकी प्रतिबद्धताएं इस समाज के परिप्रेक्ष्य में खड़ी होती हैं। इसी क्रम में वह अपने आचार-विचार, रहन-सहन से सामाजिक नियमों का पालन करता है। उसकी यह सामाजिकता कई बार तो उस पर इतनी हावी होती है कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता में भी उस समाजिकता का शिकार होने लगता है।

सार्त्र यहाँ एक महिला के संदर्भ में उदाहरण देते हैं। महिला अपने प्रेमी के साथ पहली बार निकलती है। वह यह जानती है कि उसका इरादा क्या है। वह इस बात से भी पूरी तरह अवगत है कि शीघ्र ही उसे उसके संबंध में, अपने संबंध में निर्णय लेना होगा। पर संभावना को नज़रअन्दाज़ करते हुए वह केवल वर्तमान में जीना चाहती है और जो कुछ भी वह सुन रही है, उसके वह अर्थ इस प्रकार लगाती है, मानों वह व्यक्ति न होकर वस्तु-जगत् की इकाइयों, की भांति वस्तुमात्र है। वह उसमें उन सभी गुणों का आरोपण कर लेती है जो समाज में प्रतिष्ठित, सम्मानित व्यक्ति के गुण होते हैं। यानी वह व्यक्ति सरल प्रकृति का है और ईमानदार है और यह सब इसलिए कि वह उस समय कोई और बात सोचना ही नहीं चाहती। वह सच्चाई का सामना नहीं करना चाहती, क्योंकि तब उसके लिए अपने को इस स्थिति में बनाए रखना संभव न होगा। यहाँ व्यक्ति के भीतर

उसके लिए जो 'कामना' है, उसे उस रूप में न लेकर वह उसे एक ऐसा रूप देना चाहती है जिससे वह व्यक्ति उस कामना से सर्वथा मुक्त होता हुआ उदात्त की कोटि पर आसीन हो जाता है। इसी के साथ वह स्वयं अपने को भी एक उच्च बिन्दु पर आसीन करते हुए अपने शरीर के प्रति पूर्णतः निर्लिप्त हो जाती है। भूल जाती है कि वह एक शरीर है, ये उस व्यक्ति के हाथ हैं जो उस व्यक्ति के हाथों में हैं, कि इसका इस प्रकार होने का निश्चित अशं होता है। शरीर निर्जीव-सा एक वस्तु में रूपान्तरित हो जाता है और वह शुद्ध चेतना में स्थित होते हुए अपूर्व एवं विशिष्ट बातों की चर्चा करती है। व्यक्ति का इस प्रकार उदात्त की कोटि पर आसीन होने और समाज में सभी गुणों का आरोपण करना दोनों समाज के ही परिप्रेक्ष्य में तय होते हैं। अर्थात् एक महिला द्वारा अपने प्रेमी के साथ बिताये गये नितान्त वैयक्तिक क्षण से भी समाज-प्रभावित होने लगता है। जबकि स्वयं महिला ही अपने उस 'उदात्त प्रेमी' से, जोकि समाज के मानदंडों पर खरा है, एक अन्यतम प्रेमी की भी आकांक्षा रखती है जो पूरी तरह उस महिला के प्रति समर्पित हो। अपने प्रेमी को उदात्त रूप में देखने के बावजूद वह स्वीकार नहीं कर सकती कि उसका प्रेमी उसके निजी समय में कोई और कार्य करे। फिर भी वह महिला उस विशेष समय में जब उसे अपने प्रेमी के संबंध में निर्णय लेना है, उसे सामाजिक उदात्तता की कोटि में बांध कर देखती होती है। सार्त्र कहते हैं कि उस महिला का यह संपूर्ण व्यवहार एक छद्म है-अपने प्रति किया हुआ छल-ताकि वह निर्णय लेने की कटु जिम्मेदारी से अपने को बचा सके। दुरास्था एक ऐसी विशिष्ट स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने ही जीवन के दो विरोधी पक्षों को एक साथ इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह सरलता से एक से दूसरे की ओर अग्रसारित हो सकता है और जीवन के कटु यथार्थ से निर्णय लेने की बाध्यता से पलायन कर सकता है।[1]

दुरास्था, इस प्रकार वह दशा है जिसमें हम अपने को वह बनाए रखना चाहते हैं जो वस्तुतः हम नहीं हैं। हम वस्तु नहीं हैं और न ही वस्तु की भांति हम अन्य लोगों से जुड़े हुए हैं। हम वस्तु में रूपान्तारित होकर सुरक्षित अवश्य महसूस करते हैं पर स्थायी रूप से इसी रूप को बनाए रखना हमारे लिए संभव नहीं है। जब भी हम सामाजिक नियमों से वस्तुतः संबद्ध होते अपने इस रूप के प्रति तटस्थ होते हैं तब हमें हमारी चेतना के अतिक्रामी स्वरूप का सहज बोध होता है। यहाँ महसूस होता है कि हम हैं पर जिस रूप में हम अपने को व्यक्त कर रहे हैं उससे अपनी एकात्मकता, अपनी स्वतन्त्रता का निषेध भी कर रहे हैं।-और इसी के साथ

1. Bad faith does not wish either to co-ordinate them nor to surmount them in a synthesis. It must affirm factility as being transcendence and transcendence as being factility, in such a way that at the instant when a person apprehends the one he can find himself, abruptly faced with the other- 'Nousea' p.56

अपने नितान्त निजी क्षणों में भी हम निजी-रूप में व्यक्त नहीं हो पा रहे हैं। सार्त्र इस प्रकार दुरास्था का रूप देते हुए कहते हैं कि यहाँ तक कि व्यक्ति की निश्छलता भी दुरास्था ही है। निश्छलता में व्यक्ति अपने प्रति सच्चाई बरतता है, जबकि दुरास्था में वह स्वयं अपने से छल करता है। फिर किस प्रकार वह निश्छलता दुरास्था है? दरअसल व्यक्ति का सरल होना भी इतना समाज-सापेक्ष्य है जहाँ उसका मैं इसी में इस प्रकार घुल जाता है कि उसकी निजता का पता ही नहीं चल पाता। तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि निश्छलता का भाव अपने में दुरास्था नहीं है?

यहाँ दुरास्था में चलते इस दोहरे जीवन में झांकने के बाद प्रश्न उठता है कि हम क्या बनना चाहते हैं, जो हम अभी नहीं हैं?

-इस प्रश्न का उत्तर हमें उसी समाज में उतरकर मिलता है, जिसने हमारे 'मैं' में अपनी मौजूदगी को पूरी तरह से व्याप्त कर दिया है। हम पूरी तरह से उस ढर्रे में जीने को विवश हैं, जो समाज द्वारा हमसे अपेक्षित हैं। हमारे कुछ निश्चित कार्य हैं जो हमें करने हैं और उन कर्मों के प्रति हम कृतसंकल्प हैं। हमारा प्रत्येक कार्य समाज द्वारा ही प्रभावित है। फिर हम कैसे मान लें कि जो कार्य हम कर रहे हैं-उनमें हमारा 'मैं' भी मौजूद हैं। यहाँ तक कि जो निश्चित कार्य हम करते हैं, वह भी हमारे इस 'मैं' का नहीं है। यहाँ अपने कार्यों की संलग्नता के साथ अपने होने का एहसास ही उस एक व्यक्ति को दुरास्था की दशा पर खड़ा कर देता है, जहाँ समाज-सापेक्ष्य निश्चित कार्य और अपने स्व की चेतना दो अलग मुहानों पर खड़ी होती हैं। यह सिद्ध करता है कि किसी भी व्यक्ति को पूर्णतः उन अधिकारों एवं दायित्वों में नहीं लिया जा सकता जिससे युक्त होकर वह समाज में कुछ बनता है और जाना जाता है।[1]

इस प्रकार व्यक्ति जब उन अधिकारों, दायित्वों को जीता है तो उस जीने के साथ ही वह उसकी परिधि से बाहर आता हुआ भी दिखाई देता है। वह दुनिया के साथ चलता हुआ अलग भी होता है। चेतना की यही सहज अतिक्रमिता मनुष्य को वस्तु-रूप-मात्र होने से बचाती है।[2]

यहाँ हम एक विद्यार्थी के उदाहरण द्वारा उपरोक्त चर्चा को समझ सकते हैं। एक विद्यार्थी बड़ी तन्मयता से अध्यापक के शब्दों को सुन रहा है। पर उसके लिए बहुत समय तक इसी स्थिति में अपने को बनाए रखना संभव नहीं है। वह

---

1. But if I represent myself as him, I am not he, I am separated from his an the object from the subject, separated by this nothing isolates me from him. I cannot be, I can only play at being him, that is imagine to myself to myself that I am he. Ibid p.60
2. As if from the very fact that I sustanin this role in escistence I didnot transend it on every side as if I did not constitute myself as one beyond my condition. Ibid p.60

वहाँ होते हुए भी वहाँ नहीं होता। सार्त्र की दृष्टि में उसका वहाँ होते हुए भी न होना महत्वपूर्ण है और इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि व्यक्ति यद्यपि वस्तु रूप में समाज में व्यवहार करता हुआ भी अनेक दिशाओं में उनका अतिक्रमण करता दिखता है। इस अतिक्रमण के पीछे उसका वह 'मैं' होता है जो प्रत्यक्ष दिखते 'मैं' से भिन्न है। यहाँ तक कि प्रेम जैसे आदर्श रूप में भी एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के जीवन की एकमात्र धुरी बनने की कामना करता है। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी चाहता है कि प्रेमिका के सामने उसकी स्वतन्त्रता अपहृत न हो। प्रेमी के ये दोनों ही भाव परस्पर एक दूसरे से उलट हैं। एक के निषेध में ही दूसरा स्थापित हो सकता है। अतः इस स्थिति में किसी भी आदर्श रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी एक स्थिति जिसे माना जाए कि यही वस्तुस्थिति है-सही नहीं है। इस दशा में मनुष्य के मानवीय संबंधों को बनाए रखने के प्रयास अन्ततः असफल ही होने हैं। अन्ततः उन सभी के बीच हमें उनसे-यानी स्वयं अपने से अलगाव की स्पष्ट अनुभूति होती है।

-सार्त्र का यह निष्कर्ष ऐसी स्थिति देता है, जहाँ आदर्श असंभव है। यह निष्कर्ष उनकी सत्तामीमांसीय दृष्टि.से जुड़ा हुआ है। जहाँ मनुष्य स्वतंत्र है। अपनी रक्षा के प्रति सतत सचेष्ट है। इसके साथ ही वह दूसरों की स्वतंत्रता को भी प्रभावित नहीं करना चाहता। पर सत्ता की आंतरिक संरचना की दृष्टि दोनों के बीच अस्थायी रूप से भी कोई भावात्मक संबद्धता संभव नहीं है। अतः अन्ततः यह मनुष्य के अलगाव की पुष्टि करता है।

सार्त्र की कृति नॉसिया दुरास्था के इसी बोध से परिचय कराता है। नॉसिया के प्रमुख पात्र रॉक्विन्टन के माध्यम से सार्त्र अस्तित्व यानी मनुष्य के होने को संदर्भित करते हैं।

रॉक्विन्टन ट्रैपकार में एक सीट पर बैठा हुआ है। तभी उसे लगता है कि यह सीट मात्र सीट ही नहीं है। इसे मात्र शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। अतः इसे सीट कहना बेमानी है। यह तो एक ऐसी सत्ता है जिसे शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। यह अपनी निजता में ही अस्तित्ववान् है। चूंकि शब्द एक जैसी अनेक वस्तुओं के लिए एक ही रूप में प्रयुक्त होते हैं; अतः वे किसी भी वस्तु की निजता को अनुदित करने में अक्षम हैं और यह निजता नितान्त ठोस न होकर तरल है और चारों ओर प्रसारित होती हुई दिखाई देती है।

रॉक्विन्टन की यह अनुभूति ही नॉसिया है; जहाँ पहुँकर ही रॉक्विन्टन को यह एहसास होता है कि जो भी अस्तित्ववान् है; वह नाम रूप में नहीं बंध सकता। अतः 'वह है' पर किस रूप में इसे प्रत्ययों में निर्धारित किया जा सकता। इस प्रकार हमें 'वह है' तो स्पष्ट हो जाता है, पर उसके नाम, रूप, रंग स्वरविहीन होने

के कारण हम उससे नितान्त अपरिचित होते हैं। इतना ही नहीं, जगत् की ये सभी वस्तुएं अग्राह्य तो हैं ही-उन्हें विमर्शात्मक चेतना से समझा नहीं जा सकता है। वे किसी अन्य प्रकार की अनिवार्यता के तहत भी उतनी ही अव्याख्येय हैं। अन्य शब्दों में, कोई भी निरपेक्ष सत् उनकी 'आकस्मिकता' या सांयोगिकता को अपनी परिव्याप्तता में विशेष रूप से समाविष्ट करने में अक्षम है।[1] इस आकस्मिकता की बिखरी अनुभूति से बचने के लिए ही मनुष्य ने ईश्वर और चर्च की स्थापना कर ली है, जो अंततः मनुष्य की कृत्रिम सार्थकता को ही प्रकट करता है। जबकि मनुष्य को अपना जीवन, जोकि पूरी तरह से उसका अपना ही है, अपने तरीके से ही जीना होगा। संस्थागत सामूहिकता में बंधता यह मनुष्य ही दुरास्था को व्यक्त करता है और चेतना की अतिक्रमिता के साथ अंत तक अव्याख्येय बना रहता है।

सार्त्र की कृति 'ट्राइलॉजी' का मुख्य पात्र डैनियल भी कभी कुछ रॉक्विन्टन की तरह ही है। वह भी चिन्तन की अद्‌भुत क्षमता वाला दार्शनिक है। किन्तु सत्ता की यथार्थता और उसकी निरपेक्ष अयुक्तता का उसका एहसास इतना प्रबल हो जाता है कि अन्ततः वह स्वयं एक केस हिस्ट्री बन जाता है। अपने जीवन को योजना के रूप में स्वीकार करता डैनियल इस प्रकार स्वयं से और संस्था से नियन्त्रण खोने लगता है।

इस प्रकार सार्त्र का दर्शन अपनी पूरी परिणति में परम्परागत मूल्यों का समर्थन नहीं करता उनके पूरे चिन्तन में जीवन की अयुक्तता का ही स्वर सामने आता है। जहाँ रॉक्विन्टन चाकू हाथ में लेकर ऑटोडाइडेक्ट की आँखों में चुभोने पर विचार करता हुआ उसकी मृत्यु और जीवन दोनों को बेमानी करार देता है, वहीं सार्त्र का एक पात्र मैथ्यू अपनी मृत्यु के समय कहता है-नहीं, किसी में कुछ सार्थकता नहीं है-न मृत्यु में और न जीवन ही में।

सार्त्र का यह दर्शन इस प्रकार कोई रास्ता न सुझाते हुए जीवन की अयुक्तता की अनुभूति देता है। यह अनुभूति सार्त्र को संवेदनशील व्यक्तित्त्व की नियति है। वे इससे ज्यादा जीवन से कुछ चाहते भी नहीं क्योंकि इससे ज्यादा संभव ही नहीं है।

नीतिशास्त्र की दृष्टि से देखें तो सार्त्र का दर्शन इस अयुक्तता के बोध

1. Everything is gratuitous that park. This town and myself. To enist is simply to be there. What enist appears, lets itself be encountered, but you can never deduce it there are people, I believe, who have understood that. Only they have tried to overcome this contingency by inventing a necessary causal being but no necessary being can explain existence; contingency is not an illusion, an appearance which can be dissipated, it is absolute, and consequently perfect gratuitousness; Ibid. p.188 also p.189, 90

में ही स्वतंत्रता को भी निहित करता है। जहाँ चेतना की अतिक्रमिता व्यक्ति की स्वतंत्रता के एहसास की पुष्टि करती है। यहाँ चेतना की विषयापेक्षिता का सीधा अर्थ यह है कि वह एक ऐसी सत्ता से जुड़ी हुई है, जो है पर उससे संपूर्णतः भिन्न है। सार्त्र की यही दृष्टि सत्तामीमांसीय दृष्टि के करीब जाती दिखती है जहाँ वस्तु है और वह जो है उस रूप में अपने को अनगिनत रूपों में अतिक्रमण करती है।

इस प्रकार सार्त्र के अनुसार यह संपूर्ण सत्तात्मक जगत दो प्रकार की भिन्न-भिन्न सत्ताओं में निषेधात्मक अनुभूतियों से जुड़ी चेतना का अतिक्रामी स्वरूप-जो मनुष्य के होने को सुनिश्चित करता दिखता है-में ही उसकी स्वतंत्रता निहित है।

चेतना की अतिक्रमिता एवं निषेधात्मकता के संदर्भ ही में सार्त्र कला एवं कला वस्तु के स्वरूप को रेखांकित करते है। यहाँ सार्त्र कालीन के लाल रंग का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि कालीन का रंग मात्र लाल नहीं बल्कि ऊनी लाल है और वह अपने संपूर्ण सजावट के कारण ही आकर्षक लगता है। अतः वह लाल रंग के कारण ही नहीं बल्कि अपनी पूरी सदृश्यता के कारण सुन्दर लगता है। यही कारण है कि मात्र लाल रंग और लाल रंग के कालीन में कालीन अधिक खूबसूरत है। कालीन की सदृश्यता को एकता में लेने के बजाय मात्र लाल रंग का सोचने से वह विकृत हो जायेगा और कालीन नहीं रह जाएगा। अतः चित्ताकर्षण की स्थिति के लिए हमें लाल को मात्र लाल की यथार्थ स्थिति से हटाते हुए संपूर्णता में देखना होगा। हमें यथार्थ का अपने संपूर्ण परिचित ऐन्द्रिक एवं स्थूल संसार का आमूलतः अतिक्रमण करते हुए उस संसार में प्रवेश करना होगा जो अपनी उन्मुक्तता, स्वतंत्रता में कल्पना की सर्जना का संसार है। इस प्रकार यह सिद्ध करता है कि मात्र यथार्थ में ही सौन्दर्य को स्थापित करना बेमानी है।'[1]

किन्तु यहाँ यह भी कि जब हम इस कल्पना से यथार्थ की तरह वापस लौटते हैं तब हमें भीतर कहीं बेचैनी का झुकाव होता है। सार्त्र मानते हैं इस बेचैनी के पीछे कारण है कि हमें कहीं कुछ अमूल्य खो देने जैसा लगता है। यही कारण है कांट एवं शोपन हावर जैसे दार्शनिक ने सुन्दर एवं उदात्त को स्पष्टतः लोकोत्तर माना है। सार्त्र भी अपनी कृतियों में सौन्दर्य की अनुभूति को कल्पना के संसार में पाते हैं। नॉसिया में शक्विन्टन का दुःख कैफे परिचायिका मैडलिन के संगीत से हल्का होता है। इसे सुनते हुए सहज ही उसे संगीत की अपनी पीड़ा में निर्विकार होने की अनुभूति होती है। वह महसूस करता है कि सही है कि वह स्वरों

1. It is beyond something. beyond a voice, beyond a violin note. It has nothing super fluous and I too have wanted to be..... to drive existence out of one to empty the moments of their fat to loring them, to dry them, to purity myself to harden myself, to produce in short, the sharp, precise sound of a senophone note.
Nausea p.248

के अनुनाद से अपने को उद्घाटित कर रहा है, पर इन सभी के एक अदृश्य अस्तित्व के रूप में उसे न देखा जा सकता है और न सुना जा सकता है।

यही सार्त्र विचार करते हैं कि ऐसे ही अस्तित्व की चाह वो करते रहे हैं जो अपनी विशिष्ट लय और गति के साथ कालातीत हो और अपने में संपूर्ण, अछूती और विशिष्ट स्वप्निल आभा से आलोकित हो।[17] सार्त्र के दर्शन का मूल यहीं से है जहाँ जगत जिस अस्तित्व का प्रतीक है उस पार्थिवता के निषेध ही में चेतना अपने संसार का निर्माण करती है। एक के निषेध के साथ दूसरे की स्वीकृति में ही सृजित होता है।

अंततः सार्त्र का सम्पूर्ण दर्शन दुरास्था के मूल बिन्दु के साथ दो भिन्न सत्ताओं के आपसी सामंजस्य की स्थापना में आकार लेता है और अस्तित्ववादियों के स्वर को अपने पक्ष के साथ मुखर करता है।

(iv) अल्बेयर कामू-प्रत्येक व्यक्ति अपने युग से प्रभावित होता है। उसकी सोच, उसका चिन्तन सब कुछ युगीन सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में ही तय होते हैं और व्यक्ति की यह सोच ही उस युग को अभिव्यक्ति भी देती है।

अल्बेयर कामू (1913-60) का चिन्तन उनके युगीन संदर्भों की अभिव्यक्ति है। दो विश्व युद्धों के साथ बढ़ता अल्बेयर कामू का चिन्तन उनके जीवन और तत्कालीन युग की जटिलता का व्यापक चित्रण करता है। इसके साथ ही यह भी कि यह चिन्तन मात्र युग के चित्रण से ही संतुष्ट नहीं होता, बल्कि समाधान भी ढूंढने का प्रयास करता है। इसी प्रयास का साक्ष्य बनता है कामू का चिनतन जहाँ जीवन के प्रति बनी उनकी आस्था तमाम त्रासदियों के बावजूद खत्म नहीं होती।

'द मिथ ऑफ सिसिफस' नामक अपनी कृति में कामू तत्कालीन त्रासदियों से गुजरते हुए जगत की 'अयुक्तता' का एहसास करते हैं जहाँ संकट और भ्रम की स्थिति लगातार बनी रहती है। जहाँ व्यक्ति की संवेदनशीलता सुखी होनी चाहती है किन्तु हो नहीं पाती। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति का हृदय इस हृदयहीन जगत के प्रति विद्रोह तो करता ही है, इस स्रष्टा के प्रति भी आक्रोश रखने लगता है-जिसने इस कठोर जगत की रचना की। अतः जगत और स्रष्टा के प्रति आक्रोशित यह व्यक्ति किसी भी दशा में ईश्वर के प्रति शरणागत नहीं हो सकता। उसे किसी के सहारे की भी आवश्यकता नहीं है। जाहिर है! यहाँ यह आक्रोशित व्यक्ति के आक्रोश के पीछे उसका अपने में पूर्ण विश्वास पूर्ण पारदर्शिता के साथ झलकने के लिए बेताब है। कामू यहीं किर्केगार्ड जैसे अस्त्विवादियों से पृथक हो जाते हैं जो हृदय की गहराइयों में ही दिव्य प्रकाश ढूंढने की चेष्टा के साथ उसी से भावात्मक संबंध स्थापित करने की बात करते हैं। किर्केगार्ड के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए कामू आस्था का सहारा लेते आस्थावान व्यक्ति की जीवन-शैली

को 'दार्शनिक आत्महत्या' की संज्ञा देते हुए जीवन की अयुक्तता का अपने सहारे ही सामना करने वाले व्यक्तित्व की स्थापना करते हैं। वे मानते हैं कि यह अयुक्तता ही है जिसने मनुष्य को उसकी शक्ति का एहसास कराया है और अयुक्त से लड़ने को भी प्रेरित किया है।

'दार्शनिक आत्महत्या' के इस विकल्प के बाद कामू 'भौतिक आत्महत्या' का विकल्प भी देते हैं, जो प्रायः जगत की अयुक्तता का सामना करने के क्रम में निराशा का परिणाम होता है। व्यक्ति द्वारा अपने को असहाय महसूस करने की दशा में उठाया गया आत्महत्या का कदम जगत की अयुक्तता की पुष्टि करता है। जबकि अयुक्तता की पुष्टि करने के बजाय व्यक्ति का अपने ऊपर विश्वास और उससे उपजा विद्रोह जो इस अयुक्त जगत से लड़ेगा-कामू द्वारा स्वीकृत है। उनका मानना है कि यदि स्वयं पर आस्था है तो मात्र इसीलिए जीवन को छोड़ा नहीं जाना चाहिए जिसमें कष्ट एवं यातनाएं हैं। बल्कि इन त्रासदियों के साथ जूझ कर ही हम अपनी शक्ति का एहसास कर पाते हैं। अतः इनसे जूझते हुए लगातार जिए जाने की ओर कार्य करना चाहिए।

जगत की यह अयुक्ततायें प्रत्यक्ष रूप से आने के साथ अप्रत्यक्ष रूप से भी आती हैं। जिस प्रकार जिए जाने के क्रम में प्रत्यक्ष रूप से हमें नए-नए संकटों का सामना करना होता है; उसी प्रकार मात्र एक ही तरह की जीवन-शैली में अक्सर होने वाली ऊब, घुटन, उदासी इस अयुक्तता से हमारा सामना, कराती है। यह ऊब, घुटन, उदासी एकदम से हमें अपने ही वातावरण में अजनबी बना देती है। हम जीवन जीना चाहते हैं पर लगने लगता है कि समय आगे बढ़ता जा रहा है और हमारी प्राप्त सभी उपलब्धियां हमारे हाथों से फिसलती जा रही हैं। हम जिन प्रियजनों, अपनों के साथ संतुष्ट थे, वे सभी एक दिन चले जाएंगे। हम स्वयं भी लगातार मृत्यु की ही तरफ बढ़ते जा रहे हैं।

-किन्तु पुनः कामू जगत के इस अयुक्त रूप का सामना करने की बात को स्वीकार करते हैं और आत्महत्या जैसे विकल्प को अस्वीकार कर देते हैं। यहाँ कामू जगत की इस अयुक्तता की एक प्रकार से पक्षधरता भी करते हैं क्योंकि मनुष्य की परिमितता का एहसास वह इसी का सामना करने से कर पाता है। इसी एहसास के साथ वह विद्रोह कर पाता है, जो इसका अपने पर विश्वास का सूचक बनता है।

जगत की अयुक्तता के प्रति विद्रोह के बारे में कहते हुए कामू अपनी कृति 'द रेबेल' में कहते हैं कि विद्रोह वही कर सकता है जो पूर्णतः जागरूक, बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व और अपने ऊपर आस्था रखता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी किसी बात को मात्र इसीलिए स्वीकार नहीं करेगा कि उसे किसी व्यक्ति

विशेष, समाज विशेष, ईश्वर विशेष ने अपनाया है। बल्कि वह अपनी पूर्ण चेतना के साथ निर्णय लेगा। कामू मानते हैं कि विद्रोह करने का सामर्थ्य मानवीय व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण आयाम है।[1] यहाँ कामू योरोप के मनुष्यों की प्रशंसा करते हुए उन्हें तर्कसम्मत ठहराते हैं।

विद्रोही के इस रूप की चर्चा के क्रम में कामू विद्रोह के स्वर की बात करते हुए भावात्मक विरोध-जिसमें व्यक्ति यह बतला देना चाहता है कि उसके भी कुछ अधिकार हैं-की बात करता है। कामू यहाँ दास और स्वामी के उदाहरण से अपनी बात को समझाते हैं कि दास स्वामी की सभी बातों को मानता है। किन्तु इसी क्रम में सहसा उसे एहसास होता है कि उसने बहुत सब्र कर लिया है। इसके साथ ही वह अनुशासन की अतिशयता को नकारते हुए उसके प्रति बगावत करता है। व्यक्ति भी उसी प्रकार बगावत करता है और एकरसता से अपने को मुक्त करता है। यहाँ व्यक्ति की यह बगावत अपने में दूसरे व्यक्ति से ही बगावत है जोकि इस समाज का अंग है। यह बगावत व्यक्ति की उसी सोच से निकली है जिसमें वह जान पाया है कि उसके साथ न्याय नहीं हुआ है। इसके साथ ही यह्र भी कि यह बगावत व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से जुड़ी अपेक्षाओं को पुनः प्रत्यक्ष करती है और इस प्रकार पुनः जीवन की सार्थकता को स्थापित करने की चेष्टा करती है।

यहाँ दास के आक्रोश में, बगावत के स्वर में, जो मूल भाव व्यक्त होना चाहता है वह यह है कि उसे सम्मान से जीने का अधिकार है। यानी उसके सम्मान की अवहेलना का अधिकार किसी को नहीं है। ईश्वर को भी नहीं। व्यक्ति यहाँ समझता है कि ईश्वर के प्रति यह बगावत ईश्वर नहीं है को सूचित नहीं करती, बल्कि ईश्वर है को पुष्ट करती है परन्तु इसके साथ ही ईश्वर के अतिक्रामी स्रष्टा रूप के प्रति विद्रोह भी करती है।

इस प्रकार ईश्वर की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए पुनः उसकी अतिक्रमिता के विरोध में कामू व्यक्ति का विद्रोही रूप देते हुए उसके अस्तित्व-प्रकाशन का संदर्भ विश्लेषित करते हैं।

विद्राह की परिकल्पना के साथ कामू इसे सृजनात्मक रूप देने के प्रयास में इसके विध्वंशकारी रूप की चर्चा करते हैं। उन्होंने अपने युग में क्रान्ति का जो रूप देखा, वह निश्चित रूप से अत्यंत भयावह था। कामू इसी कारण क्रान्ति के इस हिंसक स्वरूप से विद्रोही बनने की बात करते हैं। कामू का मानना है कि कला स्वयं में अत्यन्त सृजनात्मक है। कला अशाश्वत और प्रवाहमान को अपनी सृजन क्षमता द्वारा बाँध कर उन्हें अमरत्व प्रदान करती है-इस प्रकार कि मानवता के

1. 'Rebellion is one of man's essential dimensions' the Rebel, Penguin Modern Classics translated by Anthony Bower 1973, p.27

इतिहास में वे क्षण बार-बार लौट सकें और हमें कला के अप्रतिम सौन्दर्य सृजन के सामर्थ्य का एहसास कर सकें। पर जिन क्षणों को वह इस प्रकार जीवन्त बताती हैं वे उसके सृजन-कौशल से अपने में अनगिनत क्षणों को अपने जैसे अथवा उससे संबद्ध स्वरों को, गतियों को एकता प्रदान करता है। कला का जीवन और उसकी सार्थकता दरअसल नानात्व में एकता को ढूंढ निकालने में ही है।

अतः कला का सृजनात्मक ज्ञान अपने रूप में विद्रोह की सृजनात्मक, कल्याणकारी पृष्ठभूमि तैयार करता है। हिंसा तो व्यक्ति द्वारा व्यक्ति में विश्वास को न बढ़ाते हुए व्यक्ति के मात्र स्वयं के अहं की तुष्टि को विस्तृत करती है। और विद्रोह की कामू की पूरी परिकल्पना ही ऐसे स्व के निर्माण से शुरू होती है, जिसमें एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता को बाधित न करे। इसी कारण कामू मूल्यों पर आधारित विद्रोह के स्वर को उठाते हैं, जो सभी मनुष्यों में स्वीकृत हो। समानता आधारित मूल्यों के तहत कामू कहते हैं कि आस-पास के अतिक्रमण भरी परिस्थितियों में तिल-तिल कर मरने से अच्छा है कातिल के हाथों एक बार ही समाप्त होने का दृढ़ निश्चय-जो निश्चय ही विद्रोह के उदात्त स्वरूप को खड़ा करता है। यह उसे एक ऐसी दीपशिखा में रूपांतरित कर देता है, जिससे सभी प्रेरणा ले सकते हैं और अपने जीवन को सार्थक बना सकते हैं।[1]

अंततः कामू का संपूर्ण चिन्तन अपने युग की जटिलताओं के बीच से गुजरने के साथ तैयार होता है, जो महान ज्याँ पॉल सार्त्र के विचारों से प्रभावित भी दिखता है। कामू की सोच अपने युगीन संदर्भों से निकलती हुई पूर्ववर्ती विचारधाराओं के विवेचन के साथ एक ऐसा विद्रोही मानव खड़ा करती है जो अस्तित्वपरक चिन्तन का सृजनकारी रूप स्थापित कर देता है और एक बार फिर कला को हिंसक क्रान्ति से बड़ा बना जाता है।

1. What was originally an obstinate resistance on the part of the rebel, becomes the rebel personified. The proceeds to put self respect abore everything else and proclaims that it is preferable to life itself. It becomes for him the supreme blessing so as a last resort he is willing to accept the final defeat, which is death, rather than be deprived of the last sacrament which he would call, for example, freedom. Ibid, pp.20-21

परिशिष्ट

नव्य-व्यक्ति-निष्ठवाद

आधुनिक नैतिक चिंतन के क्षेत्र में, जिस सिद्धांत की सर्वाधिक चर्चा है वह नव्य-व्यक्ति-निष्ठवाद है। इसके प्रमुख समर्थक ऐयर, कारनप, स्टीवेंसन, हेयर, नोवेल स्मिथ आदि हैं। इनमें से प्रत्येक ने, उक्त सिद्धांत को अपने ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, किंतु चिंतन की व्यक्तिगत विशेषताओं के बावजूद भी इन सभी के विचारों में पर्याप्त सादृश्य है। जहाँ तक नैतिक विचारों की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि का संबंध है, ये सभी तर्कीय प्रत्यक्षवाद[1] का समर्थन करते हैं अतएव उस पृष्ठभूमि के अनावरण का इस सिद्धांत के निरूपण में प्रमुख हाथ है।

नव्य-व्यक्ति-निष्ठवाद के समर्थकों में ऐयर का नाम प्रथम है। इनके पश्चात स्टीवेंसन तथा हेयर के नाम वर्तमान संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। इन तीन के विचारों की पृष्ठभूमि में सिद्धांत की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जायेगी। उक्त दृष्टि से यदि तीनों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि हेयर संवेगवाद[2] के रूप में व्यक्ति-निष्ठवाद का समर्थन करते हैं, स्टीवेंसन उनके दृष्टिकोण को विकसित करते हुए संशोधित संवेगात्मक सिद्धांत को और हेयर नियोजकवाद[3] का प्रतिपादन करते हैं। सिद्धांत के रूप में संवेगात्मक दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए, नियोजकवाद एक नूतन दृष्टिकोण के रूप में, हेयर द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, तीनों सिद्धांतों की व्यक्तिगत विशेषताओं के बावजूद भी उसके सैद्धांतिक विचारों में अपूर्व तादात्म्य है।

वे सभी सैद्धांतिक स्तर पर, तर्कीय प्रत्यक्षवाद का समर्थन करते हैं। यही कारण है कि निर्णयों के विषय में वे दो प्रकार के निर्णयों के अंतर को स्पष्ट स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'सार्थक निर्णय'[4] वे हैं, जो स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, अपनी प्रामाणिकता के लिए तथ्यात्मक जगत की अपेक्षा रखते हैं। वस्तु जगत के तथ्यों से, अन्य शब्दों में, ये निर्णय एक

---

1. Logical positivism.
2. Emotivism. 'संवेगात्मक सिद्धांत' का भी योग हुआ है।
3. Prescriptivism.
4. Significant judgment.

महत्वपूर्ण अर्थ में संबद्ध हैं। उनके समर्थन के वे एकाकी आधार हैं। किंतु निर्णयाभास[1] ठीक इसके विपरीत हैं। उक्त तथ्यों से उनका कोई संबंध नहीं होता और न ही, उन तथ्यों से उसकी प्रामाणिकता निर्धारित होती है। किंतु, जैसा कि निर्णयाभास शब्द से स्पष्ट विदित होता है, ये देखने में निर्णय ही प्रतीत होते हैं। आकार-विषयक यह समानता ही इनके विषय में, अनेक भ्रांतियों का कारण होती है और इन्हीं भ्रांतियों से मस्तिष्क को मुक्त करना तर्कीय प्रत्यक्षवाद का ध्येय है।

निर्णयाभास के अंतर्गत ही मूल-निर्णय[2] भी आते हैं। इन निर्णयों के विषय में अपनी पुस्तक 'Language, Truth & Logic' में विचार व्यक्त करते हुए ऐयर कहते हैं कि इन निर्णयों के विषय में प्रतिपादित सिद्धांत को दो दृष्टि से संतोष प्रदान करने वाला होना चाहिये। उसे स्वयं अपने में तो संगतिपूर्ण होना ही चाहिये साथ ही अनुभववादी सिद्धांत के सामान्य तथ्यों के भी अनुरूप होना चाहिये।[3]

अनुभववादी दृष्टिकोण के अनुरूप, इस सिद्धांत के अंतर्गत नैतिक-निर्णयों में उपस्थित 'नैतिक प्रतीक'[4] उन निर्णयों के ताथ्यिक अंतर्वस्तु[5] की वृद्धि में कुछ भी योग नहीं देते आग्डन तथा रिचर्ड के शब्दों में, इनका प्रतीकात्मक-कार्य[6] शून्यप्राय है। ये प्रतीक वस्तुओं अथवा विषयों के प्रति हमारी भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के सूचक चिह्न मात्र है। साथ ही वे श्रोता में अपने अनुरूप समान भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करने की शक्ति भी रखते हैं।

ऐयर के विचारों की प्रथम अभिव्यक्ति में प्रतीकों के विषय में इस द्वितीय सत्य का अभाव था। किंतु तत्पश्चात् उन्होंने संवेगात्मक शब्द के अंतर्गत इस ध्वनि[7] को भी सम्मिलित कर लिया था। ऐयर के विचारों का यह परिवर्तन निश्चय ही महत्वपूर्ण था और संवेगात्मक शब्द की प्रकृति के साथ भी अधिक संगतिपूर्ण था। बाद में स्टीवेंसन ने उक्त शब्द की इस ध्वनि को ही यथार्थ में महत्वपूर्ण माना है और इस दृष्टि से ऐयर के विचारों के साथ उनके विचार की एक महत्वपूर्ण अर्थ में सार्थकता भी स्थापित हो जाती है।

अपनी पुस्तक 'Language, Truth & Logic' में ऐयर कुछ नैतिक प्रतीकों

---

1. Psuedo-judgment.
2. Value-judgment.
3. "It has to be both consistent in itself and consistent with our general empiricist principles." Mary warnock, Ethics since 1900.
4. Ethical symbols.
5. Factual content.
6. Symbolic function.
7. Suggestibility.व्यंजनीयता शब्द का भी वर्तमान संदर्भ में प्रयोग किया जा सकता है। 'संसूच्यता' शब्द का प्रयोग मानविकी शब्दावली II में किया गया है किंतु 'संसूच्यता' की अपेक्षा 'ध्वनि' शब्द उचित और सरल प्रतीत होता है।

को आदेशवत् मानते हैं। 'कर्तव्य' एवं 'करणीयता'[1] दोनों का ही संबंध आदेशों से है, किंतु, कर्त्तव्य की अपेक्षा 'करणीयता' में आदेश की ध्वनि मंद प्रतीत होती है।

संवेगात्मक सिद्धांत के विकास एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से, ऐयर के विचार पर्याप्त महत्व रखते हैं। उनके विचारों की अभिव्यक्ति, जब उक्त पुस्तक में हुई तब अनेक लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा मानो ऐयर के विचारों के माध्यम से उस विषय से संबद्ध उनके निजी विचारों की ही अभिव्यक्ति हुई है। उनकी पुस्तक निश्चय ही विस्फोटक[2] सिद्ध हुई, और उसका स्वागत एक घोषणा पत्र[3] रूप में हुआ।

किंतु ऐयर के विचार इस विषय पर नितांत नवीन नहीं थे। उनके पूर्व अपनी पुस्तक 'The Meaning of Meaning' में रिचर्ड एवं आग्डन ने उक्त विषय पर ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे। 'शुभ' के विषय में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए तथा उससे संबद्ध भ्रांतियों की ओर दृष्टि आकर्षित करते हुए वे कहते हैं कि 'शुभ' निश्चित ही 'अविश्लेषणीय' स्वीकार किया है। उस शब्द का वस्तुतः कोई 'प्रतीकात्मक कार्य'[4] नहीं है। विपरीततः वह वस्तु विशेष के प्रति हमारी अभिवृत्तियों को अभिव्यक्त करने वाला तथा अन्य व्यक्तियों में समान अभिवृत्तियों को उत्पन्न करने वाला अथवा उन्हें विशेष प्रकार के कार्यों को करने के लिए प्रोत्साहित करने वाला संवेगात्मक चिह्न है।[5]

अपनी पुस्तक में ऐयर ने भी इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये हैं। नैतिक प्रतीकों के विषय में उनके निष्कर्ष नैतिक तथ्यों, विश्वासों एवं भाषा के क्षेत्र में प्रयुक्त उनके सामान्य अनुभववादी दृष्टिकोण के यौगिक परिणाम हैं। अतएव तर्कीय प्रत्यक्षवाद की स्वीकृति एवं अस्वीकृति पर ही उनके संवेगात्मक दृष्टिकोण की प्रामाणिकता, एक विशेष अर्थ में आधारित है। ब्लांशर्ड, रास, दोनों का ही यह स्पष्ट मत है और ऐयर के विचारों के मूल्यांकन में इन दोनों ने तर्कीय प्रत्यक्षवाद का ही अंततः मूल्यांकन किया है। यदि अन्य शब्दों में, तर्कीय प्रत्यक्षवाद सैद्धांतिक दृष्टि से सत्य है तो संवेगात्मक दृष्टिकोण भी अनिवार्यतः स्वीकार्य होना चाहिये। किंतु तर्कीय प्रत्यक्षवाद को स्वीकार करना इन दोनों के लिए संभव नहीं।

मेरी वारनक अपनी पुस्तक में उक्त विश्वास का खंडन करती हैं। उनकी

---

1. Ought के लिये 'कर्त्तव्यता' शब्द का प्रयोग माविकी शब्दावली II में किया गया है किंतु वर्तमान संदर्भ में 'करणीयता' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।
2. 'Explosive', Ethics Since 1900, Mary Warnock.
3. Manifesto.
4. Symbolic function
5. It has no "symbolic function." "It serves" on the contrary, "as an emotive sign expressing our attitude to this and perhaps evoking similar attiitudes in other persons, or inciting them to actions of one kind or another."

दृष्टि में सिद्धांत के, दोनों पक्षों को इस प्रकार एक-दूसरे से संबद्ध नहीं मानना चाहिये। संवेगात्मक सिद्धांत, स्वतः अपने में महत्वपूर्ण है और तर्कीय प्रत्यक्षवाद से पृथक् ही इसका मूल्यांकन करना चाहिये। वे कहती हैं कि ऐयर का भी इसके संबंध में कुछ ऐसा ही विचार है। अपनी पुस्तक के द्वितीय संस्करण में उन्होंने संवेगात्मक सिद्धांत के स्वतंत्र मूल्यांकन की बात उठायी है। उनकी दृष्टि में तर्कीय प्रत्यक्षवाद से उसे संबद्ध मानना और इस आधार पर ही उसकी प्रामाणिकता को निश्चित करना उचित नहीं।

इस प्रकार तर्कीय प्रत्यक्षवाद से स्वतंत्र मानते हुए, यदि सिद्धांत का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि ऐयर की इस प्रश्न पर दी हुई युक्तियों में और मूर द्वारा दी हुई युक्तियों में पर्याप्त साम्य है। मूर के अनुसार 'शुभ' शब्द 'विशिष्ट' एवं अपरिभाष्य है। जिन सिद्धांतों में इस तथ्य को अस्वीकार करते हुए 'शुभ' को परिभाषित करने की चेष्टा की है, उनके चिंतन में प्रकृतिवादी दोष[1] आ गया है। वे सभी सिद्धांत, जिनमें शुभ को सुख, आनंद, सदाचार एवं अन्य इसी प्रकार की किसी विशेषता के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की है, अनुचित है और उन सभी में प्राकृतिक दोष पाया जाता है क्योंकि उनमें स्पष्टतया उसके 'अ-परिभाष्य' स्वरूप की अवज्ञा मिलती है। वे कहते हैं कि कितनी भी सतर्कता से हम किसी वस्तु विशेष की प्रकृति का अनावरण क्यों न करें-प्रकृति के विस्तृत विश्लेषण के उपरांत भी उस वस्तु के विषय में एक प्रश्न शेष रह ही जाता है-क्या अमुक वस्तु 'शुभ' है ?

ऐयर भी मूर की भाँति 'शुभ' की अपरिभाष्यता को स्वीकार करते हैं। इस प्रश्न पर दोनों के विचारों में पर्याप्त साम्य है, किंतु इसके बावजूद भी, दोनों के विचारों के अंतर की अवज्ञा नहीं की जा सकती।[2] ऐयर के अनुसार 'शुभ' शब्द इसीलिए परिभाष्य नहीं कि जिस वस्तुगत विशेषता को वह व्यक्त करना चाहता है वह अग्राह्य है। विपरीततः 'शुभ' प्रतीक का प्रतीकात्मक कार्य ही शून्यप्राय है। जिस शब्द का वस्तु जगत से कोई संबंध ही नहीं उसको परिभाषित किया भी कैसे जाय ?

उस शब्द की प्रकृति फिर है क्या ? प्रत्युत्तर में ऐयर कहते हैं कि उसमें निश्चित ही संवेगात्मक अर्थ एवं ध्वनि है, यदि वर्तमान संदर्भ में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग इस सिद्धांत के अंतर्गत किया जा सकता है। इस 'ध्वनि' को अर्थ प्रदान करना (अर्थ के सामान्य अर्थ में) अथवा उसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने की

---

1. Naturalistic fallacy.
2. "Their differences are too vital to be ignored".

-Ethics Since 1900.

चेष्टा करना, दोनों ही संभव नहीं।

दोनों विचारकों के विचारों के अंतर को स्वीकार करते हुए तथा उसे स्पष्ट करते हुए 'मेरी वारनक' कहती हैं-

"उन दोनों के द्वारा प्रकृतिवाद की अस्वीकृति के रूपों में निकट सादृश्य होने के बावजूद उस अस्वीकृति के कारण नितांत भिन्न हैं। मूर की प्रमुख रुचि उन वस्तुओं की प्रस्तुति में है, जो स्वयं शुभ है—नीति-विज्ञान की भाषा में, उनकी रुचि एक पूर्व परीक्षण के रूप में ही है। वे शुभ से संबद्ध अन्य विचारों की भ्रांतियों का अनावरण इस हेतु करना चाहते हैं कि उसके द्वारा सत्य का प्रकाशन हो सके, और इस सत्य का संबंध शब्दों से न होकर यथार्थ नैतिक सत्य से है।"

पुनः इन दोनों के विचारों के अंतर को प्रस्तुत करते हुए वे कहती हैं-

"वे सभी दार्शनिक जो नीति-विज्ञान का कार्य भाषा-विश्लेषण को ही मानते हैं निश्चित ही मूर के अनुवर्ती नहीं हैं, चाहे वे अपने को वैसा ही क्यों न मानें। विपरीततः वे विशुद्ध तर्कीय प्रत्यक्षवाद की परंपरा में ही आते हैं।"[1]

वर्तमान प्रसंग में ऐयर की रूचि नैतिक प्रतीकों के अ-वर्णनात्मक पक्ष में ही है। ऐयर के संपूर्ण विचारों का जब हम अध्ययन करते हैं, तो वे हमें आंग्ल अनुभववादी परम्परा के प्रमुख समर्थक के रूप में ही दिखायी देते हैं। उनकी प्रमुख रुचि सार्थक वार्तालाप की विशेषताओं को व्यक्त करने में है। अतएव नैतिक प्रतीकों के अ-वर्णनात्मक पक्ष में उनकी रुचि गौण होने के कारण उससे संबद्ध विचारों को प्रस्तावना के रूप में प्रस्तुत करके ही वे अपने कार्य को संपन्न मान लेते हैं। यही कारण है, कि सार्थक वार्तालाप से भिन्न जो कुछ भी था वह उनकी दृष्टि में महत्वहीन था और नैतिक प्रतीकों की प्रकृति की प्रस्तुति के विषय में भी यह उतना ही सत्य था। उनके विचारों में उक्त विषय के प्रति, एक स्पष्ट अवज्ञा एवं तिरस्कार का भाव मिलता है, जिसके कारण नैतिक विचार, वार्तालाप एवं निर्णयों को वे विचाराभास, वार्तालापाभास एवं निर्णयाभास शब्द द्वारा व्यक्त करते

---

1. "Inspite of the close similarity in the actual form of their rejection of naturalism, even their purpose in rejecting it are wholly different. Moore's main concern is to state what are the things which are good in themselves. His interest in the language of ethics is simply preliminary to this. He needs to expose the mistake of others in their treatment of the concept of 'goodness' in order to expound the truth; and this truth is not primarily a truthe about words at all, but a genuinely ethical truth." पुनः "Those philosophers who conceive th business of ethics to be the analysis of language of morals are not following moore, though they may claim to be so, but they are on the other hand, in the true logical positivist tradition."

-Ethics Since 1900, p. 63.

हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ऐयर सार्थक-विचार एवं वार्तालाप की विशेषताओं को अभिव्यक्त करना चाहते थे जबकि मूर उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य में व्यस्त थे। उनकी मूल रुचि नीति-विषयक तथ्यों की विशेषताओं को प्रकाशित करने ही में थी, भाषा के स्वरूप के निरूपण में उनकी रुचि गौण ही थी। अतएव, दोनों सिद्धांतों के अंतर को सरलता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वह दृष्टिकोणों के मूल से संबद्ध अंतर था। ऐयर की दृष्टि से नैतिक निर्णय वैधता के क्षेत्र से पृथक् एवं बाह्य थे। यही कारण था कि उनके विषय में संगति-असंगति का प्रश्न उठाना अनुचित था। दो व्यक्तियों की भावनात्मक स्तर की प्रतिक्रियाएँ नितांत भिन्न और कभी-कभी पूर्ण विरोधी भी हो सकती हैं-किंतु उनमें से किसी को भी अ-प्राकृतिक कहना संभव नहीं। दोनों समान रूप से प्राकृतिक हैं-और उनके अपने स्तर पर पूर्ण संगति भी है। 'वैधता' का प्रत्यय बौद्धिक जगत का प्रत्यय है, अ-बौद्धिक अथवा निम्न-बौद्धिक स्तर पर उसका प्रयोग अनुचित है। नैतिक-निर्णयों का संबंध भी इसी द्वितीय स्तर से होने के कारण वैधता के प्रत्यय के अंतर्गत उन्हें लाया ही नहीं जा सकता।

निष्कर्षतः, इस सिद्धांत के अंतर्गत, मूल्य-विषयक निर्णय तथ्य-सूचक निर्णयों से भिन्न हैं और उन्हें समकक्षीय मानना उनके साथ अन्याय करना होगा। किंतु नीति-विज्ञान के क्षेत्र के प्रायः सभी पूर्व चिंतकों ने, इन निर्णयों की प्रस्तुति में भूल की है, जिससे मुक्त होना आवश्यक है। सिद्धांत नवीन तो था ही और इसीलिए आकर्षक भी। पाश्चात्य चिंतन के क्षेत्र में, व्यक्ति-निष्ठवाद का समर्थन इतनी स्पष्टता एवं विश्वास के साथ कभी नहीं हुआ था। इसीलिए इसका अपना महत्व भी है।

स्टीवेंसन

ऐयर के उपरांत, जब हम स्टीवेंसन की ओर अग्रसर होते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत विशेषताओं के बावजूद भी सिद्धांत के मूल तत्त्वों की सातत्यता बनी हुई है। स्टीवेंसन ऐयर के विचारों का अनुमोदन करते हैं और संवेगात्मक शब्द की प्रमुख ध्वनि में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता। किंतु नैतिक प्रतीकों की मूल ध्वनि में, जिस संशोधन की स्वीकृति ऐयर के पश्चाद्विचार में मिलती है, वही स्टीवेंसन को मान्य है। नैतिक प्रतीक भावनात्मक स्तर की प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति मात्र नहीं, वे अपने अनुरूप प्रतिक्रियाओं की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। वे अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं प्रत्युत् अपनी प्रभावोत्पादिता की दृष्टि से, प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करने की सामर्थ्य की दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण हैं।

पूर्व खंड में, स्पष्ट हो चुका है कि नैतिक प्रतीकों की यह ध्वनि ऐयर को भी मान्य थी। किंतु स्टीवेंसन के चिंतन में इसकी स्वीकृति मूल ध्वनि के रूप में ही हुई-यही उनके सिद्धांत की विशेषता थी। मेरी वारनक नैतिक-प्रतीकों में

उपस्थित ध्वनि के इस रूप को ही महत्वपूर्ण मानती हैं। उनकी दृष्टि में ऐयर की अपेक्षा स्टीवेंसन ने इस 'ध्वनि' की विशेषता के साथ अधिक न्याय किया है। 'संवेगात्मक' शब्द का अभिव्यक्त करने[1] की अपेक्षा 'उत्पन्न करने' से विशेष संबंध है। पुनः वे कहती हैं-यदि नैतिक प्रतीकों के स्वरूप का निकट से निरीक्षण किया जाय तो वे निश्चित ही भावनाओं की मात्र अभिव्यक्ति से भिन्न प्रतीत होंगे। अतएव "यह सर्वथा उचित एवं प्राकृतिक ही था कि सिद्धांत के विकास की अग्रिम स्थितियों के साथ उनके प्रथम साहचर्य क्रमशः क्षीण हो जाये चाहे ऐयर ने उनके बारे में कुछ भी क्यों न कहा हो"।[2]

स्टीवेंसन के विचारों की सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति, हमें उनके उन लेखों[3] में मिलती है, जो समय-समय पर 'Mind' में प्रकाशित हुए। इसके पश्चात अधिक विस्तृत एवं सुव्यवस्थित रूप से, उन्होंने अपने विचारों को 'Ethics and Language' पुस्तक में अभिव्यक्त किया। यह पुस्तक अनेक वर्षों तक इस सिद्धांत के समर्थकों के लिए, अत्यंत ही महत्वपूर्ण रही। किंतु, सरलता एवं स्पष्टता की दृष्टि से यह पुस्तक अधिक सफल न हो सकी, क्योंकि, यह पांडित्य प्रदर्शन के बोझ से बोझिल रही तथा प्रभावोत्पादिकता की दृष्टि से भी सफल न हो सकी।

ऐसा प्रतीत होता है कि "पद्धति के विषय में स्टीवेंसन अकस्मात ही अधिक सचेत हो उठे हैं और स्वयं अपनी ही कार्य विधि पर परावर्ती टीका टिप्पणी का इसमें बाहुल्य है। किंतु, इन सबसे अंतर्विषय के प्रतिपादन में (सिद्धांत के निरूपण में) कोई सहायता नहीं मिलती।"[4]

ऐयर की भाँति, स्टीवेंसन की भाषा एवं विचार की सादृशता आग्डन एवं रिचर्ड से है।

उन्होंने भी ह्यूम के विचारों से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की है, साथ ही उसमें तर्कीय प्रत्यक्षवाद के स्पष्ट प्रभाव के कारण, आधुनिकता की भी ध्वनि है।

समता की दृष्टि से स्टीवेंसन के विचारों का 'मूर' के विचारों से भी पर्याप्त

---

1. Evincing or expressing producing.
2. "It was very natural and perfectly right too that the first associations tended to drop off in the later developments of the theory whatever Ayer may have said about it."

   -Ethics Since 1900, p. 71.
3. (i) The Emotive Meaning of Ethical Terns vol. XLVI, 1937.
   (ii) Ethical Judgments and Avoidability & (iii) Penuasive Definitions, vol. XLVII, 1938.
4. It "seems to suffer from inflation and from a resulting failure of impact." It is as if Stevenson had become over self-conscious of methodology and there is a good deal of reflexive commenting upon his own procedures which add little or nothing to the actual ethical theory.

   -Ethics Since 1900, p. 75.

साम्य है। 'मूर' की भाँति वे भी 'प्रकृतिवाद' का खंडन करते हैं और अ-प्रकृतिवाद का समर्थन करते हैं। साथ ही एक के खंडन और दूसरे के समर्थन में, जो युक्ति उन्होंने दी है वह भी लगभग एक ही है। स्टीवेंसन की दृष्टि में भी 'शुभ' प्रतीक 'अपरिभाष्य' है। अन्य शब्दों में, उसकी अभिव्यक्ति आनुभविक विशेषताओं के माध्यम से नहीं हो सकती। पुनः वे यह भी कहते हैं कि पिछले इतिहास का यदि हम अध्ययन करें तो प्रायः सभी के सिद्धांत में हमें यह मूल भ्रांति मिलेगी। सभी ने शुभ की किसी-न-किसी रूप में परिभाषा प्रस्तुत की है और यही कारण है कि उनके चिंतन में प्रकृतिवादी दोष आ गया है।

उक्त मत के स्पष्टीकरण में कारण देते हुए वे कहते हैं कि किसी वस्तु की प्रकृति के आनुभविक विश्लेषण के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों के उपरांत भी उसकी 'शुभता' के विषय में प्रश्न उठाया जा सकता है। उसकी 'शुभता' अपरिभाष्य है। यह निश्चित है कि उसकी 'विशिष्टता' को आनुभविक परिभाषाओं में बाँधा नहीं जा सकता।

उसकी 'अग्राह्यता' का स्पष्टीकरण करते हुए स्टीवेंसन कहते हैं कि उसकी विशिष्ट 'अग्राह्यता' का कारण उसकी (अ-वर्णनात्मक) ध्वनि विषयक विशेषता है, उसके प्रतीतिकारिता[1] क्षमता से है। नैतिक प्रतीकों के प्रवर्तन सामर्थ्य को ऐसी भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता जिसका निर्माण, मूलतः आनुभविक ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए ही किया गया है। उनके विचार में नैतिक प्रतीक ठीक उसी अर्थ में अपरिभाष्य है, जिस अर्थ में वाह! वाह![2] आह! ओह! आदि अपरिभाष्य हैं। नैतिक प्रतीकों की ध्वनि तथा 'वर्णनात्मक पक्ष' से उसकी असंबद्धता के विषय में, विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :-

"एक वस्तु कितनी ही वैज्ञानिक विधि से विशेषताओं से संपन्न क्यों न हो उसके विषय में सदैव यह प्रश्न किया जा सकता है : क्या उन विशेषताओं से युक्त यह वस्तु अंततः 'शुभ' है?"

पुनः

"जब 'सी' कहता है 'अमुक वस्तु शुभ है, और 'डी' प्रतिरोध करते हुए कहता है 'नहीं, वह अशुभ है' तो स्पष्ट ही यह 'सुझाव' एवं 'विपरीत सुझाव' की स्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की अभिरुचियों को प्रभावित करने में प्रयत्नशील है।"[3]

---

1. Persuasiveness. प्रवर्तन शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
2. Hurrah!
3. "Whateve r scientifically knowable properties a thing may have, it is always open to question whether a thing having these (enumerated) qualities is good."
   "when' C' says 'This is good' and 'D' says 'No its bad', we have a case of suggestion and counter suggestion. Each man is trying to redirect the others interest."

नैतिक-निर्णय के विषय में भी, विचारों को स्पष्ट करते हुए स्टीवेंसन कहते हैं कि उनका प्रमुख उद्देश्य वस्तु विशेष के विषय में ज्ञान प्रदान करना नहीं है। उक्त निर्णय एक प्रकार के 'सामाजिक यंत्र' हैं[1] जो उस "सहकारी (सामूहिक) कार्य में प्रयुक्त होते हैं जिनमें हम परस्पर एक-दूसरे की अभिरुचियों के प्रति सामंजस्य स्थापना में प्रयत्नशील होते हैं।"[2]

जो कुछ भी अभी कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि स्टीवेंसन का सिद्धांत, हितों एवं अभिरुचियों से संबद्ध सिद्धांत है लेकिन प्राचीन रुचि सिद्धांतों से वह निश्चित ही महत्वपूर्ण अर्थ में भिन्न भी है।

स्टीवेंसन, उन अभिरुचियों की अपेक्षा, जिनका निर्माण हो चुका है उनमें विशेष रुचि लेते हैं जिनको अभी बनना है। उनके अनुसार नैतिक प्रतीकों का संबंध इन्हीं द्वितीय प्रकार की रुचियों से है और इनकी नैतिकता का निर्धारण, इसी विशेषता के आधार पर होता है कि वे कितनी मात्रा में इन्हें प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। नैतिक प्रतीकों की नैतिकता, अंततः उनकी प्रभावोत्पादिकता, उनमें उपस्थित वर्णनात्मक अंतर्विषय पर आश्रित नहीं। वह तो उनकी अग्राह्य, अ-वर्णनात्मक विशेष ध्वनि पर निर्भर करती है। किंतु, स्टीवेंसन का मत है कि नैतिक प्रतीकों के दोनों पक्ष नितांत असंबद्ध नहीं। वर्णनात्मक दोनों संबद्ध हैं किंतु वर्तमान प्रसंग में प्रथम द्वितीय का पोषक तत्व है और इसी रूप में ही महत्वपूर्ण है। अपने इस स्वरूप से पृथक् उसका कोई निजी महत्व नहीं; वह महत्व की दृष्टि से शून्य प्राय है।

अतएव, स्टीवेंसन पूर्व में प्रस्तावित सभी सिद्धांतों को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि, इन सभी ने नैतिक प्रतीकों के अपरिभाष्य स्वरूप की अवहेलना की है। विपरीततः, उन्हें आनुभविक विशेषताओं के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की है। परिणामस्वरूप उनके चिंतन में प्रकृतिवादी दोष आ गया है जिसके कारण वे सामान्य रूप से अस्वीकार्य हैं। वे परिणाम-निरपेक्ष नीति[3] को भी अस्वीकार करते हैं क्योंकि उक्त नीति ने अतींद्रिय नैतिक बोध की संभावना को स्वीकार किया है। उक्त नीति की इस धारणा के विरुद्ध स्टीवेंसन कहते हैं कि वस्तुगत नैतिक तथ्यों

---

1. Social instrument.
2. It is a kind of a 'social instrument' used in a "Coopeative enterprise in which we are mutually adjusting ourselves to the interest of others."
3. De-ontological ethics.

के अभाव में इस बोध की संभावना को स्वीकार ही कैसे किया जा सकता है ? इस संभावना की स्वीकृति नितांत काल्पनिक और निराधार है।

परिणाम निरपेक्ष आचार नीति की उक्त स्वीकृति के खंडन के साथ ही वे नैतिक प्रतीकों एवं नैतिक निर्णयों को 'वैधता' के, सार्थक वार्तालाप के क्षेत्र से बाहर ले आते हैं। उनके अनुसार नीति-विज्ञान का संबंध नैतिक-प्रतीकों के स्वरूप के प्रकाशन से उनकी अ-बौद्धिक प्रवर्तन सामर्थ्य[1] से है।

इन विचारों की अभिव्यक्ति उन्होंने अपने लेख 'Persuasive Definitions' तथा पुस्तक Ethics and Language' में की है। अपने लेख में अ-बौद्धिक प्रवर्तन के प्रत्यय को स्पष्ट करते हुए डेली लिखते हैं :

"उक्त प्रक्रिया संयुक्तिकीकरण[2] के सदृश ही है, किंतु इसे भिन्न, वह मिथ्या विश्वासों पर आधारित नहीं और न ही उसमें आत्म-प्रवंचना वर्तमान है।"[3]

नैतिक प्रवर्तन की तुलना, किन्हीं विशेषताओं के कारण 'प्रचार' एवं 'आलंकारिता' से भी की जा सकती है। किंतु, दोनों के अंतर की भी अवहेलना नहीं हो सकती। यह सत्य है कि 'नैतिक प्रवर्तन' के साथ किसी प्रकार के अपयश की बात नहीं उठती, जबकि उक्त दोनों के साथ यह बात उतनी ही स्वाभाविक है। विपरीततः यदि नैतिक प्रतीकों को प्रवर्तन विषयक ध्वनि से मुक्त कर दिया जाय तो इन तीनों का स्वरूप समान ही हो जायेगा। इनके वर्णनात्मक अंतर्विषय समान ही हैं। किंतु, इसके पश्चात स्टीवेंसन, ऐसा अनुभव करते हैं कि नैतिक प्रवर्तन तथा प्रचार में शत-प्रति-शत सादृश्य नहीं है। ऐसी स्थिति में, वे उसे एक विशेष प्रकार के प्रचार के रूप में प्रस्तुत करते हैं, किंतु उसकी विशेषता को वे शब्दबद्ध नहीं कर पाते।

दोनों की व्यक्तिगत विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए, डेली महोदय कहते हैं कि स्टीवेंसन को, इस प्रसंग में, नैतिक प्रतीकों के वर्णनात्मक अंतर्विषय के महत्व को, स्वीकार करना ही पड़ेगा। अपने लेख में, जिसका शीर्षक है 'दी इमोटिव मीनिंग ऑफ एथिकल टर्म्स, स्टीवेंसन नैतिक प्रवर्तन का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि नैतिक प्रतीक का प्रवर्तन सामर्थ्य "श्रोता का अपनी

---

1. Non-ethical persuasiveness.
2. Rationalisation.
3. "The process resembles 'rationalization' but unlike the latter, it does not involve self deception and does not depend on false beliefs". Morals As persuasion, philosophical Studies. Vol. XIII, 1964,p. 106.

अभिरुचियों पर ध्यान केंद्रित करने पर नहीं प्रत्युत् उस रूचि विशेष के विषय पर आधारित है।"[1]

अपनी पुस्तक में, नैतिक प्रतीकों के वर्णनात्मक अंतर्विषय को उन्होंने पर्याप्त महत्व दिया है। वे उनसे संबद्ध एक विशेष प्रकार के माडल का निर्माण करते हैं जिनमें आनुभविक विशेषताओं से इन नैतिक प्रतीकों का निश्चित संबंध दिखलाया गया है। ये प्रतीक उन विशेषताओं से भावात्मक रूप से संबद्ध हैं-इन विशेषताओं का प्रकाशन उसके माध्यम से होता है। किंतु, इसके पश्चात भी डैली कहते हैं कि अंततः स्टीवेंसन संवेगात्मक दृष्टिकोण के ही समर्थक हैं। वे उक्त संशोधन के उपरांत भी मानते हैं कि द्वितीय माडल में वर्णनात्मक अंतर्विषय की स्वीकृति द्वारा नियामक नीति के स्वरूप में कोई अनिवार्य अंतर नहीं आता'[2]।

वर्णनात्मक अंतर्विषय की पर्याप्त चर्चा के उपरांत भी उसके स्वरूप एवं महत्व में कोई परिवर्तन नहीं आता। नैतिक प्रतीकों का प्रमुख कार्य उनकी प्रवर्तन सामर्थ्य से संबद्ध है।

द्वितीय माडल के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए स्टीवेंसन कहते हैं :

"सामान्यतः यह शुभ है का अर्थ 'इसके पास XYZ विशेषताएँ अथवा संबंध हैं' ही होता है। किंतु 'शुभ' का प्रशंसनीय के अर्थ में एक संवेगात्मक अर्थ भी होता है जिसके माध्यम से वह वक्ता की स्वीकृति को व्यक्त करता है, साथ ही श्रोता में भी उसके अनुरूप अनुमोदन का भाव जागृत करने में सफल होता है।"

पुनः

"द्वितीय माडल द्वारा आचार नीति, न तो कम-अधिक विषयनिष्ठ ही हो पाती है और न ही कम-अधिक समृद्धिशाली ही हो पाती है........वर्णनात्मक अंतर्विषय की संवृद्धि द्वारा नैतिक निर्णयों का आनुभाविक एवं तार्किक पद्धतियों के आधार पर, परीक्षण संभव हो सकेगा और अब वे युक्ति एवं वैधता के सामान्य विचारों के अधीन लाये जा सकेंगे। किंतु, यह स्पष्ट हो जायेगा कि अंततः यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं और नैतिक सहमति की संभावना-असंभावना के प्रश्न को

---

1. The persuasiveness of an ethical symbol consists in centering "The hearers attention not on his interests but on the object of his interest." Ibid, p. 207.
2. Continues to be "an unrepentant emotivist" for, he says, the filling of descriptive content in the 2nd model, "end by making no essential difference to the nature of normative ethics." Ibid, p. 206.

प्रभावित नहीं करता।"[1]

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि स्टीवेंसन वर्णनात्मक पक्ष की स्वीकृति के बावजूद संवेगात्मक दृष्टिकोण के मूल तथ्यों का परित्याग नहीं करते। वर्णनात्मक पक्ष की स्वीकृति द्वारा नैतिक प्रतीकों की प्रकृति में कोई अंतर नहीं आता। वे मूलतः प्रवर्तन सामर्थ्य के कारण ही महत्वपूर्ण रहते हैं और 'प्रवर्तन' अपनी प्रकृति में अ-बौद्धिक ही है।

इस प्रश्न पर स्टीवेंसन, 'विटगेंस्टाइन' से प्रभावित प्रतीत होते हैं। विटगेंस्टाइन ही वह प्रथम चिंतक थे, जिन्होंने शब्दों के प्रवर्तन की चर्चा की थी, किंतु, इसके पश्चात भी नवीन अनुसंधान द्वारा उनकी दृष्टि धूमिल नहीं हुई थी। उनका स्पष्ट विचार था कि संवेगात्मक सिद्धांत का प्रत्युत्तर किसी बौद्धिक सिद्धांत में ही मिल सकता है।[2]

किंतु, स्टीवेंसन के सिद्धांत में, इस प्रकार की कोई गुंजाइश नहीं है। नैतिक प्रतीकों की जिस प्रकृति को वे स्वीकार कर लेते हैं, उसके आधार पर, नीति विषयक एक आत्म-निष्ठ दृष्टिकोण का ही समर्थन संभव है। अपने विचारों के अनुरूप, उनके नीति सिद्धांत से एक ही निष्कर्ष निकल सकता है-"नीतिज्ञ, जब 'न्याय' प्रत्यय के विषय में विचार व्यक्त करते हैं तब उनका अभिप्राय उनके अपने प्रत्यय से ही होता है-प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में बौद्धिक दर्शन से तात्पर्य उनका अपने दर्शन से है और अन्य सभी दर्शन अ-बौद्धिक हैं।"[3] अतएव, डेली के अनुसार स्टीवेंसन संशोधन के उपरांत भी, ऐयर की भाँति संवेगात्मक दृष्टिकोण के समर्थक हैं। प्राचीन व्यक्ति-निष्ठवाद से निश्चित ही ये भिन्न हैं क्योंकि इनसे पूर्व किसी भी समर्थक ने इतनी स्पष्टता के साथ नैतिक निर्णयों के

1. 'This is good' has the meaning of 'This has qualities or relations XYZ' except that 'good' has as well a laudatory emotive meaning which permits it to express the speaker's approval, and tends to evoke the approval, of the hearer."
   Ethics becomes neither richer nor poorer by the second pattern, & neither more nor less objective. With increased descriptive meaning, ethical judgments are open to a more direct use of empirical and logical methods and thus seemingly more amenable to the ordinary conserations of proof and validity. We shall see, however, that this is a wholly unimportant matter, without any results upon the possibility or impossibility of reaching ethical agreement."
   Ibid, p. 209.
2. Ibid, p. 100.
3. He seems to suggest "that moralists who speak of the true concept of justice are really meaning their concept of justice........It often seems as though for himself retional philosophy means his philosophy and any other is nonrational". Ibid, p. 100

वर्णनात्मक पक्ष के महत्व को अस्वीकार न किया था। इन्होंने उक्त पक्ष के महत्व को ही अस्वीकार नहीं किया, साथ ही वर्तमान प्रसंग में उसकी स्पष्ट अवज्ञा भी की है। नैतिक निर्णयों की, अंततः नैतिक प्रतीकों की विशेषता उनके संवेगात्मक अर्थ में है-ऐसा इन दोनों ने स्पष्ट ही कहा है। इसमें दो मत होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हेयर

हेयर के विचारों का जब हम अध्ययन करते हैं तब भी सिद्धांत की प्रमुख स्वीकृतियों की तारतम्यता कहीं भी नष्ट नहीं होती दिखायी देती। विचारों की दृष्टि से, हेयर भी तर्कीय प्रत्यक्षवाद की भूमिका के अंतर्गत ही व्यक्तिनिष्ठवाद के समर्थक हैं। ऐयर एवं स्टीवेंसन की भाँति वे भी प्रकृतिवाद का खंडन करते हैं और मूल्य-निर्णयों के आभासी स्वरूप का समर्थन करते हैं।

निष्कर्ष के प्रथम पक्ष की दृष्टि से तो ऐयर तथा स्टीवेंसन के विचारों से, उनके विचारों का सहज सातत्य स्थापित हो जाता है और इसी के कारण वे एक महत्वपूर्ण अर्थ में, मूर से भी संबद्धता स्थापित कर लेते हैं। किंतु, निष्कर्ष के द्वितीय पक्ष में, उनके विचारों की अपनी विशेष ध्वनि व्यंजित होती है, जो उन्हें उपरोक्त सभी से पृथक् करती है। जबकि मूर की रुचि नैतिक प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त वस्तु अथवा विशेषता विशेष में ही रहती है, ऐयर, स्टीवेंसन तथा हेयर उन प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त अ-वर्णनात्मक व्यंजनीयता के विश्लेषण को ही प्रथम और अंतिम महत्व देते हैं। उन प्रतीकों के माध्यम से वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ व्यक्त होती हैं अथवा उन प्रतीकों का तथ्यों से संबंध है। इन दोनों ही बातों का, उनके सिद्धांत में कोई महत्व नहीं। तर्कीय प्रत्यक्षवाद की भूमिका द्वारा नियंत्रित होने के कारण, मूर तथा उनके दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर है, जिसकी सरलता से अवहेलना नहीं की जा सकती।

नैतिक प्रतीकों की अ-वर्णनात्मक व्यंजनीयता में ही उनकी रुचि है और उसका ही विश्लेषण इन तीनों दृष्टिकोणों की विशेषता है। ऐयर एवं स्टीवेंसन के विचारों से हम परिचित हो चुके हैं। हेयर के दृष्टिकोण की विशेषता, इस खंड विशेष में प्रस्तुत की जायेगी।

हेयर को संवेगात्मक सिद्धांत के अंतर्गत रखना कुछ उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि उन्होंने स्वयं संवेगात्मक सिद्धांत की आलोचना की है। जी० वारनक ने उनके दृष्टिकोण को 'संवेगात्मक सिद्धांत के संशोधन'[1] के रूप में ही स्वीकार किया है। मेरी वारनक, भी इसी प्रकार संवेगात्मक सिद्धांत के अंतर्गत उन्हें प्रस्तुत करने में विशेष संकोच का अनुभव करती हैं। फिर भी उनकी दृष्टि में हेयर का दृष्टिकोण मूर की अपेक्षा

1. 'Amendment to emotivism'-Contemporary Moral Philosophy.

हेयर के अधिक निकट प्रतीत होता है। पुनः वे कहती हैं : निश्चित ही भावी पीढ़ी इन लेखकों का एक-दूसरे से पार्थक्य कायम न रख सकेगी।[1]

हेयर तथा संवेगात्मक सिद्धांत का अंतर नैतिक प्रतीकों की अ-वर्णनात्मक व्यंजनीयता से संबद्ध है। ऐयर के अनुसार, ये मानवीय भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के सूचक चिह्न मात्र हैं। अतएव, जिन प्रतिक्रियाओं को वे व्यंजित करते हैं तथा श्रोता में, जिन प्रतिक्रियाओं के उद्‌भव के ये निमित्त मात्र हैं, वे मूलतः अ-बौद्धिक ही हैं। स्टीवेंसन ने उपरोक्त कथन के द्वितीय पक्ष पर विशेष बल दिया है। यही कारण है कि उनके संशोधित संवेगवाद में नैतिक प्रतीकों का प्रवर्तन-सामर्थ्य ही अधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

इन सबसे पृथक् हेयर का मत है। उनके अनुसार, नैतिक प्रतीक न तो भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के सूचक-चिह्न मात्र हैं न ही वे श्रोता में उन प्रतिक्रियाओं की उत्पत्ति में निमित्त मात्र हैं, वे मूलतः निर्देशात्मक हैं।[2] मूल्य-प्रतीकों के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं :

"शुभ का मूल कार्य संस्तुति करना है-जब हम किसी वस्तु की संस्तुति अथवा तिरस्कार करते हैं, तो सदैव अपने अथवा अन्य लोगों के, तत्काल एवं भविष्य में होने वाले चुनाव को निर्देशित करने की दृष्टि से ही करते हैं।"[3]

अतएव, अपनी दोनों पुस्तकों[4] के माध्यम से हेयर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नैतिक भाषा नियोजक-भाषा[5] के अंतर्गत आने वाला एक उपवर्ग ही है। अन्य शब्दों में, "वह एक ऐसी भाषा है जिसका सृजन व्यक्तियों को उनके भावी कार्यों के लिए सुझाव देने के लिए ही हुआ है।"[6]

---

1. "It woaldn't be very fair to call this group as 'continuers of the work of Ayer and Stevenson.' They have far more in common with Ayer than with, for instance, More........Posterity will not distinguish these authors very carefully one from the other." Ethics Since 1900, PP. 4-85.
2. Prescriptive. नियामक, आदेशात्मक आदि शब्दों का भी प्रयोग वर्तमान संदर्भ में किया जा सकता है।
3. "The primary function of the word 'good' is to commend....when we commend or condemn anything it is always in order, atleast indirectly, to guide choices, our own or other peoples, now or in the future." Language of Morals, p. 127.
4. Language of Morals; Freedom and Reason.
5. Prescriptive Language; निर्देश, आदेश आदि शब्द का भी इस संदर्भ में प्रयोग हो सकता है।
6. It is a 'sub specie of prescriptive language-that is to say, language is particulary designed to suggest courses of action to people."
Ethics Since 1900, p. 89.

नैतिक प्रतीकों की व्यंजनीयता का स्पष्टीकरण करते हुए हेयर कहते हैं कि अपनी अ-वर्णनात्मक व्यंजनीयता के कारण ही ये नैतिक प्रतीक वस्तुतः नियामक होते हैं। नैतिक भाषा को नियोजक भाषा के रूप में, और नियोजक-भाषा के दो रूपों, को वे स्वीकार करते हैं। प्रथम के अंतर्गत स्पष्ट निर्देश आते हैं जिनमें कर्त्तव्यता, 'सद्, चाहिये' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है और द्वितीय के अंतर्गत वे निर्देश आते हैं जिनमें मूल्यांकन से संबद्ध 'शुभ' 'वांछनीय' आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

स्पष्ट है कि द्वितीय प्रकार के निर्देशों की अपेक्षा, प्रथम अधिक महत्वूपर्ण है। द्वितीय का तो गौण महत्व है और ये निर्देश अपने नियामक स्वरूप को प्रथम प्रकार के आदेशों से ही प्राप्त करते हैं। अन्य शब्दों में, इन्हें अपना नैतिक स्वरूप प्राप्त करने के लिए, प्रथम प्रकार के निर्देशों पर अनिवार्यतः आश्रित होना चाहिये।

उपरोक्त से स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक भाषा, यदि नियोजक भाषा के अंतर्गत एक उपवर्ग मात्र है तो उसे "अपरोक्ष रूप से निर्देशवत् होना चाहिये अथवा परोक्ष रूप से उन निर्देशों से अनिवार्यतः संबद्ध होना चाहिये।"[1]

ऐयर एवं स्टीवेंसन की अपेक्षा, हेयर के विचार स्वाभाविक एवं उचित प्रतीत होते हैं। 'मुझे स्थिति विशेष में क्या करना चाहिये' का स्वाभाविक उत्तर 'मैं प्रभावित होने की इच्छा रखता हूँ' न होकर 'मैं आदेश की कामना करता हूँ' ही हो सकता है।

यदि नैतिक संलाप मात्र नियामक ही है तो उसका एक ही उद्देश्य हो सकता है कि वह हमारे लिए जो उचित है उसके विषय में स्पष्ट निर्देश दें। किंतु, यह निश्चित है, वह वैसा करने के लिए, हमें बाध्य नहीं कर सकता। उन निर्देशों के प्रति हमारा दायित्व हमारी बाध्यता एक विशेष प्रकार की ही है। व्यवहार के स्तर पर, उन निर्देशों के अनुरूप कार्य करना हमारी अपनी स्वेच्छा पर ही निर्भर करता है।

पुनः नैतिक निर्देशों को पृथक् करते हुए, वे कहते हैं कि इनमें अनिवार्य सार्वभौमिकीकरण[2] की संभावना विद्यमान है। एक जैसी स्थिति में समान निर्देश ही दिये जाने चाहिये। इस विशेषता का अन्य निर्देशों में अभाव है। हेयर के संशोधित संवेगात्मक सिद्धांत की एक और विशेषता है। नैतिक प्रतीकों की व्यंजनीयता को, उन्होंने जिस रूप में स्वीकार किया है उसके द्वारा नैतिक निर्णय

1. Ethical language must of necessity be either 'directly imperative or logically related to an imperative.'

Ibid, p.90.

2. Universalization.

एवं संलाप पुनः बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश पा सके हैं-जहाँ से वस्तुतः वे निर्वासित हो चुके थे। 'आदेश' अथवा 'निर्देश' दे देना निश्चित ही एक बौद्धिक प्रक्रिया है और इस नाते वह बौद्धिक प्रतिमानों के अंतर्गत अनिवार्यतः आ जाता है। संवेगात्मक सिद्धांत के समर्थकों के विरुद्ध जो सामान्य आलोचना थी, वह नैतिक निर्णयों एवं संलापों के अ-बौद्धिक स्वरूप से ही संबद्ध थी। अतएव, नैतिक निर्णयों के बौद्धिक स्वरूप की घोषणा का निश्चित ही समीक्षकों द्वारा स्वागत होना था। किंतु जैसाकि वारनक उचित ही कहते हैं, हेयर के उक्त कथन द्वारा जिस 'लाभ' की अपेक्षा की गयी है, वह वस्तुतः मिथ्या ही है। अपने विचार वर्तमान 'प्रसंग' में व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"आपाततः इस दृष्टिकोण का एक विशेष लाभ है कि इसके द्वारा नैतिक विवाद एवं वार्तालाप एक अ-बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में नहीं प्रस्तुत हुआ है।"

पुनः

"निर्देश देना एक बौद्धिक प्रक्रिया है और स्वीकृत अथवा अस्वीकृत निर्देश अच्छा बुरा दोनों ही हो सकता है; यही नहीं, इन निर्देशों को देने में हमारे कारण अच्छे और बुरे दोनों ही हो सकते हैं...... किंतु यह ऐसा लाभ है जो अंततः भ्रामक ही है।"[1]

उन सभी युक्तियों को न प्रस्तुत करते हुए भी निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जिस 'लाभ' की अपेक्षा की थी वह महत्वूपर्ण होते हुए भी अंततः भ्रामक ही सिद्ध हुआ। सिद्धांत, नवीकरण के उपरांत भी, मूल तत्वों की दृष्टि से, अपने पिछले स्वरूप का समर्थन ही करता है।

इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि में, स्वीकृत तथ्यों को अनावृत करते हुए मेकग्राथ[2] कहते हैं कि ये तत्व मूलतः दो हैं :

1. प्रथम, कार्य विशेष का अनुमोदन-अननुमोदन संभाव्य चुनाव के विषय में ही संभव है।

2. द्वितीय, मूल्य-निर्णय भावी चुनाव को अपनी अवर्णनीय व्यंजनीयता के माध्यम से ही प्रभावित करते हैं।

---

1. It "Primafacie" has the considerable advantage of not representing moral discourse and debate as fundamentally non-rational."......... "To guide we observed, unlike to influence is essentially to engage in a rational activity, advice whether accepted or not, may be good or bad, I may have good or bad reasons for offering you the guidance I do...... but is an advantage which turns out to be illusory." Contemporary Moral Philosophy, G. Warnock, p. 42.
2. The Ethical Theory of R. M. Hare-Article 4, Philosophical Studies, Vol. XIII.

किंतु, जीवन के तथ्य, दोनों स्वीकृतियों में से किसी का भी समर्थन नहीं करते। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जहाँ नैतिक प्रतीकों का प्रयोग, उन वस्तुओं के लिए किया जाता है जिनके अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि, वे यथार्थ हैं। फेफड़ा और पिता को लिए 'अच्छा' शब्द प्रयोग में आता है, किंतु दोनों में से किसी की उत्पत्ति के विषय में निर्देश देने का प्रश्न ही नहीं उठता। किंतु, यदि उपरोक्त प्रथम स्वीकृति यथार्थ है तो नैतिक प्रतीकों का प्रयोग केवल उन्हीं स्थितियों में संभव है जहाँ वस्तुओं की उत्पत्ति हमारे संकल्प के माध्यम से होनी है। तथ्य ठीक इसके विपरीत हैं। पुनः यथार्थ जीवन में 'मूल्य' एवं 'चुनाव'-इन दो शब्दों के अंतर को हम स्वीकार करते हैं। 'मूल्य' उस विशेषता से संबद्ध है जिसका हमारे जीवन में स्थायी महत्व होता है, उस विशेषता की अभिव्यक्ति मानवीय संकल्प के माध्यम से हो सके अथवा नहीं, यह एक दूसरा ही प्रश्न है और निःसंदेह विशेष महत्व का नहीं।

किंतु 'चुनाव' का संबंध उस संभावना से है, जो व्यक्ति विशेष के मनोदैहिक व्यक्तित्व एवं उसके परिवेश की सीमाओं के भीतर ही यथार्थ हो सकती है। यह आवश्यक नहीं, कि वह एक ऐसी संभावना हो जो हमारे जीवन में सर्वाधिक महत्व रखने वाली है।

अतएव, वे सभी मूल्य-निर्णय, जो किसी वस्तु विशेष के आंतरिक मूल्य से संबद्ध हैं जीवन में चुनी हुई यथार्थ संभावनाओं से अनिवार्यतः संबद्ध नहीं होते। किंतु, इस कारण वे कम महत्वपूर्ण भी नहीं। मेकग्राथ अपने निष्कर्ष व्यक्त करते हुए कहते हैं :

"मूल्यांकन में सदैव चुनाव से संबद्ध निर्देश नहीं होता। उसमें हम वस्तु-विशेष के स्वरूप पर ही विचार करते हैं, किंतु चुनाव में अथवा किसी को निर्देश देने में अनेक बाह्य तत्व भी सम्मिलित हो जाते हैं।[1]

द्वितीय स्वीकृति के संबंध में, वे कहते हैं कि, अपने निर्णयों में हम केवल नियामक-निर्देशों द्वारा ही प्रभावित नहीं होते। सैनिकों के लिए नक्शा और पर्यटक के लिए पुस्तक भी, निर्देश-रूप ही होता है और एक महत्वपूर्ण अर्थ में हम उनसे प्रभावित होते हैं। किंतु, ये दोनों प्रभाव एक-दूसरे से भिन्न हैं। हेयर ने इस द्वितीय प्रकार के निर्देशन की, अपने सिद्धांत के प्रतिपादन में, स्पष्ट अवहेलना की है जो वांछित नहीं। इस संबंध में, वे कहते हैं कि एक भिन्न दृष्टिकोण से, यदि तथ्यों को

---

1. "An evaluation does not, therefore, imply any sort of imperative about choosing. In evaluating we consider only the object itself. But in choosing or in guiding someone else's choice many extraneous factors have to be considered." Ibid, p. 42.

प्रस्तुत किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि निर्देशों का वस्तुतः हमारे चुनाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे तो हमारे चुनाव की "निर्णय की आवश्यकता को ही निरर्थक कर देते हैं।"[1]

अंत में मेकग्राथ हेयर के सिद्धांत की एक अन्य विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। हेयर के अनुसार 'चाहिये' का अभिप्राय 'कर सकना' है और 'कर सकने' का 'करने' से है। अतएव जिसे हम वांछनीय मानते हैं उसके विपरीत कार्य करना हमारे लिए संभव ही नहीं।

किंतु, जीवन के संकल्प विषयक तथ्यों का, यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट ही दो प्रकार के निर्णय हमें मिलेंगे। ये दोनों हेयर के निष्कर्ष के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ हैं।

'मुझे करना चाहिये, किंतु मैं असमर्थ हूँ और 'मुझे करना चाहिये किंतु करूँगा नहीं'-ये दोनों ही सामान्य जीवन से संबद्ध सार्थक निर्णय हैं। हेयर इन दोनों को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि ये 'अपवाद स्वरूप' हैं और इन्हें महत्व नहीं देना चाहिये। किंतु, स्पष्ट है कि सामान्य जीवन से संबद्ध इन वाक्यों की अवहेलना करना उचित नहीं। यह यथार्थ है कि प्रायः हम अपने विश्वासों के विरूद्ध कार्य करते हैं, जिसे हम वांछनीय मानते हैं व्यवहार उसके सर्वदा प्रतिकूल होता है।

निष्कर्ष स्वरूप, मेकग्राथ कहते हैं कि इन वाक्यों की अवहेलना के कारण हेयर का सिद्धांत एकांगी और असंतोषपूर्ण है।

पुनः वे कहते हैं, कि सिद्धांत द्वारा स्वीकृत सत्यों के आधार पर भी इसका खंडन संभव है। यदि नैतिक प्रतीक वस्तुतः निर्देशात्मक है तो उससे संबद्ध सत्य को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है कि हम प्रायः अपने विश्वासों के विरुद्ध कार्य करते हैं। अन्यथा, व्यवहार के विषय में निर्देश देना अनावश्यक है। 'कर्तव्यता', 'चाहिये' आदि शब्द तभी सार्थ हैं, जब मानवीय मनोविज्ञान के विषय में, हम यह स्वीकार करें कि संकल्प और बोध में असंगति है, हमारा व्यवहार सदैव हमारी 'कर्तव्यता' का अनुमोदन नहीं करता।

उपरोक्त तथ्य की स्पष्ट अवहेलना हेयर में मिलती है, जबकि वे कहते हैं कि 'कर्तव्यता' का अर्थ 'कर सकने' और 'कर सकने' का 'करने से' है।

एक दूसरी असंगति की ओर मेकग्राथ हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। अपनी दो पुस्तकों में हेयर, दो विभिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। प्रथम पुस्तक 'Language of Morals' में वे नैतिकता के निर्धारण का एकमात्र आधार व्यक्तिगत संकल्प उसके निर्णय को मानते हैं। किंतु दूसरी पुस्तक 'Freedom & Reason' में

---

1. "They remove the necessity of choice." Ibid, p. 43.

कांट की भाँति, वे नैतिकता के निर्धारक के रूप में 'सार्वभौमिकीकरण' की संभावना को मानते हैं। उनके मत में, इस द्वितीय पुस्तक के अनुसार, वे ही निर्देश नैतिक हो सकते हैं जो समान स्थितियों में सर्वदा दिये जा सकें।

किंतु, उपरोक्त कथन के समर्थन में, हेयर द्वारा जो युक्ति दी गयी है, वह स्वीकार्य नहीं। सार्वभौमिकीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि उसका आधार नैतिक प्रतीकों का वर्णनात्मक अंतर्विषय ही है, जबकि अपने सिद्धांत में हेयर नैतिकता के प्रश्रय के रूप में, नैतिक प्रतीकों की अवर्णनात्मक व्यंजनीयता को ही मानते हैं।

अतएव, यह कहा जा सकता है कि, सार्वभौमिकीकरण की संभावना की स्वीकृति निश्चित ही भ्रामक है। मेकग्राथ पुनः कहते हैं, यदि हेयर के विचारों में जो असंगति विद्यमान है, उसकी उपेक्षा करते हुए सार्वभौमिकीकरण को नैतिकता के निर्धारक के रूप में मान भी लिया जाय तो भी क्या उपरोक्त कथन पर्याप्त है? अनैतिक निर्देशों का भी तो, सार्वभौमिकीकरण संभव है। निष्कर्षतः वे कहते हैं : नीवन तथ्यों को सिद्धांत में समाविष्ट करने के बावजूद भी हेयर अंततः व्यक्तिनिष्ठवाद के समर्थक हैं। संशोधन के उपरांत भी व्यक्ति का अपना संकल्प ही, निर्देशों की नैतिकता का महत्वपूर्ण अर्थ में निर्धारक है।

वारनक भी व्यक्तिनिष्ठवाद के इस स्वरूप पर विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि उक्त दृष्टिकोण एकांगी है और वह जीवन के एक नितांत अमहत्वपूर्ण पक्ष से संबंधित है। किन्हीं स्थितियों में, नैतिक संलाप निश्चित ही निर्देशात्मक होता है, किंतु निर्देश से भिन्न उसके अन्य उद्देश्य[1] भी हो सकते हैं।

सिद्धांत के साथ, न्याय व्यवहृत की दृष्टि से वे कहते हैं कि, संभवतः वर्तमान प्रसंग में हेयर का तात्पर्य एक विशेष प्रकार के संलाप से ही है। यही कारण है कि, इसमें अन्य तथ्यों की स्पष्ट अवहेलना हुई है। इस संकुचित अर्थ में उनका सिद्धांत उचित ही है; किंतु, अपने प्रतिपादित सिद्धांत की सीमाओं से संभवतः वे स्वयं अनभिज्ञ थे। यही कारण है, कि इस सिद्धांत को व्यापक रूप देने की उनके द्वारा चेष्टा हुई है और इस प्रयास के कारण, उनके विचार में जो असंगति आ गयी है, उसकी ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया।

अपने द्वितीय संस्करण में, यह संशोधित सिद्धांत किंचित उचित प्रतीत होता है। श्रोता एवं वक्ता दोनों ही दृष्टि से नैतिक वार्तालाप एवं व्यवहार में एक विशेष सामंजस्य होता है, किंतु, हेयर केवल उनके संबंध की निकटता का समर्थन नहीं करते बल्कि संबंध के स्वरूप का स्पष्टीकरण[2] भी करते हैं। स्पष्टीकरण में

---

1. Exhorting, imploring, condemning, resolving, confessing etc.
2. G. Warnock, Contemporary Philosophy, p. 37.

वे नैतिक आदेशों को निर्देश-माडल के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका यह प्रयोग अनुचित ही नहीं अनर्थपूर्ण है।[1]

नैतिक निर्णय प्रत्यक्ष रूप से, सदैव निर्देशात्मक नहीं होता। वह निर्देशों से, परोक्ष रूप से ही संबंधित होता है और इसी अप्रत्यक्ष अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि नैतिक वार्तालाप व्यवहार के विषय में निर्देश देने वाला होता है।[2]

शब्द एवं व्यवहार के परस्पर संबंध की जो व्याख्या हेयर में मिलती है वह 'सरलीकरण[3] के दोष से दूषित है, क्योंकि संबंध की व्याख्या एक दूसरे प्रकार से भी हो सकती है। अपने निष्कर्ष को घ्यक्त करते हुए वारनक कहते हैं : मात्र इस तथ्य से, कि मनुष्य का व्यवहार विशेष रूप से उसके नैतिक नियमों में व्यक्त होता है, ये निष्कर्ष नहीं निकलता कि उन नियमों को मानक होना ही चाहिये। वे हमारी अभिरुचियो, स्वीकृतियों, आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों से भी संबंधित हो सकते हैं और इसी प्रकार जीवन के मूल्यों, आदर्शों, संकल्पों एवं विश्वासों आदि से भी कई अन्य प्रकार से संबंधित हो सकते हैं।'[4]

अतएव, यह कहा जा सकता है कि उक्त संबंध को किसी एक माडल के आधार पर प्रस्तुत करना वांछनीय नहीं। इन विभिन्न प्रकार के माडल के विषय में यह प्रश्न उठाना कि इनमें से कौन-सा उचित है अथवा उसके निकटतम है, निःसंदेह ही भ्रामक है।[5] सुविज्ञ समीक्षक कहते हैं कि तथ्य तो यह है कि वह इन सभी रूपों में व्यक्त हो रहा है और इनसे पृथक् भी अनेक रूपों की कल्पना की जा सकती है जिनके अंतर्गत इनमें से कुछ को रखा जा सकता है। अतएव, इतनी अधिक विविधता को, किसी एक माडल के अंतर्गत प्रस्तुत करने का तात्पर्य, तथ्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करना है और ऐसा करने से प्रश्न के हल की समस्या के विषम हो जाने की ही संभावना अधिक है।[6]

नव्य-व्यक्तिनिष्ठवाद के विषय में, वारनक एवं मेकग्राथ ने जो कुछ भी कहा है, उसकी समीक्षा करना वर्तमान संदर्भ में आवश्यक नहीं। किंतु, उपरोक्त

1. 'The seductive influence of imperative model is disastrous.' Ibid, p. 37.
2. 'It entails an imperative.' Ibid, p. 38.
3. Oversimplification "the actual relations will be widely diverse and not to be summed up in any single formula whatever." Ibid, p. 40.
4. Ibid, p. 39.
5. "It seems a considerable disservice to obscure that diversity beneath the appearance of a single, rether simple, monolithic doctrine." Ibid, p. 42.
6. It is a mistake "to raise the question which of these ways is exemplified, or even most nearly exemplified, in moral discourse. For the fact is that they all are, and so a great many more." Ibid, p. 40.

खंड से, इतना तो स्पष्ट हो गया है कि यह सिद्धांत कई कारणों से उचित नहीं। वारनक महोदय कहते हैं, इसके उद्देश्य को पुनः एक संकुचित दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित किया जाय तो संभवतः अपने सीमित उद्देश्य की दृष्टि से यह कुछ उचित प्रतीत हो। किंतु अपने इस नवीन रूप में, यह जीवन के नैतिक तथ्यों के यथार्थ निरूपण में समर्थ हो सकेगा, इसमें संदेह है। और जो सिद्धांत जीवन के नैतिक तथ्यों के साथ न्याय न कर सके, उसे एक नैतिक सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यह सिद्धांत जिन माडलों को, अपनी व्याख्या में केंद्रीय मानता है, उनका जीवन की व्याख्या में सीमित महत्व ही हो सकता है। इससे अधिक उनसे आशा करना व्यर्थ है। नैतिक प्रतीक वस्तुतः न तो मात्र भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के सूचक चिह्न हैं और न ही वे श्रोता में अपने अनुरूप प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं। वे नियोजक भी नहीं हो सकते, जैसा हेयर ने स्वीकार किया है। संदर्भ विशेष में वे ये सभी कार्य कर सकते हैं, किंतु इससे भिन्न भी इनका अपना स्वरूप है जिनकी इस सिद्धांत में स्पष्ट अवहेलना मिलती है।

वारनक एवं मेकग्राथ ने इस विषय पर जो कुछ कहा है उसकी पुनरावृति अनावश्यक है। यहाँ पर तो यही कहना पर्याप्त होगा कि कोई भी सिद्धांत जो जीवन के सरलतम नैतिक तथ्यों के विषय में न्याय नहीं कर पाता उसे नैतिक सिद्धांतों के अंतर्गत स्थान मिलना संभव नहीं। नैतिक सिद्धांत को, अपने विषय से संबद्ध तथ्यों को, सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना चाहिये; उन्हें एक नवीन दृष्टि प्रदान करना चाहिये ताकि उनमें जो असंगतियाँ दृष्टिगत होती हैं वे स्वयमेव दूर हो सकें। यदि कोई सिद्धांत ऐसा करने में, अपने को असमर्थ पाता है तो आवश्यक है कि उसमें संशोधन किया जाय, ताकि उस संशोधन द्वारा वह उन तथ्यों के साथ समायोजित होने में सफल हो सके।

कुछ इस प्रकार के संशोधन सिद्धांत के विभिन्न समर्थकों के विचारों में ही मिलते हैं लेकिन वे पर्याप्त नहीं हैं। सिद्धांत की सामान्य पृष्ठभूमि की सीमा, उन सुझावों की सीमा को भी निर्धारित करती है। कुछ संशोधन समीक्षकों द्वारा भी प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे इतना तो स्पष्ट हो गया है कि इस सिद्धांत ने नीति-अनीति विषयक सामान्य सत्यों की भी अवहेलना की है, उनके साथ न्याय करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

नैतिक प्रतीक मूल्यांकन से संबद्ध हैं। किंतु इन प्रतीकों के इस पक्ष को, इस सिद्धांत ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। जैसाकि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है, ये प्रतीक मात्र व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के सूचक चिह्न हैं। नैतिक प्रतीक प्रतिक्रियाओं के सूचक चिह्न किन्हीं विशेष संदर्भों में ही हो सकते हैं, अन्य

संदर्भों में, और नीति विज्ञान की दृष्टि से ये ही संदर्भ महत्वपूर्ण हैं, ये मूल्यांकन की क्रिया को अभिव्यक्त करते हैं। और, इस क्रिया का सीधा संबंध उन प्रतिमानों से है जिनके नियंत्रण को, जिनके प्रभुत्व को, हम नित्य प्रति के जीवन में स्वीकार करते हैं और जिसके स्वरूप को स्पष्टीकरण का दायित्व नीति-विज्ञान का है।

ये 'प्रतिमान' स्पष्टतः वैयक्तिक नहीं हैं। ये वस्तुनिष्ठ हैं क्योंकि ये हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं, मनोवृतियों एवं प्रतिक्रियाओं पर आधारित नही हैं। किंतु एक अन्य अर्थ में ये वैयक्तिक भी हैं क्योंकि किसी व्यक्ति विशेष की चेतना के माध्यम से ही, इन्हें यथार्थता मिलती है। इस प्रश्न पर विचार व्यक्त करते हुए हार्टमन कहते हैं कि मानवीय चेतना के माध्यम से ही, जीवन के मूल्य स्वीकृत और अभिव्यक्त होते हैं।

हार्टमन निम्न मानवीय एवं मानवीय, दो प्रकार के जीवन की चर्चा करते हैं। इनमें से प्रथम को तो, इन मूल्यों का बोध ही नहीं होता। मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील होने का अथवा उसकी अभिव्यक्ति से_संबद्ध प्रयासों को सहयोग देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वह जीवन का एक ऐसा क्षेत्र है, जो मूल्यों के प्रभाव से, उसके अवतरण की संभावना से अछूता है। किंतु, जीवन के मानवीय स्वरूप की तो यह विशेषता है कि न केवल उसे उन मूल्यों का बोध होता है-वह उनके अवतरण के लिए प्रयत्नशील ही नहीं होता प्रत्युत् अपने को अवतरण हेतु समर्पित कर देता है। मानवीय चेतना, अन्य शब्दों में, एक ऐसे दायित्व से बोझिल चेतना है जिसके संपन्न होने में ही उसे अपनी पूर्णता की उपलब्धि होती है; अंततः वह एक ऐसे भविष्य के सृजन में प्रयत्नशील चेतना है जिसकी कल्पना निम्नस्तरीय चेतना के लिए संभव ही नहीं।

वर्तमान प्रश्न पर हार्टमन के विचार नवीन नहीं हैं। विश्व के सभी अध्यात्मवादियों ने मनुष्य के इस दायित्व की किसी-न-किसी रूप में चर्चा की है। मनुष्य का व्यक्तित्व देखने में छोटा अवश्य प्रतीत होता है, किंतु तात्विक दृष्टि से उसका व्यक्तित्व अपने मनोदैहिक व्यक्तितव की सीमाओं के अतिक्रमण की सामर्थ्य भी रखता है।

उक्त निष्कर्ष का समर्थन एक विपरीत दृष्टिकोण के अन्तर्गत भी मिलता है। 'सार्त्र' अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं। वे मूल्यों की अनुभव निरपेक्ष व्यवस्था को तथा ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। जीवन के साथ प्राप्त होने वाले 'दायित्व' को पूरा करने के लिए मनुष्य को अपने आप पर, अपने निर्णयों पर, निर्भर रहना पड़ता है। यह विशाल विश्व उसके 'दायित्व' के प्रति, उसके निर्णयों के प्रति उदासीन है।

किंतु आमूल व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के बावजूद 'सार्त्र' यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का दायित्व स्वयं उसके अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित नहीं है। अपने

'दायित्व' के पूरा करने में वह समस्त मानवता के पथ को प्रशस्त करता है। मानवीय जीवन आणुविक नहीं उसमें अन्य इकाइयों को समाविष्ट करने की अपूर्व क्षमता भी विद्यमान है। उन इकाइयों से पृथक्, उसके अपने अस्तित्व का न तो अर्थ ही है और न महत्व ही।

सार्त्र के अनुसार मूल्यों का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है। उसकी अपनी चेतना की मध्यस्थता से ही ये मूल्य अभिव्यक्त हो पाते हैं किंतु, इस कारण वे नितांत आत्मगत नहीं। मूल्यों का अर्थ और महत्व उसकी निजी इकाई के सीमित दायरे की अनेक दिशाओं में अतिक्रमण करता हुआ दिखायी देता है।

इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी सार्त्र अध्यात्मवादियों की तरह इस स्वीकृति की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाली स्वीकृतियों को अनावृत नहीं करते, यही कारण है कि इस कथन के साथ कि "अपने निर्माण में मैं मानवता का निर्माण करता हूं[1]" सार्त्र पूर्व न्याय कर सकने में असमर्थ है।

सार्त्र का उक्त कथन तभी सार्थक हो सकता है जब वह उपरोक्त स्वीकृति के साथ मानवीय व्यक्तित्व की तात्विक पृष्ठभूमि को पुनः परिभाषित करें।

हमारा व्यवहार समस्त मानवता के लिए नियामक तभी हो सकता है जब हमारें व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तियों को, चेतन इकाइयों को समाविष्ट करने की क्षमता हो। अन्य शब्दों में, यह तभी संभव है, जब हम आंतरिक रूप से संयुक्त हों।

उपरोक्त सभी किंचित अप्रासंगिक प्रतीत होगा, किंतु विशेष अर्थ में आवश्यक भी है। अपने प्रमुख विषय की ओर, प्रत्यावर्तित होते हुए इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि नव्य-व्यक्तिनिष्ठवाद ने नैतिक प्रतीकों में विद्यमान महत्वपूर्ण तत्वों की अवहेलना की है। इसके अनुसार नैतिक प्रतीक नितांत व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के सूचक चिह्न मात्र हैं और प्रतीकों के अंतर्विषय से संबद्ध प्रश्न उठाना निरर्थक है। इस बात को पिछले खंड में सिद्धांत के प्रमुख समर्थकों के विचार के संदर्भ में प्रस्तुत किया जा चुका है।

पुनः, इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक प्रतीक, निर्णय एवं विमर्श चेतना के निस्संज्ञानात्मक, अ-बोधात्मक पक्ष से संबद्ध होने के कारण प्रामाणिकता की परिधि के बाहर के तथ्य हैं। स्थान-स्थान पर इन प्रतीकों के वर्णनात्मक पक्ष के विषय में, सिद्धांत के अंतर्गत जो कुछ भी कहा गया है वह उनकी मूल स्वीकृतियों के अधीन होने के कारण अपर्याप्त ही है और इसीलिए उनकी यथार्थ प्रकृति के अनावरण में उसी सीमा तक असमर्थ भी।

अपनी पुस्तक[1] में, अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्लांशर्ड कहते हैं कि

---

1. "In fashioning myself I fashion man."

Existentialism and Humanism.

नव्य-व्यक्तिनिष्ठवाद के समर्थक, भावात्मक नैतिक निर्णयों को अनुमोदन की भावनात्मक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में और विपरीत नैतिक निर्णयों को विपरीत प्रतिक्रिया को व्यंजित करने वाला मानते हैं। इसीलिए, इस सिद्धांत को 'Boo ! Hurrah !' सिद्धांत के नाम से भी प्रायः प्रस्तुत किया जाता हैं।

यह सिद्धांत ब्लांशर्ड की दृष्टि में निम्न कारणों से असंतोषपूर्ण है :

1. वह शुभ को वस्तु विशेष की आकस्मिक विशेषता के रूप में स्वीकार करता है।

2. वह उस पृष्ठभूमि की उपस्थिति को अस्वीकार करता है जिस पर अनुमोदन-अननुमोदन स्वयं आश्रित है।

3. वह नैतिक विचार एवं विमर्श को बौद्धिक विचार एवं विमर्श की परिधि से बाहर स्वीकार करता है।

अपने प्रथम कारण को स्पष्ट करते हुए, ब्लांशर्ड कहते हैं कि सिद्धांत एवं नैतिक तथ्यों के मध्य यदि चुनाव करना है तो निश्चित ही प्रथम की अपेक्षा द्वितीय को स्वीकार करना उचित होगा। सिद्धांत के अनुसार तो अतीत अथवा वर्तमान में घटित कोई भी घटना वस्तुतः अपने में न अच्छी और न बुरी। अच्छाई और बुराई, उसकी अपनी निजी विशेषता नहीं हैं, वह अच्छी और बुरी तब हो जाती है जब कोई दृष्टा अथवा भोक्ता उसके प्रति एक विशेष अनुमोदन अथवा अननुमोदन का भाव ग्रहण कर लेता है।

किंतु, यदि उपरोक्त कथन का निरीक्षण किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह एक ऐसी स्वीकृति है जिसका समर्थन तथ्यों के आधार पर संभव नहीं।

सुविज्ञ समीक्षक का कहना है, यदि किसी अनुभव की शुभता का समर्थन करते हुए, उसे किसी अकस्मात दृष्टा की आकस्मिक प्रतिक्रिया से संबद्ध अथवा उसे आश्रित मान लेते हैं तो निश्चित ही यह हमारे कथन का अभिप्राय नहीं है और यदि दृष्टा की जगह 'श्रोता' शब्द का प्रयोग किया जाय तो भी उपरोक्त कथन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आयेगा।

'श्रोता' शब्द के प्रयोग से उक्त कथन 'विश्लेषण' एवं 'मनोविज्ञान' दोनों ही दृष्टि से अपर्याप्त प्रतीत होता है। 'वह कितने आनंद एवं उल्लास का अनुभव कर रहा है' कथन का विश्लेषण की दृष्टि से अभिप्राय होना चाहिये, 'व्यक्ति विशेष, ज़ब अनुभूति को स्वयं दृष्टा बन जाता है तब उस क्षण-विशेष में ही वह अनुभूति सुखात्मक हो जाती है।' स्वयं अपने में, वह अनुभूति सुख एवं दुःख की दृष्टि से तटस्थ मूल्य रखने वाली है, किंतु स्पष्ट ही यह कथन इस विषय पर हमारी

1. Reason & Goodness.

सामान्य स्वीकृतियों से भिन्न ही नहीं, विपरीत है। हम सभी यह मानते हैं कि अनुभूति स्वयं अपने में दुःखात्मक अथवा सुखात्मक होती है चाहे उसके प्रति हमारा अथवा किसी अन्य का कोई भी दृष्टिकोण हो।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यह सिद्धांत उचित प्रतीत नहीं होता। जो व्यक्ति अपनी अनुभूति के विषय में यह बतलाना चाहता है कि वह कितनी सुखप्रद है निश्चित ही उस अनुभूति की विशेषता के बारे में ही हमें परिचित कराना चाहता है। उस व्यक्ति का यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता है कि अनुभूति स्वयं अपने में उक्त विशेषता से संपन्न न होते हुए भी जब सचेतन स्तर पर उसका हमें स्पष्ट बोध होता है तभी उस क्षण विशेष में वह उस गुण से संपन्न हो जाती है।

यह कथन अल्पदृष्टीय ही हो सकता है और इसीलिए अनुचित भी। मनोविज्ञान स्पष्ट कहता है कि व्यक्ति की भावनात्मक अनुभूतियाँ, सचेतन स्तर पर लाने की प्रक्रिया द्वारा ही अपने यथार्थ स्वरूप को नष्ट कर देती हैं। संवेग तथा भावनात्मक स्तर की प्रतिक्रियाओं के विषय में, यह शत-प्रति-शत सत्य है। अन्य अनुभूतियों के विषय में भी यह सत्य है। अतएव, निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि नैतिक जीवन से प्राप्त तथ्य और उनके विषय में हमारा सामान्य विश्वास, इस सिद्धांत के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए दिखायी नहीं देते।

द्वितीय कारण को स्पष्ट करते हुए ब्लांशर्ड कहते हैं, कि श्रोता अथवा दृष्टा की अनुमोदन-अननुमोदन की भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के आधार पर नैतिक निर्णयों के स्पष्टीकरण की चेष्टा इस सिद्धांत ने की है। किंतु उस पृष्ठभूमि में कार्य करने वाली स्वीकृतियों को इस सिद्धांत में कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। उक्त प्रतिक्रियाओं के रूप में, व्यंजित कारण का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। किंतु इस प्रश्न पर यह सिद्धांत मौन है।

अन्य शब्दों में, अनुमोदन-अननुमोदन की भावनाएँ स्वतः अपने में पर्याप्त नहीं हैं। ये प्रतिक्रियाएँ वस्तु विशेष की विशेषता से अनिवार्यतः संबद्ध होती हैं। उस विशेषता से ही अनंततः ये नियंत्रित होती हैं। यदि वस्तु-विशेष नैतिक गुण शून्य है, तो उसमें उक्त प्रतिक्रियाओं के प्रजनन की भी सामर्थ्य न होनी चाहिये। अतएव, नैतिक निर्णयों को तथा उनमें उपस्थित नैतिक प्रतीकों को, इन भावनात्मक प्रतिक्रियाओं से संबद्ध कर देना पर्याप्त नहीं। इन प्रतिक्रियाओं के कारण का भी स्पष्टीकरण अनिवार्य है, किंतु हेतु के प्रश्न पर यह सिद्धांत मौन नहीं है प्रत्युत् उसका स्पष्ट निराकरण करता है।

अंतिम कारण को स्पष्ट करते हुए ब्लांशर्ड कहते हैं, कि इस सिद्धांत ने नैतिक निर्णयों को निर्णय के क्षेत्र के अंतर्गत स्थान देने से इंकार किया है। नैतिक निर्णयों को ये निर्णयाभास मानते हैं। तथ्यात्मक जगत की परिधि में न

आने के कारण इनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। किंतु, हमारी सामान्य नैतिक बुद्धि, इन निष्कर्षों को स्वीकार करने में असमर्थ है। अतएव सुविज्ञ समीक्षक के मत में इस सिद्धांत को स्वीकार करना उचित नहीं। वर्तमान विषय पर ब्लांशर्ड के विचारों से असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। नैतिक विचार एवं विमर्श विषयीनिष्ठ नहीं, न ही वे बौद्धिक चिंतन की परिधि से बाहर की वस्तु हैं। किंतु ये दोनों स्वीकृतियाँ व्यक्तिनिष्ठवाद के लिए केंद्रीय हैं और इन दोनों का, हमारी सामान्य स्वीकृतियों के साथ सामंजस्य स्थापित करना संभव नहीं।

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि कोई भी नैतिक सिद्धांत, जो जीवन से संबद्ध, विश्वास के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ ही नहीं प्रत्युत् उसके विरुद्ध निष्कर्षों का समर्थन करता है अंततः उचित नहीं हो सकता। अतएव, नव्य-व्यक्तिनिष्ठवाद को अपनी मूल स्वीकृतियों को संशोधित करना ही पड़ेगा, संशोधित ही नहीं बल्कि उनमें आमूल परिवर्तन लाना ही पड़ेगा।

००

SUGGESTED READINGS

No.	Title	Author
1.	Short History of Ethics	Rogers
2.	Fundamentals of Ethics	urban
3.	A Modern Introduction to Philosophy	Edward and Pap
4.	Reason and Goodness	B. Blanshard
5.	Foundations of Ethics	Ross
6.	The Right and the Good	Ross
7.	Five Types of Ethical Theory	Broad
8.	Utilitarianism	J.S. Mill
9.	Science of Ethics	Leslie Stephen
10.	Principia Ethica	G. E. Moore
11.	Ethics	G. E. Moore
12.	Metaphysics of morals	Immanuel Kant
13.	Critique of practical Reason	Immanuel Kant
14.	Prolegomena to Ethics	T. H. Green
15.	Ethical Studies	F. H.Bradley
16.	Language, Truth and Logic	A. J. Ayer
17.	Language and Ethics	Stevenson
18.	Language of Morals	Hare

अंग्रेजी-हिंदी शब्द-सूची

A

Absolute	परम, निरपेक्ष
Anarchy	अराजकता
Apriori	अनुभव निरपेक्ष
Apriori principles	अनुभव निरपेक्ष सिद्धांत
Artifact	आविष्कृत तथ्य
Assertorial hypotheticals	निश्चयात्मक सापेक्ष

B

Basic equation	मूल समीकरण
Benevolence	लोकहितैषिता, परहितेच्छा जनहितैषिता

C

Categorical imperative	निरपेक्ष नियोग
Causality	कारणता
Chance	यदृच्छा, संयोग, आकस्मिक
Cognitive awareness	बोधात्मक चेतना
Cognitive consciousness	परिज्ञानशील, चेतना
Conscience	अंतर्विवेक, सदसद्विवेक, अंतःकरण
Contra causal freedom	कारणता विपरीत स्वातंत्र्य
Contra causal self	कारणता विपरीत आत्मा
Critical reflection	समीक्षात्मक विमर्श
Crystal	स्फटिक

D

De ontological ethics	परिणाम निरपेक्ष आचार नीति
Divine will	दिव्य संकल्प

E

Elemental interwovenness	मूल संबद्धता
Efficient cause	निमित्त कारण
Emotivism	संवेगवाद
Emotive theory	संवेग सिद्धांत, संवेगात्मक सिद्धांत
Ethical symbols	नैतिक प्रतीक
Ethics	नीति-विज्ञान, नीतिशास्त्र

F

Fallacy of circular reasoning — चक्रक दोष
Feeling self — संवेदनात्मक व्यक्तित्व
Final cause — प्रयोजन कारण, उद्देश्य कारण

G

Geometrical necessity — ज्यामितीय अनिवार्यता
Good will — शुभ संकल्प

H

Holy will — पावन संकल्प
Human consciousness — मानवीय चेतना

I

Infinite reality — अनंत सत्ता
Infinite principle — अनंत नियम
Infra-relational — निम्न-संबंधात्मक
Intrinsic value — अंतःस्थ मूल्य
Intuitionism — अंतःप्रज्ञावाद
Intuitive induction — अंतःप्रज्ञात्मक आगमन, अंतर्दृष्टीय आगमन
Intellectualistic apriorism — बुद्धिवादी प्रागनुभविकता
Inter personal correlativity — अन्योन्य वैयक्तिक संबद्धता
Invariable concomittance — अपरिवर्तनीय सहवर्तन, नियत साहचर्य
I-thou — अस्मत् और युष्मत्

M

Maxim — सूत्र, तत्वोक्ति
Metaphysical ethics — तत्वमीमांसीय नीति
Metaphysical theory — तत्वमीमांसीय सिद्धांत
Mataphysical I — तात्विक व्यक्तित्व
Mixed wholes — मिश्रित इकाइयाँ

N

Naturalistic fallacy — प्रकृतिवादी दोष
Negative anoment — निषेधात्मक तत्व
Nisus for whole — संपूर्ण की प्रेरणा
Non-empirical — अन-आनुभविक

Non-ethical persuasiveness — अ-बौद्धिक प्रवर्तन सामर्थ्य
Neo-subjectivism — नव्य-व्यक्तिनिष्ठवाद, नव्य विषयीनिष्ठवाद

P

Persuasiveness — प्रवर्तन, प्रतीतिकारिता
Phenomenal world — व्यावहारिक जगत
Prescriptivism — नियोजकवाद
Principle of felicity — सुख संबंधी सिद्धांत
Principle of equity — साम्या का सिद्धांत
Prima facie obligation — आपात आबंध
Prima facie duty — आपात क़र्तव्य
Primal feeling of value — मूल, मूल्यपरक भावना
Principle of suffcient reason — पर्याप्त कारणता का सिद्धांत
Principle of organic unity — आंगिक एकता का सिद्धांत
Pragmatic — व्यावहारिक
Problematical hypoth eticals — वैकल्पिक सापेक्ष
Prescriptive — निर्देशात्मक, आदेशात्मक, नियामक
Prescriptive language — नियोजक भाषा
Pre-relational — पूर्व संबंधात्मक
Psuedo concept — प्रत्यायाभास
Psuedo judgment — निर्णयाभास
Pure ego — विशुद्धात्मा
Postulates — अभ्युपगम, पूर्वमान्यता, पूर्वधारणा

R

Regulative — नियामक
Relational level — संबंधात्मक स्तर
Relative value — सापेक्ष मूल्य
Resultant obligation — यौगिक धर्म, परिणाम धर्म

S

Second order truths — द्वितीय स्तर के सत्य, गौण सत्य
Second order equation — गौण समीकरण
Self transcending unity — स्वातिक्रमणीय इकाई
Sensing — संवेदन

Sensibility — संवेदनात्मक व्यक्तित्व
Sentience — संवेदिता, सचेतनता
Sensibility — संवेनग्राहिता, संवेदन शक्ति
Social instrument — सामाजिक यंत्र
Standard — मानक
Supra-intellectual — अतिप्राज्ञ, अतिबौद्धिक
Suigeneris — स्ववर्गीय, स्वजातीय
Symbolic function — प्रतीकात्मक कार्य

T

Technical — प्राविधिक
Temperance — मिताचार, संयताचार, संयम
Transcendental principles — अनुभवातीत
Transcendental reflection — अतींद्रिय विमर्श
Transcendental reality — अनुभवातीत सत्ता
Transcendental unity of apperception — अनुभवातीत इकाई
Trans-empirical reality — अनुभवातीत सत्ता

U

Universalization — सार्वभौमिकीकरण
Universe of desire — इच्छा का संसार

V

Valuational — मूल्यात्मक
Valuational consciousness — मूल्यात्मक चेतना
Value judgment — मूल्य निर्णय
Virtue — सद्गुण